श्रीरामचरित मानसान्तर्गत

पंचगीता

श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र'

प्रकाशक :
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान
मथुरा-२८१००१

संस्करण :
प्रथम—१००० प्रतियाँ

प्रकाशन - तिथि :
दीपावली, संवत् २०४६ वि०
२५ अक्टूबर १९९२ ई०

मूल्य — रु० २५/-

मुद्रक :
मयूर प्रेस,
बद्रीनगर, दरेसी रोड, मथुरा-२८१००१
फोन — ४०४४६४

पंचगीता

१—लक्ष्मण-गीता
२—ऋषि-गीता
३—श्रीराम-गीता
४—नारी-गीता
५—सार्वभौम-गीता

लक्ष्मण-गीता

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥ अयो० ९१।४

कोई किसीको सुख-दुख देनेवाला नहीं। भाई, सभी (सुख-दुख) अपने ही किये हुए कर्मोंके फल-भोग हैं।

शृंगवेरपुरमें निषादराज गुहसे ये वचन श्रीलक्ष्मणजीने कहे हैं। श्रीलखनलाल जीवोंके परमाचार्य हैं। श्रीरामचरितमानसमें उपदेष्टाके रूपमें वे यहीं सम्मुख आते हैं। अतः उनका यह उपदेश विशेष रूपसे मनन करने योग्य है। यह उपदेश इसलिए भी अधिक महत्वका है कि जीवोंके परमाचार्यने इनका उपदेश निषादराजको दिया है। किसी उत्तम अधिकारी ऋषिमुनिको दिया गया यह उपदेश नहीं है। यह सामान्य अधिकारीको जिसकी श्रीराममें भक्ति है, दिया गया है। अतएव भगवान्-पर विश्वास करनेवाले सभी लोग इसके अधिकारी हैं और सभीके लिए यह परम पथका प्रदर्शक है।

भयउ बिषादु निषादहि भारी।
राम सीय महि सयन निहारी॥ अयो० ९१।२

इस विषादका बहुत कुछ रूप श्रीरामचरितमानसमें है। गुरु वशिष्ठ तक जिसका परिचय भरतलालको 'राम सखा' कह कर देते हैं, उस निषादराजने अपने हृदयसर्वस्व कौशल राजकुमारको श्रीजनकनन्दिनीके साथ भूमिपर जब कुश-साथरीपर पड़े देखा तो उसे कितनी व्यथा हुई होगी, कोई कैसे अनुमान कर सकता है।

कैकयनंदिनि मन्दमति, कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहि रघुनन्दन जानकिहि, सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ अयो० ९१

निषादपतिका आक्षेप केवल उनका ही नहीं था। जो सुनता और आज तक सुनता है, वही यही बात कहता है। इस आक्षेप एवं-मार्मिक विषादकी स्थितिमें ही श्रीलक्ष्मणजी की यह दिव्य ज्ञानधारा प्रवाहित हुई है।

बोले लखन मधुर मृदु बानी।
ग्यान बिराग भगति रस सानी॥ अयो० ९१।३

कह सकते हैं कि यह अर्घाली लक्ष्मण-गीताकी भूमिका और महात्म्य दोनों है। वाणी मधुर है और मृदु है। न तो आक्षेप करनेके लिये निषाद-राजको ही दोषी कहा गया है और न आक्षेपको स्वीकृति ही दी गयी है। किसीपर न रोष, न दोष। वाणीमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति-रस भरा हुआ है। वह ओत-प्रोत 'सानी' है इससे।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥ अयो० ९१।४

निषादराज गुहने माता कैकेयीको दोषी बताया। जबतक हृदयमें राग-द्वेष, रोष-मोह है, वह सत्यको ग्रहण नहीं कर पाता। सत्यका दर्शन तो स्थिर, निरपेक्ष, शान्त-चित्तमें ही होता है। श्रीरामके प्रति अनुराग होनेसे निषादराजका चित्त स्वभावतः निर्मल है। उसमें माता कैकेयीके प्रति जो क्षोभ आ गया है, बस पहिले उसीको दूर करना है।

निषाद राजको उपलक्षण करके जीवोंके परमगुरु जीवमात्रको यह उपदेश कर गये हैं। सामान्य जीवकी विचारधारा जहां रहती है, वहींसे तो उसे उठाया जा सकता है। प्रारब्धपर विश्वास आस्तिकताकी यही प्रथम सीढ़ी है। इस स्तरसे जहां हम नीचे आये कि फिर तो अशान्ति; असन्तोष, अनास्था, अधर्मका भयावह कानन भरा पड़ा है। अतएव पहिले यहींसे श्रीलक्ष्मणलाल प्रारम्भ करते हैं। निषादपतिको पहिले सामान्य जीवके सामान्य भाग्यविधानपर ही स्थिर करते हैं। यहां स्थिर होनेपर ही तो फिर सत्यके पथमें आगे प्रगति होगी।

'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।'

अमुक व्यक्तिने अमुकको गाली दी, अपमानित किया, मारा या अमुककी सम्पत्ति छीन ली, उसे घरसे निकाल दिया और इसी प्रकार अमुक व्यक्तिने अमुकको धन दिया, घर दिया, सम्मानित किया आदि दोनों प्रकारकी मान्यताएँ केवल भ्रम है। न तो कोई किसीको सुख देता और न दुख।

'हानि-लाभु, जीवनु मरनु, जसु-अपजसु बिधि हाथ।' अयो० १७१

ये छः बातें प्रारब्धपर निर्भर हैं। इनमें दूसरोंको कारण मानना हमारा ही अज्ञान है। जिसने हमें धन या मान दिया अथवा जिसने हमारी सम्पत्ति छीनी या हमें अपमानित किया, वे दोनों ही केवल निमित्त हैं। वे दयाके पात्र हैं, क्योंकि हमें तो अपने कर्मोंका फल मिलना ही था। वे निमित्त बने और इस प्रकार उन्होंने एक नवीन कर्म किया, जिसका फल उन्हें आगे भोगना होगा।

भगवान सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं, सर्वव्यापी हैं और न्याय रूप हैं। उनके इस विश्वमें यह सम्भव नहीं कि कोई दूसरेको बिना अपराध दण्ड दे सकें या बिना शुभ कर्मके पुरस्कृत कर सके। दूसरे चाहें ओर चेष्टा करें, यहाँ तक तो उनके बसकी बात है; क्योंकि कर्म करनेमें जीव स्वतंत्र है पर वह चाह और चेष्टा कोई परिणाम भी उत्पन्न करे, यह उनके बसमें नहीं है। परिणाम तो जीवका जैसा प्रारब्ध होगा वैसा ही उत्पन्न होगा।

यह और स्पष्ट हो जाय, इसके लिये हमें कर्मका विधान समझ लेना चाहिये। हमारे मनमें एक इच्छा होती है। यह हमारे पूर्वके कर्म संस्कार, संग आदिका फल है। उस इच्छाके अनुसार हम चेष्टा करें या न करें, यहाँ हम स्वतन्त्र हैं, क्योंकि हमें बुद्धि मिली है कि हम समझ सकें कि उस इच्छाके अनुसार चेष्टा करना उचित है या नहीं। चेष्टा करना हमारा कर्म है। यदि हम उस चेष्टामें फलकी इच्छा न करें, कर्तृत्वका अहंकार न करें तो उस चेष्टाका फल हमें आगे न भोगना हो। चेष्टामें कर्तृत्वका अहंकार हमें आगेके लिये उसके संस्कारसे बांधता है। रही चेष्टाके परिणामकी बात, सो तो हमारे प्रारब्ध या उसके प्रारब्धपर निर्भर है, जिससे उस चेष्टाके फलका सम्बन्ध हो। उदाहरणके लिये एक व्यक्तिके मनमें किसीको लाठी मारनेकी इच्छा होती है। यह इच्छा तो उसके

द्वेष या अन्य किसी संस्कारका फल है। इसे वह चाहे तो दबा भी सकत है भले इसके लिये प्रबल मन-शक्ति आवश्यक हो; किन्तु अन्ततः वह इस विषयमें स्वतन्त्र ही है। लाठी चलाता है वहाँ 'मैंने लाठी मारी इस अहंकारके कारण लाठी मारनेके पापका वह भागी होता है। नहीं तो—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यति।
हत्वापि स इमान् लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ गीता १८।१७

जिसे लाठी मारी गयी, उसे चोट लगेगी या नहीं और लगेगी तो कितनी बड़ी लगेगी, यह सब उसके प्रारब्धपर निर्भर है। उसका प्रारब्ध चोट न लगनेका हो तो लाठी लग नहीं सकती। यही बात सभी प्रयत्नोंके विषयमें समझना चाहिये। इस प्रकार स्पष्ट है इस कि कोई किसीको सुख या दुख देनेमें समर्थ नहीं है।

'निज कृत करम भोग सबु भ्राता।'

जब दूसरा कोई किसीको सुख या दुःख नहीं दे सकता तो यह स्वतः सिद्ध है कि सभीको अपने ही किये कर्मोंके फल भोगने पड़ते हैं; लेकिन जगतमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि झूठ, चोरी, घूस आदि पापों-का आश्रय लेनेवाले सम्पत्ति पा रहे हैं और सत्य, सदाचारका पालन करनेवाले आर्थिक क्लेशमें है। इस बातके अपवाद भी मिलते हैं; किन्तु आजकल अधिकता इसीकी है, इससे सामान्य व्यक्तिका मन सन्देहमें पड़ जाता है।

यह बात ध्रुव सत्य है कि पापका फल दुःख एवं विनाश है तथा पुण्यका फल सुख एवं उन्नति। पापसे सुख एवं पुण्यसे दुःख तो हो नहीं सकता। जहाँ असत्यादि पापसे लौकिक उन्नति प्रतीत होती है, वहाँ भी वह मानसिक अशान्ति दे रही होती है और विनाशोन्मुख होती है। इसी प्रकार जहाँ सत्य आदि धर्मोंके आश्रयपर भी सांसारिक क्लेश मिलते दीखते हैं; वहाँ वे आन्तरिक शान्ति दे रहे होते हैं और स्थिर उन्नतिकी ओर ही उनकी गति होती है।

हमारे मनमें चाहे यह बात न बैठे, पर हम प्रारब्धका विधान

समझ लें तो हमारे लिये कोई प्रश्न उठनेका स्थान रह ही नहीं जायगा। मनुष्य जो कर्म करता है, उन्हें क्रियमाण कहते हैं। यह क्रियमाण संचितमें मिल जाता है। क्रियमाण बहुत ही प्रबल हो या सकाम अनुष्ठानके रूपमें किया गया हो तभी इस जन्ममें फल देता है, नहीं तो वह संचितमें मिल जाता है। दूसरे शब्दोंमें आगे कभी फल देनेके लिये जमा हो जाता है। इसलिये इस समयके अच्छे या बुरे कर्मका इस समय मिलनेवाले फल सुख या दुखसे तत्काल कोई सम्बन्ध नहीं है। संचित तो जन्म-जन्मके कर्मोंके संस्कारोंका अपार कोष है। संचितमें-से कुछ संस्कार सृष्टि संचालकके नियमके अनुसार पृथक हुए हैं और उन संस्कारोंके अनुसार ही यह जन्म मिला है। वे पृथक हुए संस्कार ही प्रारब्ध कहे जाते हैं। इस जन्मके सभी सुख-दुःख प्रारब्धके अनुसार ही मिलते हैं।

एक ऐसा कार्यालय है जहाँ वेतन नियत समयपर ही मिलता है। एक कर्मचारी इस समय पर्याप्त श्रम कर रहा है; किन्तु पहिलेसे उसके पास कुछ पूँजी नहीं, अतः श्रम करते हुए भी इस समय तो क्षुधा एवं अभावसे पीड़ित है। दूसरा कर्मचारी पहिले मासमें श्रम करके पूंजी एकत्र कर चुका है। इस मास वह श्रम नहीं करता, पर अपव्यय करता और आनन्द मनाता है। वर्तमान समयको देखनेसे तो बड़ी विपरीत व्यवस्था लगती है कि जो श्रम करता है; वह भूखों रहनेको विवश है और जो श्रम नहीं करता, वह मौज कर रहा है; किन्तु जो आगे-पीछे देख एवं सोच सकते हैं, उन्हें यह नहीं बताना होगा कि श्रम करनेवाला ठीक मार्गपर है और बेकार रह कर अपव्यय करनेवाला अपने लिये कष्टकी सामग्री एकत्र कर रहा है। यही बात प्रारब्धके विषयमें है। पूर्व कृतपुण्य कर्मोंके फलसे जिन्हें धन-मान आदि मिल रहा है, वे यदि पापरत हैं तो अपने लिये आगे क्लेशका साधन एकत्र कर रहे हैं। उनका धन, मान पूर्वकृत पुण्यों-का फल है, वर्तमान असत्य या धूर्तताका नहीं। इसी प्रकार जो पूर्वकृत अशुभ कर्मोंके फलसे क्लेश पाते हुए भी धर्म एवं सत्यपर स्थिर हैं, उसके अशुभ तो क्लेश भोगसे नष्ट हो ही रहे हैं और धर्म उनके लिये आगे उज्ज्वल भविष्य निश्चित प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही धर्मके फल-स्वरूप उन्हें आन्तरिक बल एवं शान्ति जो अभी प्राप्त होती है, सो पृथक।

'निजकृत कर्म भोग सब' सबके सभी सुख-दुख उसीके पूर्वकृत

कर्मोंके फल भोग हैं और अपने वर्तमान कर्मोंका फल भी निश्चय ही उसी-को भोगना है। दूसरा कोई उसे सुख-दुख दे नहीं सकता। कोई उसके कर्मफलको न मिटा सकता, न टाल सकता न बदल सकता। यह भी कुछ होगा तो उसीके प्रयत्न एवं निष्ठा से। इस प्रकार भी लक्ष्मणजीने जीवके कर्म भोगके सामान्य नियमको यहाँ बताया। यह नियम निषादराजको समझानेके लिये, उनको कहा गया। श्रीराम एवं जनकनन्दिनीके लिये यह नियम नहीं है—यह तो आगे वे स्वयं कहेंगे।

> **जोग-बियोग, भोग, भल मंदा।**
> **हित-अनहित, मध्यम भ्रम फंदा॥** अयो० ९१।५

संयोग तथा वियोग (मिलन तथा विछोह) अच्छे और निकृष्ट भोग एवं मित्र-शत्रु तथा उदासीन—ये सब भाव केवल मोहके जाल हैं।

संसारमें कभी हमसे हमारे प्रियजन मिलते हैं और कभी पृथक होते हैं। इसी प्रकार हम जिन लोगोंसे नहीं मिलना चाहते, उनके साथ भी हमें रहना पड़ता है। कभी अच्छे सुख-भोग मिलते हैं और कभी निकृष्ट क्लेशदायी स्थिति प्राप्त होती है। कोई हमारा हितैषी-स्वजन, सम्बन्धी, मित्र है तो कोई द्वेष रखनेवाले शत्रु और अधिकांश जगत हमसे उदासीन है। विश्वमें सभी प्राणियोंका इतना ही परस्पर सम्बन्ध तथा व्यवहार है। श्रीलक्ष्मणलाल कह रहे हैं कि यह सब भ्रमका फन्दा—अज्ञानका जाल है।

जैसे नदीके वेगमें बहते हुए तिनके कभी प्रवाहके कारण एकत्र हो जाते हैं और फिर प्रवाह वेगसे पृथक हो जाते हैं, जैसे यात्री मार्गके निवास पान्थशाला (धर्मशाला) में एकत्र होते और फिर पृथक होते हैं, वैसे ही यह विश्वका संयोग-वियोग है। प्रत्येक जीव अपने कर्मोंके प्रवाहमें पड़ा हुआ है। कभी दो या अधिक प्राणियोंके कर्म उन्हें एकत्र कर देते हैं और वे कर्म ही उन्हें पृथक कर देते हैं। कर्मके अनुसार ही जीव जन्म पाता है और उसके स्वजन आदि उसे मिलते हैं। जिसका कर्म जहाँ उसे ले जाता है, उसको वहाँ जाना पड़ता है। ऐसी दशामें संयोग-वियोगका क्या मूल्य ? उसमें कोई आग्रह अर्थात् अमुक मिलें, समीप रहें या अमुक न मिलें अथवा

अमुकसे हमें दूर न होना पड़े यह सब भ्रम ही तो है। यह भ्रम ही फन्दा है। इस फन्देमें फँसे लोग इस संयोग-वियोगके लिए प्रयत्न करते हैं, तड़-फड़ाते हैं और इस प्रकार नूतन कर्म करते हुए अपनेको बराबर उलझाते जाते हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' गीता २।४७

कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें नहीं। कोई दुःख नहीं चाहता, कोई हानि, अपमान, स्वजन वियोग, रोग, मृत्यु नहीं चाहता; किन्तु ये सभीको बिना प्रयास घेरे रहते हैं। बहुधा सुखकी अपेक्षा ये अधिक मिलते हैं। जैसे ये दुखादि प्रारब्धके अनुसार मिलते हैं, वैसे ही प्रारब्धके अनुसार ही ये दूर भी होते हैं और सुख भी प्रारब्धके अनुसार ही प्राप्त होता है। हमारा कोई प्रयत्न हमारे सुखको न तो तनिक भी बढ़ा पाता और न दुःख को घटा पाता। लेकिन यह करनेसे सुख होगा, यह करनेसे दुःख दूर होगा, यही मान्यता सबको चंचल किये हैं। इसी भ्रमके फन्देमें फँसकर सब व्यग्र हो रहे हैं। सब इसी मोहके कारण नाना कर्मोंको करते और कर्मजालको दृढ़ बनाते जा रहे हैं।

यह हमारा शत्रु है, हमसे द्वेष करता है और ये हमारे मित्र हैं, हमारे शुभ चिन्तक हैं तथा शेष लोगोंको हमसे और हमें उनसे कोई प्रयो-जन नहीं। इस मान्यतामें भी वही 'भ्रम फन्दा' है। जो हमारे प्रारब्ध में सुख, सम्पत्ति, यश आदि है उसे कोई लाख प्रयत्न करके हमें पानेसे रोक तो क्या थोड़ा कम नहीं कर सकता। इसी प्रकार किसीका कोई प्रयत्न हमारे प्रारब्धजन्य क्लेश, अभाव, अयश आदिको भी रोक या घटा नहीं पाता। शत्रु और मित्र दोनों केवल निमित्त हैं। हमें जितना सम्पत्ति जितना यश अथवा जितना दुःख, जितने अभाव या जितने अयश-को भोगना है, उतना तो भोगना ही पड़े। लेकिन यह शत्रु और यह मित्र, इस प्रकारकी मान्यता हममें अनेक प्रकारसे राग-द्वेष उत्पन्न करके हमसे अनेक चेष्टाएँ कराती है और इस मान्यताके वश उन चेष्टाओंके शुभाशुभ कर्ममें हम अधिकाधिक उलझते जाते हैं।

वस्तुतः लक्ष्मण-गीताकी यह अर्धाली पूरीकी पूरी दो प्रकार के भावव्यक्त करने वाली श्लेष तथा देहली दीपक है। इसका सम्बन्ध पहिली

अर्धाली 'कोउ न काहु सुख-दुख कर दाता' से भी है और आगेकी अर्धालियोंसे भी है। पहिली 'अर्धाली' के साथ सम्बन्ध रखकर तो यह प्रारब्ध-प्रधान भाव व्यक्त करती है। अबतक इसी भावको ऊपर स्पष्ट किया गया। आगेकी अर्धालियोंके साथ इसे सम्बन्धित करके देखें तो वह तत्व-ज्ञान जो आगेकी अर्धालियोमें है, उसकी यह भूमिका है।

भगवान्‌की सत्ता सर्वत्र है। सगुण-निर्गुण दोनों रूपोंमें वे विभु हैं और सबके अन्तर्यामी रूपसे प्रत्येक हृदयमें भी स्थित हैं। जीवका उनसे कभी वियोग नहीं होता। दूसरे प्राणियोंसे संयोग-वियोगका कोई अर्थ ही नहीं है। संसारमें जो संयोग-वियोगकी भावना है, वह तो भ्रमका जाल है। एक जीव दूसरे जीवसे सर्वथा स्वतन्त्र है। शरीरका पांच भौतिक पुतला जड़ है और उसके यत्र-तत्र होनेका भी कोई अर्थ नहीं। दो व्यक्ति एक यात्रामें सर्वथा पास होकर भी वियुक्त हैं, क्योंकि उनमें परिचय नहीं। उनमें संयुक्त करनेवाले भाव नहीं और एक जाति या एक देशके अनेक लोग जो परस्पर कभी नहीं मिलते, जातीयता एवं राष्ट्रीयतामें संयुक्त हैं और संयोगका गर्व करते हैं। इस प्रकार संयोग या वियोग शरीरकी अपेक्षा मनसे अधिक सम्बन्ध रखता है। मनके भावोंका क्षेत्र इतना विस्तृत, निःसीम है कि उसमें वियोगका कुछ अर्थ ही नहीं। शरीर-को लेकर ही संयोग-वियोगकी भावना चलती है और विचार करनेपर वह भ्रम ही है जो अपने फन्देमें उलझाये जीवोंको क्लेश दे रही है।

सुख और दुःख मनके धर्म हैं और ये मान्यतामें स्थित हैं पदार्थोंमें नहीं। एक व्यक्ति कुछ रुपये पाकर फूला नहीं समाता और एक व्यक्ति इसलिये मारे दुःख के आत्महत्या कर लेता है कि उसके पास केवल कुछ करोड़ रुपये बच गये हैं। बर्माके एक भोजन विशेषके आवरणहीन होनेपर एक भारतीयकी नाक फटने लगेगी और एक बर्मी बड़े स्नेहसे सूंघेगा उसे। यही दशा शराबकी है। सौन्दर्यकी भावना भी ऐसे ही भिन्न-भिन्न देशोंमें परस्पर विरोधी है। अमुक भोग भला है, अमुक पदार्थ सुख देने-वाला है और अमुक भोग निकृष्ट है, अमुक पदार्थ कष्ट देनेवाला है। अथवा अमुक पदार्थके अभावसे कष्ट हो रहा है, यह सब भ्रम है। आपकी रुचि एवं स्थिति ही है जो पदार्थोंको सुख या दुःख देनेवाला बनाये हैं।

पदार्थोंमें-से न कोई भला है, न कोई निकृष्ट। न कोई सुख देनेवाला है, न दुख देनेवाला। पदार्थोंमें सुख-दुःखदेनेकी शक्ति है ही नहीं। मनुष्यकी मान्यता ही उन्हें सुखद या दुखद बनाती है। एक अरबपति अपने सदनमें भी अभाव ग्रस्त रहता है भोगोंकी विपुलता होते हुए भी और एक कौपीन-धारी विपरीत परिस्थितियोंमें भी, अपमानित एवं ताड़ित होनेपर भी उत्फुल्ल रहता है। बात यह है कि आनन्द तो हृदयके भीतर अन्तर्यामीमें है 'रसो वै सः. हृदयस्थ प्रभु ही रस रूप सुख सिन्धु हैं। पदार्थोंमें अज्ञान वश भले एवं निकृष्ट, सुखद एवं दुःखदकी हम सबने कल्पना कर ली है। हम भ्रममें पड़े और इस भ्रमके कारण ही नाना प्रकारके कर्म करते चले जाते हैं। यह भ्रम ही हमारे बन्धनको दृढ़से दृढ़तर करता जाता है।

'हित अनहित मध्यम' अर्थात् मित्र-शत्रु—उदासीनका भाव तो बहुत स्पष्ट ही भ्रम है। मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु और स्वयं ही अपना मित्र है। विषयोंमें प्रवृत्त इन्द्रियाँ तथा असत्पथगामी मन ही मनुष्यका सबसे बड़ा शत्रु है। अनाचार—पाप होते हैं शरीर, शक्ति – ऐन्द्रियक लिप्सासे और यही क्लेशके कारण है। जहाँ तक दूसरोंका सम्बन्ध है, किसीका भी जड़ शरीर किसीका मित्र-शत्रु-आदि कुछ नहीं हो सकते। मुर्दा किसीसे मित्रता या शत्रुता नहीं करता। जीव परमात्माका अंश है। सूर्यकी किरणोंमें-से एक किरण दूसरेकी मित्र या शत्रु है, इस बातका अर्थ क्या ?

'निज प्रभुमय देखहि जगत, केहि सन करहिं बिरोध।'
उत्तर० ११२।ख.

सब संसार उसी आराध्यका स्वरूप है जो हमारे प्राणोंका प्राण, जीवनका भी जीवन है। वह न किसीका शत्रु हो सकता है और न किसीके प्रति उदासीन। उस अकारण सुहृद, अहैतुक कृपालुकी लौकिक मित्रोंसे भी क्या तुलना। वह तो अपना आत्मा है। उसीमें यह सब ब्रह्माण्ड स्थित है। अतः वास्तविक दृष्टि तो यह है—

'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।' किष्कि० ३

परमार्थतः शरीर, जीव एवं व्यापकसत्ता किसीकी दृष्टिसे कोई किसीका मित्र या शत्रु नहीं। जिसे आज हम शत्रु जानते हैं, दूसरे जन्ममें

वह हमारा भाई, पुत्र आदि नहीं था या नहीं होगा, इसका कुछ भी निश्चय नहीं। व्यावहारिक दृष्टिसे सबको अपने कर्मोंका फल भोगना ठहरा। उसमें मित्र-शत्रु आदि भावका कुछ मूल्य ही नहीं। इस प्रकार यह मित्र-शत्रु-उदासीन भाव भी भ्रम है। इस भ्रमके फन्देमें पड़कर हम किसीको मित्र या स्वजन मानकर मोह ग्रस्त होते हैं। उसके अनुकूल अनेक कर्म करना चाहते हैं। उसके सुखके लिये क्लेश उठाते तथा असत्य-प्रयत्न भी करते हैं और किसीको शत्रु मानकर द्वेषके वश जलते रहते हैं एवं अनर्थ करते हैं। इसी प्रकार जो हमारे परम प्रभुके साक्षात् स्वरूप हैं उन्हें उदासीन मानकर हम उनकी उपेक्षा करते हैं। 'हित-अनहित-मध्यम' का यह भाव इस प्रकार हमें भ्रमके फन्देमें फँसाये हुए है।

जब तक मनुष्यकी प्रारब्ध, पुनर्जन्म, परलोकमें दृढ़ आस्था न हो जाय, वह परमार्थ-पथमें अग्रसर नहीं हो सकता। परलोक एक पुनर्जन्म-का आधार है प्रारब्धवाद। प्रारब्धको स्वीकार कर लेनेपर पारमार्थिक साधकका पथ प्रशस्त हो जाता है। पहिली अर्धालीमें प्रारब्धका स्वरूप एवं कार्य क्षेत्र निर्देश करके दूसरी अर्धालीमें परमार्थ तत्वका प्रारब्धकें माध्यमसे संकेत किया गया। संयोग-वियोग, सुख-दुःख, शत्रुमित्रके द्वन्दों-को यदि हम भ्रम समझ लें और इनसे तटस्थ हो जायँ तो आगेकी बातको समझना बहुत सरल हो जाता है। ज्ञानके साक्षात्के लिए आवश्यक है कि चित्त लोकमें राग-द्वेषकी इन सीमाओंसे ऊपर उठे। इसलिये इन भ्रमोंका स्पष्टीकरण किया श्रीलक्ष्मणजीने कि इनके स्वरूपको बुद्धि समझ कर इनसे तटस्थ हो जाय।

जनमु-मरनु जहँ लगि जग जालू।
सम्पति-बिपति करम अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥ अयो० ६-८

जन्मसे मृत्यु तक जितना भी संसारका यह जाल (विस्तार) है,

उसमें सम्पत्ति एवं विपत्ति (तथा उनके कारण) कर्म और काल, (उनके निमित्त) पृथ्वी, भवन, धन, स्थान, परिवार (आदि लौकिक विस्तार तथा) स्वर्ग और नरक जहाँ तक भी व्यवहार (जीवकी कर्म तन्त्र गति) है, जो (संसारमें प्रत्यक्ष) देखी जाती है (जो शास्त्रोंसे) सुनी जाती है सोचनेसे यह स्पष्ट होता है कि वह सब मोह मूलक है। उसकी परमार्थतः सत्ता नहीं अथवा उससे जीवके पारमार्थिक कल्याणका कोई सम्बन्ध नहीं।

'जनमु-मरनु जहँ लगि जगजालू।' जन्मसे लेकर मृत्यु तक प्राणी संसारमें जो कुछ करता है, जिनके सम्पर्कोंमें आता है, जो सम्बन्ध जोड़ता तोड़ता है, वह सब जगतका जाल है। वह सब उसे अपनेमें ही उलझाये रखता है। उसीमें राग-द्वेषके कारण वह नाना प्रकारके प्रयत्नोंमें लिप्त होता है और ये प्रयत्न—ये कर्म उसके संचितमें बढ़ते रहते हैं। जन्म मरणका चक्र इसीसे चलता रहता है। यह सब मोह-मूल है। अज्ञानके कारण ही प्राणी 'यह मेरा, यह पराया' की भावना करके इस जालमें जकड़ा है। सभी अपने-अपने प्रारब्धका भोग करते हैं। कोई किसीकी सहायता या हानि कर नहीं सकता। सभी जीव परस्पर स्वतन्त्र हैं। उनमें सम्बन्धकी कल्पना लौकिक है, मोहजन्य है।

सम्पत्ति और विपत्ति—कभी सुख और कभी दुःख, यही जगतका भोग रूप है। इससे पहिली अर्धालीमें जो 'भोग भल मन्दा' कहा गया है, उसीका यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं। इस संसार वृक्षके दो ही फल हैं—सुख या दुःख। कभी किसीको प्रारब्ध अनुकूल होनेपर ऐश्वर्य प्राप्त होता है और कभी प्रारब्ध प्रतिकूल होनेपर नाना प्रकारकी विपत्तियाँ आती हैं। जैसे इनमें एक (दुःख) प्रारब्ध वश आता है, वैसे ही सुख भी प्रारब्ध वश ही आता है। सुख और दुःख—सम्पत्ति तथा विपत्ति इन दोनोंकी सीमा शरीर तक ही है। मोहवश ही प्राणी इनमें अपनेको सुखी या दुःखी मान लेता है, और फिर विपत्तिको दूर करने तथा सम्पत्तिको पाने या सुरक्षित रखनेके नाना प्रयत्नोंमें लगता है। यदि वह जान ले कि ये प्रारब्धपर निर्भर हैं तो कर्मोंके जालमें न पड़े, किन्तु ये सम्पत्ति-विपत्ति मोह मूलक जग-जाल हैं। मोहवश प्राणी इस जालमें उलझा है।

'करमु अरु कालू' सम्पत्ति या विपत्तिके दो ही हेतु सोचे जाते हैं—

कर्म और काल। हमारे उद्योगमें यह त्रुटि रही, इसलिये विपत्ति आयी या अमुक-अमुकने चेष्टा करके हमें इस स्थितिमें डाला तथा हमारे या हमारे शुभचिन्तकोंके अमुक उद्योगोंसे यह सम्पत्ति—सुख, सफलता हमें प्राप्त हुई, एक प्रकारका यह भाव होता है। दूसरा कारण कालको हम मानते हैं—समय अनुकूल था, परिस्थितिने हमें लाभ उठानेका अवसर दिया अथवा समय प्रतिकूल था, परिस्थितियोंने हमारे समस्त उद्योगोंको असफल कर दिया। इस प्रकार कर्म तथा काल, उद्योग एवं परिस्थित भी जगतका जाल ही है। परिस्थितिसे हम लाभ या हानि उठाते हैं तथा हमारा वर्तमान श्रम हमारी सम्पत्ति या विपत्तिका हेतु है, यह भाव मोहमूलक है। मोह अज्ञानके कारण ही हमारी यह मान्यता होती है और यह मान्यता फिर हमें जग-जालमें डालती है। हम मोहवश नाना प्रकारके शुभ या अशुभ कर्म करते हैं।

कर्मका अर्थ प्रारब्ध तथा कालका अर्थ कर्म फल नियन्ता-शक्ति या युगधर्म आदिकी संचालिका शक्ति भी लिया जा सकता है। वैसे मुझे लगता है कि यह पूरी लक्ष्मण-गीता प्रारब्धको प्रधान भूमिका मानकर चली है और इससे यहाँ कर्मका अर्थ सामान्य कर्म-जीवका उद्योग तथा कालका अर्थ परिस्थिति ही लेना सीधी बात होगी, पर कर्मका अर्थ भाग्य तथा कालका अर्थ युगादिनियामक-शक्ति भी लें तो अर्थमें कोई बहुत अन्तर नहीं आवेगा। प्रारब्ध जीवके ही पूर्वकृतकर्मोंका फल है और काल तो केवल कर्मका नियामक-फलदाता है। अतएव यह प्रारब्ध ही कराता है, यह कालने कर दिया, आदि भाव मोहमूलक जगजाल हैं। इन भावोंमें भ्रमसे-मोहसे प्राणी पड़ता है और फिर कर्तव्यसे परांमुख होता है। सम्पत्तिका हेतु हम अपने उद्योगको मानें या प्रारब्धको, परिस्थितिको को मानें या काल (युग नियन्ता शक्ति) को; किन्तु हैं ये जगतके जाल। मोहवश ही हम इनमें राग-द्वेष करते हैं। ये जगतके सुख-दुःख बाँधते हैं जीवको। इनसे मनको तटस्थ कर लेनेमें ही प्राणीका कल्याण है।

घरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥

काल-कर्म प्रेरित सम्पत्ति और विपत्तिका लौकिक रूप पृथ्वीपर,

निवास तथा परिवारके रूपमें तथा स्वर्ग या नरक प्राप्ति रूप मरणोत्तर होता है। इस संसारमें सम्पत्ति है भूमिकी प्राप्ति, उत्तम भवन, ऐश्वर्य अपनी मातृभूमिमें यशस्वी होकर स्थिति तथा सुखी समृद्ध-अनुकूल परिवार और विपत्ति है भूमि न होना, घर न रहना, धनका अभाव, जन्म स्थानसे दूर-दूर भटकनेको विवश होना तथा परिवारके क्लेश, झगड़े आदि संसारमें हमारा व्यवहार इन्हीं सबको लेकर चलता है। मृत्युके पश्चात् जीव या तो स्वर्ग, उत्तम लोकोंको जायगा या नरक-यातना स्थानोंको। संसारमें हम जो व्यवहार करते हैं, उसका मरणोत्तर यहीं तक ही सम्बन्ध है और इस मरणोत्तर-गतिके लिये भी संसारमें प्राणी व्यवहार करता है। हमारी अधोगति न हो और हमें उत्तम गति प्राप्त हो, इसके लिये भी हमारे बहुतसे व्यवहार चलते हैं।

व्यवहार चाहे सांसारिक सम्पत्तिकी प्राप्ति या रक्षा अथवा विपत्ति-के निवारणके लिए हो या मरणके पश्चात् विपत्ति निवारण और सम्पत्ति (स्वर्गादि) प्राप्तिके लिए; व्यवहार जहाँ तक भी है, सब जगतका जाल हो। सभी जीवको उलझाता है कर्मके द्वारा कर्म संस्कारोंमें और उससे जन्म-मरणका चक्र चलता रहता है। जैसे लौकिक सुख-सम्पत्ति-धरणी, धाम, धन, पुर, परिवारका ऐश्वर्य या इनके सम्बन्धकी विपत्ति अल्पकाल स्थायी है, मोहवश इनमें जीव आसक्त होता है, वैसे ही स्वर्गकी चाह या नरकका कष्ट भी अल्पकालिक है। इनमें भी राग-द्वेष मोहवश ही होता है। नहीं तो—

'सरगु नरकु अपबरगु समाना।
जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥' अयो० १३०।७

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने उद्धवजीको बताया है—

'न नरः स्वर्गतिं कांक्षेद् नारकीं वा विचक्षणः।' भा० ११।२०।१३

शुभकर्म करके प्राणी स्वर्ग जाता है, यह तो ठीक ही है और यह भी ठीक है कि अशुभ कर्मोंसे नरककी प्राप्ति होती है। इसलिये अशुभ कर्म न करना और शुभ कर्म करना ही सबका कर्तव्य तथा सबके लिये कल्याणकारी है। लेकिन जैसे, लौकिक सुख या लौकिक दुख कुछ कालमें

चला जाता है, वैसे ही पुण्यभोगके पश्चात् स्वर्गसे भी प्राणी गिरता है और पाप भोगके पश्चात् नरकसे भी छुटकारा पाकर इस लोकमें आ जाता है। अतएव मुझे स्वर्ग मिले, यह भाव मोह—अज्ञानजन्य ही है। यह भी जीवको कर्मके जग-जालमें उलझाता है। इस स्वर्ग-नरकके भी मोहमूलक जग-जालसे मनको तटस्थ करके जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा पानेके लिये भगवत्-शरण ग्रहण करना ही उत्तम है।

इस प्रकार कर्म और काल प्रेरित 'धरनि-धामु-धनु-पुर-परिवारू' सम्बन्धी जितना भी व्यवहार संसारमें देखा जाता है और 'सरगु-नरकु जहँ लगे' पारलौकिक व्यवहार शास्त्रों एवं सत्पुरुषोंसे सुना जाता है, यदि (गुनिअ) सोचा जाय—उसके विषयमें ठीक विचार किया जाय तो विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि यह सब लौकिक एवं स्वर्ग नरकादि सम्बन्धी पारलौकिक व्यवहार मोह-मूल है। इन्द्रिय तथा इन्द्रियों-के विषयमें मोह होनेसे ही इन व्यवहारोंमें जीवकी प्रवृत्ति होती है और इस प्रवृत्तिके कारण वह आवागमन रूप इस जग जालमें बराबर उलझा रहता है।

'परमारथ नाहीं' इनमें-से किसीके द्वारा जीवका पारमार्थि कल्याण नहीं हो सकता। परम-अर्थ अर्थात् आत्यन्तिक आनन्द, शाश्वत सुख तथा दुखोंकी सदाके लिए निवृत्ति इनमें-से कहीं नहीं, किसीमें भी नहीं है। इनमें-से कहीं किसीमें लगे रहनेपर भी 'परमारथ नाहीं' जीवका पार-मार्थिक कल्याण नहीं होता। इन सब लौकिक-पारलौकिक भोगोंकी पारमार्थिक सत्ता भी नहीं है। ये तो मोह मूल हैं। मोह है तभी ये हैं। यदि इन्द्रियों तथा उनके विषयोंमें मोह न हो तो ये प्रतीत ही न होंगे। इनकी नित्य सत्ता नहीं है। ये सब नश्वर हैं।

'परमारथ नाहीं' कहकर यह भी कहा गया कि जन्म-मृत्युसे लेकर संसारके जन्म-मृत्युके मध्यकालके कर्म एवं कालपर अवलम्बित सम्पत्ति या विपत्तिसे युक्त 'धरनि धामु धनु पुर परिवारू' तथा मृत्युसे दूसरे जन्म पर्यन्त कर्म एवं काल प्रेरित सम्पत्ति या विपत्ति युक्त 'सरगु नरकु' आदि जहाँ तक भी व्यवहार है, वह सब 'परमार्थ नाहीं' अर्थात् उनमें-से किसी-की परमार्थ—वस्तुरूप-सत्यसत्ता नहीं है। ये सब व्यवहार मोह मूल

अज्ञान संस्कार परम्पराजन्य भावरूप सत्ता वाले हैं और जगजाल हैं। इनकी परमार्थ सत्ता न होनेपर भी जब तक मोह—इन्द्रिय एवं उनके विषयोंमें आसक्ति है, तब तक इनकी भावरूप सत्ता रहेगी और जग-जाल होनेके कारण ये अपनेमें जीवको उलझाये—आबद्ध किये रहेंगे।

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥ उत्तर० १२०।२६

इस संसार रूपी महाव्याधिकी जड़ मोह ही है। दूसरे समस्त क्लेश उसीसे उत्पन्न होते हैं। अतएव परमार्थके साधकको मोहका ही मूलोच्छेद करना चाहिए। इस चौपाईमें मोहका विस्तार बताकर अब आगे मोहके स्वरूपको और स्पष्ट करेंगे।

सपने होइ भिखारि नृपु, रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥ अयो० ९२.

(जैसे) स्वप्नमें राजा (अपनेको) भिखारी हुआ देखता है (और) भिखारी (अपनेको) इन्द्र हुआ देखता है, पर जग जानेपर न तो (राजाको) कोई हानि है और न (भिखारीको) कोई लाभ, वैसे ही (इस जगत रूप) प्रपंच को हृदयमें देखनेपर (विचार करनेपर) है।

स्वप्नमें हम क्या देखते हैं, क्या देखेंगे, इसका न तो कोई ठीक ठिकाना है और न कोई अर्थ ही है। एक निष्कण्टक राज्यका सर्वोच्च अधिकारी जो यश-ऐश्वर्य सम्पन्न है, स्वप्नमें अपनेको देखता है कि उसकी पदप्रतिष्ठा सब नष्ट हो गयी है। उसके पास न रहनेको स्थान है, न भोजन-को अन्न और न पहिननेको वस्त्र। उसका कोई स्वजन सहायक नहीं। नंगा, भूखा, असहाय वह गली-गली, ग्राम-ग्राम भटकता भिक्षा माँग रहा है। एक टुकड़े रोटीके लिये लालायित है। उस समय उसे जो क्लेश है, जो पीड़ा है, उसका आप अनुमान कर सकते हैं। स्वप्न टूटता है और वह जागता है। अपने सुन्दर भवनमें अपनी उत्तम शय्यापर वह पड़ा है।

उसका ऐश्वर्य वैभव ज्योंका त्यों है। निद्रा टूटनेके साथ उसका समस्त क्लेश समाप्त हो जाता है। स्वप्नमें भिक्षुक हो जानेसे उसकी एक पाई-की हानि भी नहीं हुई। इसी प्रकार विचार करनेपर इस जगतकी सब विपत्ति है। वह विपत्ति चाहे लौकिक—'घरनि' धाम-धन-पुर-परिवारू' के सम्बन्धकी हो या मरणोत्तर नरकादि क्लेशमय गति रूपमें हो। दोनों ही रूपमें वह स्वप्न-विपत्ति है। उसका भाव रूप प्रातीतिक सत्ता है। जाग्रत होनेपर उससे कोई हानि नहीं हुई यह स्पष्ट हो जायगा। क्योंकि आनन्द रूप चेतन जीवात्मा जो नित्य प्रभु-परमात्माका सखा है—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ' जिसे श्रुति कहती है, उस नारायणके सखा नरकी कोई हानि यह मायिक प्रपंच कर नहीं सकता।

जो बात विपत्तिकी है, वही सम्पत्तिकी भी है। एक भिक्षुक है। दाने-दानेको भटकता रहता है। कभी पेट नहीं भर पाता उसका। ठीक चिथड़े भी उसके शरीरपर नहीं। लेकिन निद्रा तो उसे भी आती ही है। कहीं मार्गके किनारे धूलि भरे स्थानपर वह बिना किसी बिछौनेके भूमिपर पड़ रहता है और रात्रि व्यतीत कर देता है। क्षुधासे पीड़ित, दिन भर भिक्षा मांगनेसे थका एक दिन जब वह सो जाता है तो स्वप्नमें देखता है कि वह देवराज इन्द्र हो गया है। मल्लिकाके मादक परागके आस्तरण-पर अमरावतीकी सुधर्मा सभामें वह आसीन है। रत्नोंकी दिव्य जोति वहां अन्धकारका प्रवेश नहीं करने देती। पाटल दलोंके सुकुमार पात्रोंमें सुधा, सम्हाले सुर सुन्दरियाँ उसकी सेवामें प्रस्तुत है। गन्धर्व एवं किन्नरों-का यूथ अपने संगीत एवं वाद्यसे उसे प्रसन्न करनेके प्रयत्नमें है। अप्सराओं-के मृदुल चरण उसकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये थिरकते हुए थके जा रहे हैं। मुनिजन उसकी स्तुति कर रहे हैं। बड़े-बड़े लोकपाल भी उसके सम्मुख हाथ जोड़े खड़े हैं और इस भयसे मनमें भी कुछ नहीं सोचते कि कहीं उनके संकल्पोंका कोलाहल देवाधिपतिको क्षुब्ध न कर दे। सम्पूर्ण धरा उसकी कृपा चाहती है। यज्ञोंके द्वारा उसका यजन करते हैं तपस्वी ब्राह्मण। उसके ऐश्वर्य भोग, यश, गौरवकी कोई इयत्ता नहीं है। पृथ्वी के निवासी चेष्टा करके भी इतने ऐश्वर्य, माधुर्य एवं गौरवकी विपुलता सोच नहीं सकते। यह सब देखते हुए उस भिक्षुकको जितना सुख होता है, आप उसे अनुमान नहीं कर सकते। लेकिन उसकी भी निद्रा टूटती है

और वह टूटनी ही ठहरी। हाय, उससे उठा तक नहीं जाता। भूखसे व्याकुल हो रहा है वह। शरीरपर चिथड़े तक नहीं। टीनका फूटा-पिचका कुरूप कटोरा पास पड़ा है। भूमिमें लुढ़का-सा वह भिखारी—अभी-अभी वह देवराज इन्द्र था— अमरावतीका अधीश्वर, किन्तु स्वप्नके उस इन्द्रत्व-से क्या मिला उसे ? इससे तो अच्छा था कि उसे रोटीका कोई चौथाई या आठवाँ टुकड़ा भी मिल गया होता। 'धरनि-धाम-धनपुर-परिवारु' से सम्बन्धित इस संसारकी सम्पत्ति और मरनेपर मिलनेवाला वह स्वर्ग; यह सब सम्पत्ति उस भिखारीके स्वप्नकी भाँति ही विचार करनेपर प्रपंच प्रतीत होती हैं।

देश, काल और परिणामकी बात ही भ्रान्ति है। स्वप्नमें हम बहुत विस्तृतदेश, नगर, ग्रामादि देखते हैं। जागृत होनेपर कोई हमसे पूछे कि स्वप्नके उस देश, नगर आदिकी स्थिति कहाँ है ? तो हम सुईकी एक नोक जितनी भूमि भी नहीं बता सकते। इसी प्रकार जब कि हम कुछ क्षण स्वप्न देखते हैं, स्वप्नमें हम अनेक वर्षोंकी घटनाओंका अनुभव करते हैं। हमें लगता है कि वर्षके वर्ष सुख या दुःख भोगते बीत रहे हैं। स्वप्नकी वस्तुओं-की लम्बाई-चौड़ाईको क्या जगनेपर कोई स्थान है ? अथवा स्वप्नमें आपपर दस मनका भार पड़ा तो जगनेपर आप उसे दस रत्ती भी कहीं बता सकते हैं ? जैसे स्वप्नका वह नगरों, ग्रामोंसे पूर्ण बड़ा भारी देश सचमुच कहीं नहीं है वैसे ही हमारे इस जागृतके देश जिसमें पृथ्वी, सूर्य, तारे आदि सब हैं, इसकी भी कोई स्थिति नहीं है। हम जब पूछते हैं कि भगवान्का दिव्य धाम कहाँ है तो शास्त्रोंके अनुसार कहना पड़ता है कि वह सर्वत्र है। लेकिन हमारा प्रश्न ही विचित्र है। स्वप्न देखता हुआ स्वप्नके देश-को सच मान कर कोई इस जगतके विषयमें पूछे तो क्या उत्तर हो सकता है ? इस जगतमें जगनेपर तो स्वप्नके उस बड़े विस्तार वाले संसारकी स्थिति बतानेको सुईकी नोक रखने जितना भी स्थान नहीं। क्योंकि स्वप्नकी कोई वस्तु रूप सत्ता ही नहीं। वह तो भाव रूप है। इसी प्रकार हमारे जगतकी भी भाव रूप सत्ता है, वस्तु रूप सत्ता नहीं है। अतएव वास्तविक जगत भगवद्धाममें इसके लिए कोई कहाँ स्थान बतादे ? यहाँसे कोई क्या बतावे कि वह नित्य धाम किधर कहाँ है ? जैसे देशकी दशा है, वैसे ही काल और परिमाणकी भी है। जगते समय हमें जान पड़ता है

कि हमने स्वप्न कितने क्षण देखे; किन्तु स्वप्न देखते समय तो वर्षों, युगों बीतते जान पड़े थे। इसी प्रकारके हमारे ये दिन, सप्ताह, मास, वर्ष, युग, तथा असंख्य जन्म हैं। नित्य जगतके कुछ क्षणमें ही यह कोटि-कोटि युगोंका प्रपंच चल रहा है। सृष्टि-प्रलयके क्रमवाले इस अनन्त काल और इस कालमें भोगे जानेवाले सुख-दुख, स्वर्ग-नरक, हमें कितने बड़े प्रतीत हुए, इसका कोई भी महत्व नहीं। यह है वास्तविक दृष्टिसे कुछ क्षणका ही खेल।

जगतके सुख-दुख, हानि-लाभ, जन्म-मृत्यु स्वर्ग-नरक तथा यहांका विस्तार, युग-युग व्यापी समय—यह सब प्रपंच है। स्वप्नके समान प्रतीति है। इसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। लेकिन इसका यह भी अर्थ नहीं कि जगत नहीं है, मिथ्या है। स्वप्न न होता, यदि जागृति न हो। स्वप्नमें ऐसी कोई वस्तु हम देख नहीं सकते जिसका सम्पूर्ण रूप या जिसके रूपके सब अंश हमने जागृत दशामें एकत्र या भिन्न-भिन्न रूपसे देखे या सुने न हो। स्वप्नकी भावरूप सत्ता है और भाव किसी वस्तु सत्ता—सत्यके आधारपर ही होता है। इसी प्रकार स्वप्नसे जागकर इस जगतमें आये बिना स्वप्नमें ही यह भाव उठे कि स्वप्न मिथ्या है तो इससे स्वप्नके सुख-दुख मिट नहीं जांयगे। हमारे इस जगतकी भी भाव रूप सत्ता है और वह इसलिये है कि भगवानूके नित्य धाम वस्तु रूप-सत्य हैं। उन दिव्य धामोंके कारण ही यह भाव है। जो वहां किसी रूपमें नहीं, उसकी भावात्मक प्रतीति जगतमें हो नहीं सकती। जगतके काल विस्तार एवं सुख-दुख स्वर्ग-नरकसे छुटकारा इस जगतमें रह कर इसे मिथ्या कहनेसे नहीं हो सकता। इसके लिये तो इस स्वप्न जगतसे उस नित्य जगतमें जागना होगा। यहां तक जगत और उसके भोग स्वप्नके समान भाव रूप हैं इनकी वस्तु रूप सत्ता नहीं है, यह विचार करनेकी प्रेरणा दी लक्ष्मणजी ने। इस स्वप्नसे जागरणका साधन तो अन्तमें कहता है उन्हें।

अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू।
काहुहि बादि न देइअ दोसू॥ अयो० ९२।१

ऐसा विचार करके रोष मत करो और किसीको व्यर्थ दोष भी मत दो।

यह अर्घाली निषादराजके लिये व्यक्तिगत रूपसे कही गयी है। निषादराजको 'सीयराम महि सयन निहारा' भाराविषाद हुआ था और 'कैकयी-नान्दानमन्द मति' आदि कहकर उन्होंने माता कैकयीको धिक्कारा भी था। यह अर्घाली एक बात और बतलाती है कि निषादपतिके मनमें रोष भी था। वह रोष उन्होंने अभी तक प्रगट नहीं किया था, किन्तु लक्ष्मणजीने मुख-मुद्रा आदिसे समझ लिया था कि निषादराज गुहके मनमें रोष है। इसीलिये 'अस विचार नहीं कीजिये रोषू।' वे कह रहे हैं। रोष किसके ऊपर है और किस सीमा तक है, यह इसलिये ग्रन्थमें नहीं प्रगट हुआ कि निषादपतिने उसे प्रकट किया ही नहीं। रोष मनमें था और लक्ष्मणजीके समझानेपर शान्त भी हो गया। निषादपति गुह भगवान् श्रीरामके आखेट-सखा है बचपन के। दूसरे पुराणादिसे यह सिद्ध है कि जब श्रीरामचन्द्र आखेटके लिये जाते थे तो निषादराज गुह अवश्य उनके साथ जाते थे और आखेटके प्रबन्धकी वही व्यवस्था भी करते थे। आखेट मैत्री बड़ी प्रगाढ़ मैत्री होती है, यह बात जिनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध आखेटसे रहा हो, वे जानते हैं। निषादराजके वे परम प्रिय सखा श्रीराम जिनको अयोध्याका युवराज होना चाहिये, युवराजपद जिनका स्वत्व है, अपनी विश्व-विश्रुता पत्नी श्रीजनकराज तनयाके साथ अयोध्यासे निर्वासित होकर आज शृंगवेरपुर आये हैं, और भूमिपर शयन कर रहे हैं, यह स्थिति गुहके लिये कितनी व्यथा देनेवाली है, कोई सहृदय ही अनुमान कर सकते हैं। निषादराज गुह कितने शूर; कितने मनस्वी, कितने शक्तिमान एवं ओजस्वी है, यह उस समय प्रकट हो गया है, जब श्रीभरत-लालको चतुरंगिणी सेनाके साथ चित्रकूटकी ओर जाते देख गुहको भ्रम हुआ कि इस सैन्य-यात्रामें कोई दुरभिसन्धि है और उन्होंने अपने सैनिकों-को आदेश दिया—

होहु सँजोइल रोकहु घाटा।
ठाटहु सकल मरै के ठाटा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ।
जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥ अयो० १८८।१-२

निषाद-जाति कभीका पुरुष नहीं रही। वह उद्‌भव निर्मम शूरोंकी

जाति है, जिसे मारना और मरना दोनों आता है। आज इस गये-बीते समयमें भी इस जातिकी एकता इसका संगठन औरोंकी अपेक्षा बहुत कुछ सुदृढ़ है। निषादराज गुह उन माना शूरोंके अधिपति थे, जिनके लिये मृत्यु और क्लेश नित्यके साधारण खेल थे अपने वीरोंकी शूरता एवं उनके ऐक्य तथा स्वामिभक्तिपर गुहका दृढ़ विश्वास था और यही कारण था कि अयोध्याके चक्रवर्ती साम्राज्यकी सेनासे 'सन्मुख लोहा।' लेनेका विचार करनेमें उन्हें एक क्षण भी सोचना नहीं पड़ा। ऐसे शक्ति सम्पन्न, ओजस्वी निषादपतिके मनमें अपने परमप्रिय सखा श्रीरामचन्द्रको इस वेशमें देखकर उनके विपक्षपर रोष न हो, यह सम्भव ही नहीं था। लक्ष्मणजीने देख लिया कि गुह रुष्ट हैं और इनका रोष किसी भी रूपमें व्यक्त हो सकता है। अतएव उस रोषको किसी भी अनर्थकारी रूपमें प्रकट होनेसे पहिले ही रोक देना उचित था।

निषादराज गुहके मनमें रोष था और था भारी विषाद। ऐसी अवस्थामें मनुष्यका चित्त इस योग्य नहीं होता कि किसी अपूर्व ज्ञानको ग्रहण कर सके। उस अवस्थामें तो जो सामान्य मान्यता उस व्यक्तिकी है, उस मान्यताओंको ही अपना कर उसे समझाया जाना सम्भव होता है। इसलिये लक्ष्मणजी भी अब तक प्रारब्ध वादकी सर्व सामान्य मायन्ताको ही प्रमुखता देकर निषादराजको समझा रहे हैं। अभी वे इस बात पर आये ही नहीं कि श्रीराम कर्माधीन नहीं हैं और उनका यह वनवास आदि प्रारब्ध परतन्त्र नहीं है। रोष एवं विषादके आधिक्यके कारण गुहके चित्त-में अभी स्थैर्य नहीं। अभी वे श्रीरामके सम्बन्धमें विचार करते हुए उनके इस वनवासमें हेतु भूत लोगोंके अपराधपर ही अधिक विचार कर रहे हैं और इसीसे उनके चित्तमें रोष है। यह रोष दूर हो जाय तो अपराध किसका है, यह सोचना छोड़ कर वे श्रीरामका चिन्तन करने लगेंगे और श्रीरामका चिन्तन तो चाहे, जिस भावसे किया जाय, सदा सर्वत्र, अन्तः कालुष्यको नष्ट करनेवाला है। श्रीलक्ष्मणलालजी इस अर्धालीसे पूर्व तक प्रारब्धकी प्रमुखता बता कर संसारके लोगोंकी निस्सारता, आदिकी बातें करके यही प्रयत्न कर रहे हैं कि निषादराज अपराध एवं अपराधी—दोष एवं दोषीकी बात सोचना छोड़ दें और अपने चित्तको श्रीराममें लगावें। चित्तकी यह स्थिरता होनेपर ही श्रीरामके वास्तविक रूपका उपदेश किया जा सकता है और स्थिर चित्त ही उसे ग्रहण भी कर सकता है।

इस अर्धालीमें यह बात स्पष्ट रूपसे कह दी गयी, जिसे मूलमें रखकर श्रीलक्ष्मणजी अब तक उपदेश कर रहे थे। वे कह रहे है कि—'अस बिचारि नहीं कीजिये रोसू। इसमें 'अस बिचारि' से तात्पर्य अब तक कहे गये प्रारब्ध वाद एवं तत्वज्ञानके उपदेशके विचारसे है। 'कोई किसीको सुख-दुख देनेवाला नहीं है। सब अपने ही कर्मोंका फल भोगते हैं। संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र-उदासीनकी भावनाएँ प्राणीको उलझानेवाली भ्रम जाल हैं। जन्मसे मरण तकका सब व्यवहार जिसमें काल एवं कर्म प्रेरित सम्पत्ति (सुख) या विपत्ति रूप 'घरनि-धामु-धन-पुरपरिवारू' तथा 'सरग-नरक' आदि जगजाल है, वे सब चाहे वे संसारमें देखे जाते हों या सुने जाते हों शास्त्रों द्वारा, पर हैं सबके सब मोह-मूल। वे परमार्थके साधक नहीं हैं। उनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। जैसे स्वप्नमें कोई राजा अपनेको भिक्षुक हुआ देखे तो जगनेपर उसकी कोई हानि नहीं हुई होती और स्वप्नमें कोई भिखारी अपनेको देवराज इन्द्र हुआ देखे तो जगनेपर उसे कुछ लाभ नहीं प्राप्त होता, वैसे ही विचार करनेपर जगतका सब प्रपंच प्रतीत होता है। ऐसा विचार करके किसीपर रोष मत करो क्यों कि जब सबको अपने ही कर्मका फल भोगना है तो इस श्रीरामके वनवासके लिये दूसरेका क्या दोष। तुम भी जानते हो कि श्रीराम इस भ्रमफंदसे परे हैं। अतएव उनके लिये संयोग-वियोग, सुख-दुःख, राज्य-वन सब समान हैं। उनका न कोई शत्रु है, न मित्र और न उदासीन ही, उनके लिये 'घरनि-धाम-धनपुर परिवारू' का कोई अर्थ नहीं। जब जगतका राज्य एवं वहांकी कंगालावस्था दोनों स्वप्नके योगके समान ही हैं तो उनमें किसीको निमित्त मान कर उसपर रोष करना कहां उचित हो सकता है। अतएव श्रीरामके वनवासका हेतु किसीको मानकर उसपर रोष मत करो।'

'अस बिचारि काहुहि बादि न देइअ दोसू।' भी इसके साथ कहा गया है 'केवल रोष ही छोड़ दो, इतना ही पर्याप्त नहीं है। किसीने अपराध किया है, किसीका दोष है, यह बात भी इन उपरोक्त बातोंको विचार करके मनसे निकाल दो। क्योंकि दोष देना 'बादि' व्यर्थ—अकारण है। जगतका राज्य जैसे स्वप्न है, वैसे ही उस राज्यसे वनवास भी स्वप्न ही है। ऐसे स्वप्नोंकी-सी घटनामें जो निमित्त प्रतीत होते हैं,

उनकी प्रतीति भी भ्रम है। प्रारब्धका विचार करें, तो भी किसीके सुख-दुःखका कारण उसीके कर्म हैं, दूसरे नहीं दूसरे तो निमित्त हैं और इस निमित्त होनेमें उनका कोई अपराध, कोई दोष नहीं। फिर जब सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति ही स्वप्न भोग समान है तो क्या निमित्त और क्या दोष। अतः किसीका दोष है, इस व्यर्थ भावको भी मनसे दूर कर दो। इस प्रकार यह अर्धाली निषादराजको चित्त स्थिर करनेके लिये स्पष्ट रूपसे कही गयी है।

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥ अयो० ९२।२

(जगतके) सब (लोग) मोह रूपी रात्रिमें सोनेवाले हैं। (सोते हुए यह प्रपंच रूप) अनेक प्रकारका स्वप्न वे देख रहे हैं।

अब तक श्रीलक्ष्मणजीने जो कुछ कहा है, उस सबके विषयमें केवल बहुमतका तर्क ही विरोधमें आता है। सम्पत्ति-विपत्तिको ही प्रधान मान कर जगतके छोटे बड़े, पण्डित, मूर्ख सबकी चेष्टा है। 'धरनि धाम-धन-पुर परिवारू' की काल कर्म प्रेरित सम्पत्ति-विपत्ति तथा स्वर्ग-नर्कको छोड़ दें तो संसारका व्यवहार रह ही नहीं जाता। सभी लोग तो इसी परिधिमें व्यवहार कर रहे हैं और लक्ष्मणलाल कहते हैं कि 'जहं लगि व्यवहारू' वह सब 'मोह मूल परमारथ नाहीं' तो यह सब ठीक कैसे हैं? क्या सभी लोग मोह-ग्रस्त हैं? इसी शंकाका उत्तर इस अर्धालीमें है। इसमें मोहके रूप तथा उसकी व्यापकताको स्पष्ट किया गया है।

'सब सोवनि हारा' एक-दो, दस-बीस, सौ-सहस्र नहीं, प्रायः जगतके सब प्राणी सो रहे हैं। वे जागृत नहीं हैं, केवल जागृतसे प्रतीत मात्र होते हैं। सोते हैं 'मोह निसा' में। रात्रिमें जब अन्धकार प्रकाशको आच्छन्न कर लेता है तो प्राणियोंके भीतर तमोगुण प्रधान होकर उनके सत्व एवं रजोगुणको दबा लेता है। इस प्रकार समष्टिमें तमोगुणकी प्रधानतासे रात्रि होती है और व्यष्टिमें—व्यक्तिमें तमोगुणकी प्रधानतासे उसे निद्रा आती है। व्यक्ति यदि प्रयत्न करें, साधन-ध्यान करे या कोई अन्य कार्य करें और इस प्रकार अपनेमें सत्वगुण या रजोगुणको प्रधान बनाये रहे तो वह रात्रि भर जागरण कर सकता है। वह निद्राको नहीं आने दे सकता।

अधिक प्रयत्न करके वह कुछ ऐसे लोगोंको भी जगाये रह सकता है, जो उसके समीप एवं उसके अनुकूल हों। लेकिन कोई व्यक्ति कितना भी प्रयत्न करें, वह यह नहीं कर सकता कि विश्वमें रात्रि न हो। रात्रिके स्थानपर दिन बना रहे। वह यह भी नहीं कर सकता कि संसारके सभी प्राणियोंको एक रात जगाये रखे। पूरे 'संसारको तो क्या, एक नगरको भी एक रात जगाये रखना बहुत कठिन है। निद्रा व्यक्तिके अधिकारकी, व्यक्तिकी वस्तु है और प्रयत्न करके व्यक्ति उसे दूर कर सकता है। बहुत प्रयत्न—प्रबल साधना करके वह निद्राजयी भी हो सकता है, किन्तु रात्रि-का होना समष्टिकी वस्तु है। व्यक्तिका उसपर अधिकार नहीं। रात्रि तो अपने समयपर होगी ही। इस अर्धालीके मर्मको समझनेके लिए ये बातें ध्यानमें रखनेकी हैं।

'गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥' अर० १४।३

'जो कुछ इन्द्रियोंसे प्रतीत होता है या जहाँ तक मन सोच सकता है, वह सब माया है।' यह बात आगे भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजीसे बतावेंगे। सम्पूर्ण जगत मायिक प्रपंच है। मायासे ही इसकी प्रतीति है। इसकी भावरूप सत्ताका कारण माया है। लेकिन यह माया जीवकी माया नहीं है। एक जीव चाहे जितना प्रयत्न करें, संसारमें प्रलय नहीं होगा। समस्त जीवोंको प्रतीत होनेवाला यह जगत लुप्त नहीं हो जायगा। यह तो 'मोह निसा'—मोहकी रात्रि है। रात्रि तो किसीके दूर होनेसे रही। यह मोह कि संसारमें नाना रूप, नाना व्यक्ति, नाना घटनाएँ हैं और होती हैं, बना ही रहेगा। जो ज्ञानी है, जो जागा हुआ है, उसे भी मनुष्य-मनुष्य ही प्रतीत होगा और वृक्ष ही लगेगा। वह रोटीके धोखेमें पत्थरकी चट्टान नहीं चबाने लग सकता। रात्रि है, यह बात तो सोने जागनेवाले सबके लिये एक-सी है। वैसे ही विभिन्न रूपों एवं घटनाओंसे पूर्ण संसार है, यह तो सबको प्रतीत होता रहेगा। क्योंकि यह भेद रूप प्रतीति, यह सृष्टि-विस्तार जीवकी सृष्टि नहीं है। यह तो समष्टि कर्ताकी वस्तु है। यह 'मोह निसा' तो सृष्टिकी कारण भूता अविद्या है। भगवान्की योग मायाका ही एक छायात्मक रूप है यह।

'मोह निसा' तो होती है और है। लेकिन इस मोह निशामें 'सोवनि हारा' सबके सब प्राणी सो रहे हैं। सभीके भीतर मोहकी प्र हो गयी है और सब मोह ग्रस्त होकर इस 'मोह मूल' जगत जाल व्यवहार कर रहे हैं।

'मैं अरु मोर तोर तें माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।। अर०

'यह मैं हूँ, यह मेरा है। यह तू है, यह तेरा है।' यह भाव ही ज को मोह ग्रस्त करनेवाली माया—अविद्या है। यही भाव जीवकी नि है, जिसने प्रायः सभी जीवोंको अपने वशमें कर रखा है। इसी मो वश 'सब सोवनि हारा' हो गये हैं। पदार्थ है, उनका विभेद है। घट होती हैं। परिस्थितियाँ बदलती हैं। लेकिन उन पदार्थोंमें यह मेरा व यह दूसरेका भाव होनेके कारण फिर घटनाओं एवं परिस्थिति सम्पत्ति-विपत्ति बुद्धि होती है। इस मैं और मेरा भावके कारण ही ' लगि व्यवहारू' है, उससे सब लोग संसक्त हैं। यही जीवकी निद्रा है इस प्रकार जगतके नानात्व प्रपंच रूप मोह निसामें जो कि समष्टि सृष्टि है, मैं और मेरा आदिके स्वपर भाव रूप मोहनिद्रामें मग्न होक प्रायः सब लोग सो रहे हैं। सबकी विचार शक्ति उपहत हो रही है। को भी नहीं सोच पाता कि वह जो प्रयत्न कर रहा है, उसका अन्तिम उद्देश क्या है और वह उद्देश्य इस प्रयत्नसे सिद्ध भी होगा या नहीं।

'देखहिं सपन अनेक प्रकारा।'

वैसे जीवोंकी प्राणियोंकी इन मोह ग्रस्त नाना प्रकारकी चेष्टाओं का भी कोई अर्थ नहीं है। ये चेष्टाएँ तो स्वप्नकी क्रियाएँ हैं। ये प्राणी वस्तुतः कुछ कर नहीं रहे हैं। ये तो केवल स्वप्न देख रहे हैं। उनके स्वप्न नाना प्रकारके हैं। कोई स्वप्न सुख देता है, कोई दुख। कभी वे अपनेको वैभव सम्पन्न देखते हैं और कभी दरिद्र, कभी स्वर्गमें देखते हैं और कभी नर्कमें, कभी स्वस्थ देखते हैं, कभी रोगी। उनका यह सब देखना और कहना स्वप्न ही है।

हम-आप जानते हैं कि स्वप्न देखनेवालेका स्वप्न उस स्वप्न द्रष्टा

या वहाँकी परिस्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। वैसे रात्रिमें जागनेवाले भी उस समय कोई चेष्टा करना पसन्द नहीं करते; किन्तु वे कुछ करना चाहें तो सोते आदमियोंके वस्त्रादिमें उलट-फेर कर सकते हैं; पदार्थोंको स्थानान्तरित कर सकते हैं। यही बात जगतके विषयमें है। स्वप्न देखनेवाले इन निद्राग्रस्त जीवोंके प्रयत्न सृष्टिकर्ताकी सृष्टि एवं उनके विधानमें कोई परिवर्तन कर नहीं पाते; किन्तु कोई प्रबुद्ध महापुरुष अपने संकल्पसे जगतकी घटनाओं एवं सामान्य जीवोंके सुख-दुःखादि प्रारब्ध विधानोंमें बहुत कुछ उलट-पुलट कर सकता है। वैसे इस प्रकारके प्रयत्नकी इच्छा सहज ही ऐसे महापुरुषोंमें होती नहीं है।

इस प्रकार यहाँ तक जगतके मोहरूप तथा समस्त प्राणियोंके मोह ग्रस्त रूपका वर्णन हुआ। जगतकी सभी चेष्टाएँ स्वप्न चेष्टाएँ हैं, यह लक्ष्मणजीने बताया। अब आगे इस निद्रासे जागरणकी बात कही जायगी।

एहिं जग-जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी॥ अयो० ९२।३

इस जगत रूप रात्रिमें परमार्थ-रत तथा प्रपंचसे विरक्त योगीगण जाग रहे हैं।

'जग जामिनि' अर्थात् संसार रूपी रात्रि, इससे पहिले कहा गया 'मोहनिसा' अर्थात् मोह रूपी रात्रि और अब कह रहे हैं 'जग-जामिनि' लेकिन पहिले ही जगतको मोह मूल कह चुके हैं 'जग जाला' भी कहा गया है और वहाँ जालका अर्थ उलझानेवाला तो है ही, साथ ही मायिक भी है। इससे पूर्वकी अर्धालीकी व्याख्यामें हम बता आये हैं कि जगतका यह नानात्व रूप, इसके पदार्थ, इसकी घटनाएँ 'मोह निसा' होनेपर भी व्यक्तिका मोह नहीं है। यह तो समष्टिकर्ताका सृजन है। इसी बातको यह अर्धाली 'जग-जामिनि कह कर अधिक स्पष्ट कर देती है। 'मोह निसा' में जो निशा है वह क्या है? इस प्रश्नका उत्तर 'जग-जामिनि' में है। वह समस्त जगत ही निशा है। यही मोह रूप है; क्योंकि यह 'मोह-मूल है।

इस मोह रूपी जगत-रात्रिमें केवल योगी ही जागते हैं। नहीं तो 'मोह-निसा' 'सब सोवनि-हारा' ही हैं। योगीका अर्थ दोनों ही हो सकता

है, एक तो परमतत्वसे युक्त हुए—भगवत्प्राप्त हुए लोग और दूसरे वे लोग जो उसे पानेके प्रयत्नमें सच्चाईसे लगे हैं। अर्धालीके उत्तरार्धमें इसीसे उस योगीका लक्षण बता दिया गया। योगी कौन है? कैसे जाना जाय? कब कोई योगी कहला सकता है? इनका उत्तर है—'परमारथी प्रपंच वियोगी।'

परमार्थी—परमार्थको प्राप्त या परमार्थको प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगा हुआ। लेकिन ऐसा अर्थ करनेपर तो पुनरुक्ति दोष होगा; क्योंकि तब योगीका ही यह परमार्थ भी पर्यायवाची होगा। योगी कहनेके पश्चात् परमार्थी कहनेकी फिर क्या आवश्यकता थी? अतः परमार्थीका अर्थ है कि चाहे वह परमतत्वको प्राप्त हो या प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगा हो, पर अब परमतत्व ही उसका एक मात्र प्राप्य रह गया हो। उसके लिए एक मात्र ध्येय, प्राप्य, आकर्षण परमार्थमें ही रहा हो और उसके मन 'वाणी, शरीरकी समस्त प्रवृत्ति केवल परमार्थके लिए ही हो।

'प्रपंच-वियोगी' कहकर 'परमारथी' के उपरोक्त तात्पर्यको पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया है। प्रपंच रूप संसारमें उसका कहीं कोई योग, कहीं कोई आसक्ति, कहीं कोई स्वार्थ-मूलक प्रवृत्ति न रह गयी हो। एक सामान्य स्थिति यह होती है कि साधक सच्चे हृदयसे चाहता है, पूरा श्रम करता है; किन्तु इतना होनेपर भी सफल नहीं हो पाता मन तथा इन्द्रियोंको पूर्णतः विषयोंसे पृथक करनेमें ये बार-बार उसे विषयोंकी ओर ले जाते हैं मन बार-बार संसारके लोगों, पदार्थों या घटनाओंका सकारण या अकारण चिन्तन करने लगता है। ऐसा साधक योग अथवा परमार्थके लिए प्रयत्नशील नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु जैसे पुराने शराबी या पुराने अफीमचीका अभ्यास बहुत चेष्टा करनेपर भी अनेक बार उसे विवश कर देता है, वैसे ही पूर्वजन्मोंके दीर्घकालीन संस्कारोंके कारण ऐसा साधक प्रयत्न करते हुए भी पूर्णतः सफल नहीं हो पा रहा है। लेकिन जबतक ऐसी स्थिति है, तबतक वह परमार्थी या योगी नहीं हुआ है। अभी वह इस 'मोह-निसा' के 'सोवनिहारा' वर्गमें है। अवश्य ही वह 'जग जामिनि' में जागनेका प्रयत्न कर रहा है; किन्तु अभी जागा नहीं है।

'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'

योगदर्शन

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।' गीता ६।३५

मन संसार एवं विषयोंका चिन्तन छोड़ दे, इसका एकमात्र उपाय अभ्यास तथा वैराग्य ही योगदर्शन एवं गीतामें भी कहा गया है। नाम जप, कीर्तन, पाठ, पूजा, ध्यान, प्राणायाम आदि जो भी अपना साधन हो उसे बराबर करते रहना अभ्यास है। मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे बलपूर्वक हटाकर उसे अपने साधनमें लगाते रहा जाय। इस प्रकार पहिले अभ्यास और तब वैराग्य। वैराग्य होता है विचारके द्वारा। स्वर्ग एवं ब्रह्मलोक तक संसारके सभी भोग दुःख रूप हैं मोह-मूल हैं, यह सब जग-जाल है, इस प्रकार बराबर विचार करनेसे बुद्धिमें जो विषय-सेवन तथा शरीर एवं इन्द्रियोंकी सुख-सुविधाका मोह है, वह धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है।

'दीर्घकाल नैन्तरीय सत्कार सेवित दृढ़भूमिः। योगदर्शन

दीर्घकाल तक बिना ऊबे, उकताये, निरन्तर बिना बीचमें छोड़े नियम पूर्वक ठीक समयपर करते रहनेसे और वह भी सत्कार पूर्वक— सावधानी एवं आदर बुद्धिसे नियम पालन भरको उपेक्षा पूर्वक नहीं, आदरसे साधन करनेपर फिर साधनकी भूमि दृढ़ हो जाती है। फिर मन वहां लग जाता है।

मनका स्वभाव है कि पहिले नवीन विषयमें लगना नहीं चाहता। वह वहांसे भागता है, जैसे छोटा बच्चा मुखमें अन्न देनेपर बार-बार थूक देता है। लेकिन बलपूर्वक बार-बार दीर्घकाल तक मनको वहाँ लगाया जाय तो वह फिर वहाँ इस प्रकार लग जाता है कि वहाँसे हटना नहीं चाहता। जैसे पशुको एक खूंटेसे हटाना हो तो पहिले दूसरा खूंटा गाड़ना पड़ता है, अन्यथा पहिले खूंटेपर वह भाग ही आवेगा, इसी प्रकार मनको पहिले संसारसे हटाकर परमार्थमें लगानेका आश्रय इष्टका स्वरूप, नाम गुण आदि चिन्तन देना चाहिये और वहाँ लगाये रहनेका निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये। इस अभ्यासके साथ संसारके विषयोंकी नश्वरता, दुःखरूपता आदिका बार-बार विचार करके बुद्धिमें इनका जो मोह है, उसको दूर कर देना चाहिये। संसारके विषयोंसे अरुचि, सुख-दुखादिसे उदासीनता ही वैराग्य है जो विचारके द्वारा सम्पन्न होगी।

साधनका अभ्यास जब दीर्घकाल निरन्तर सत्कार पूर्वक होत
वह अभ्यास परिपक्व हो जाता है। फिर मन संसार एवं विष
जाकर बराबर साध्यके चिन्तनमें ही लगा रहता है। यही परिपक्व
परमार्थी स्थिति है। इसी प्रकार वैराग्यकी परिपक्वावस्था कि
इन्द्रियके किसी भोगके प्रति सर्वथा अरुचि, सभी सुख-दुखादिको
उदासीनता साधककी 'प्रपंच वियोगी' अवस्था है। ये दोनों अव
अलग-अलग नहीं हैं। परमार्थी प्रपंच वियोगी होगा ही, क्यों कि अ
और वैराग्य दोनों साथ चलेंगे, तभी मनोनिरोध होगा और तभी
'योगी' बन सकेगा।

इस प्रकार अभ्यास एवं वैराग्यकी पूर्णतः परिपक्वावस्था है
मार्थी एवं प्रपंच वियोगी और इन्हें प्राप्त कर लेनेवाला ही योगी है।
योगी ही इस 'जग-जामिनि' में जाग रहा है। 'मोह-निसा' का घोर
उसे ही आच्छन्न करनेमें समर्थ नहीं होता।

जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब विषय बिलास बिरागा॥ अयो० ९

जीव जागृत हो गया, यह तभी समझना चाहिये, जब उसे विषयं
समस्त बिलासोंके प्रति वैराग्य हो जाय।

'यहि जग जामिनि जागहि जोगी।' के द्वारा बताया गया कि
'मोह निसा रूपी संसारमें जागृत-सावधान रहनेवाले लोग केवल यो
ही हैं। योगी वे ही हैं जो 'परमारथी' और 'प्रपंच-वियोगी' हैं। अब इस
बातको और अधिक स्पष्ट करते हैं।

कोई योगी है या नहीं, इसकी पहिचान क्या? 'मैं मन नहीं हूँ,
इन्द्रिय नहीं हूँ। मन और इन्द्रियोंके धर्म मुझमें नहीं हैं। मैं इन मन-इन्द्रि
तथा इनके विकारोंसे परे एक अद्वितीय नित्य निर्विकार शुद्ध चिद्घन रू
हूँ।' इस प्रकारका बौद्धिक निश्चय करने तथा कहनेवाले आज बहुत हैं।
ऐसे लोगोंमें विषय-लोलुपता' अनाचार; लम्पटताकी बहुलता है, यह भी
आज कहा ही जा सकता है। ज्ञानी बनकर या भगवान्‌के नामपर अपने
समस्त पापोंका निर्लज्जता पूर्वक समर्थन आज होता है। ऐसे लोग भी
अपनेको 'परमार्थी' कहते हैं। वे 'प्रपंच वियोगी' भी बनते हैं। तब क्या
ये ही इस मोह-निसामें जागनेवाले योगी हैं।

श्रीलक्ष्मणजीने आजके इन ज्ञानियों एवं दम्भी भक्तोंको जो उत्तर दिया है, उसमें सन्देह करने या यहाँ शब्द छल करनेको तनिक भी स्थान नहीं है। जागरण-प्रबोध-ज्ञानकी इतनी स्पष्ट परिभाषा कदाचित ही अन्यत्र मिले। यद्यपि अनेक स्थानोंपर ऐसे वाक्य मिलते हैं—

'किमिच्छन् कस्य कामाय देह पुष्णाति लम्पटः।'

भला जो ज्ञानी है, जिसकी आत्म-बुद्धि एक अद्वय सच्चिदानन्द घन व्यापक तत्वमें है, वह किसी इच्छासे किस काम सुखके लिये लम्पट-की भाँति शरीरका पोषण करेगा? किन्तु श्रीलक्ष्मणजीने तो जागरणकी परिभाषा ही बड़ी स्पष्ट कर दी—जीवको तभी जागृत प्रबुद्ध ज्ञान सम्पन्न हुआ समझना चाहिये, जब उसे विषयोंके सम्पूर्ण विलासोंसे वैराग्य हो जाय।

एक व्यक्ति बहुत प्यासा हैं, अब उसे आप संगीत सुनाने लगें तो क्या उसे वह गायन आकर्षित कर सकेगा? बिना किसी दवावके वह वहाँ बैठना चाहेगा। जो व्यक्ति गायन गोष्ठीमें दूरसे चलकर बार-बार आता है, घन्टों बैठा रहता है, वह यदि कहे कि उसे संगीतसे तनिक भी रुचि नहीं तो उसकी बातको आप सत्य मान लेंगे?

विषयोंका सेवन सदा विषयोंमें सुख-बुद्धि होनेपर ही होता है। जो नालीमें पड़े-सड़े दाने चुन-चुन कर खा रहा है, वह भूखा नहीं है या उसके पास स्वादिष्ट भोजनका भण्डार भरा है, इस झूठका कोई सिर-पैर हैं? ऐसा झूठ क्या उसे क्षुधासे बचा देगा? विषय सेवन तो इन्द्रिय तृप्ति-के द्वारा सुख पानेका वैसा ही प्रयास है, जैसा गन्दा नालीसे सड़े दाने चुनकर क्षुधा तृप्तिका यत्न। जो लोग ऐसे प्रयासमें लगे हैं, उनके ज्ञानका दम्भ तो एक प्रवञ्चना है।

जीवके जागरणका क्या अर्थ? वह प्रबुद्ध हुआ, उसने ज्ञान पाया तो क्या जाना? क्या समझा उसने? यही तो कि यह जगत 'मोह-निसा' है। यह जाल है। इसकी घटनाएँ और इसके सुख-दुःख स्वप्नके भोगके समान हैं। अब यदि वह सचमुच यह जान गया तो क्या स्वप्नके सुखोंके लिये उसकी प्रवृत्ति होगी? क्या स्वप्नके दुःखके लिये वह रोयेगा? एक

व्यक्ति चाहे जितना प्यासा क्यों न हो; किन्तु यदि वह जानता है कि आगे मरुस्थल है और वहां सूर्यकी किरणोंमें मृगजलका भ्रम हो रहा है, तो क्या वह जल पानेके लिये उधर एक पद भी जानेकी इच्छा करेगा ? लेकिन जो जलकी इच्छासे उधर चला जाता हो और कहता भी जाता हो कि मैं जानता हूँ कि वहाँ जल नहीं है, वहां मरुस्थल है उस व्यक्तिका 'मैं जानता हूँ' वाला जानना क्या सचमुच ज्ञान है ? यह ज्ञान क्या उसे मरुस्थलमें जलने और तड़पनेसे बचा सकता है ? आजका दम्भपूर्ण बौद्धिक ज्ञान ऐसा ही मिथ्याज्ञान है और उससे आवागमनकी निवृत्ति तो दूर रही, पापपरायण होनेसे नरककी ही प्राप्ति होती है ।

'नाम-निरूपण' की भूमिकामें 'नामका साक्षात्' लिखते समय इस विषयपर पर्याप्त लिख चुका हूँ, अतः यहां उसका संक्षिप्त विवरण ही उपयुक्त है । हमें यह समझ लेना चाहिये कि जो नित्यमुक्त: निर्विकार, शुद्ध व्यापक, अद्वितीय 'सच्चिदानन्द सत्ता है, वह तो कभी न बन्धनमें थी और न उसे मुक्त होना है । ज्ञान उसीको होगा जो अज्ञानमें था । जगेगा वह जो सोया था । मुक्त वहीं होगा जो बन्धनमें है यह संसार हमारे आपके सम्मुख है । इसके सुख-दुःख हमें आपको होते हैं । अतः शास्त्रके अनुसार जन्म-मृत्यु भी हमारे आपके हैं । और स्वर्ग-नरक भी हम आप आते-जाते हैं । शब्दका झगड़ा तो व्यर्थ है । हम-आपमें जिस सत्ताको सुख-दुख होता है, जो स्वर्ग-नरक जाती है, वही सत्ता बन्धनमें है । वही इस 'जग-जामिनि' में सो रही है; क्योंकि यह 'अनेक प्रकारा स्वप्न' वही देख रही है । उसीको जागना है । उसीको इस आवागमनसे मुक्त होना है ।

इस जगतका आधार क्या है ? पहिले ही जगतको 'मोह-मूल' कह आये हैं मोह ही इस सबका हेतु है । शरीर एवं इन्द्रियोंमें मोह होनेसे ही उनके सुखकी इच्छा होती है । शरीरकी आसक्तिसे ही विषयप्रवृत्ति होती है । कोई भी पाप हो नहीं सकता, यदि हममें इन्द्रियासक्ति न हो । पापकी प्रवृत्ति ही शरीर एवं शरीरके सुखके मोहसे होती है । जो इस 'मोह-निसा' से जाग गया है, उसमें मोह तो होनेसे रहा । जब मोह नहीं है तो उसके लिये अपना शरीर तथा इस शरीरके सम्बन्धी ऐसे ही हैं,

जैसे मरे हुए जीवके लिये छूटा शरीर तथा उसके सम्बन्धी। अब शरीरके सुखके लिये उसकी प्रवृत्ति हो कैसे सकती है। इन्द्रिय एवं उसके विषयोंकी प्राप्ति अप्राप्तिका जब उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा, जब इन्हें वह मोह जानकर इनसे जाग गया, तो फिर इनके सुख-दुःखकी प्राप्ति या अप्राप्ति के लिये उसमें कोई चेष्टा हो यह शक्य कैसे है।

पाप सदा शरीराशक्तिसे ही होते हैं। विषय प्राप्तिका यत्न इन्द्रिय सुखकी इच्छासे ही होता है। इन्द्रिय सुखकी इच्छा ही न हो, यदि शरीरमें आसक्ति तथा अहं भाव न हो। अतएव जिससे पाप होते हैं, जिसकी प्रवृत्ति शरीर एवं इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये हैं, वह तो 'मोह-निसा' में स्वप्नकी प्रवृत्ति करनेवाला है। कोई स्वप्न भी देखता रहे और जागता भी रहे, यह दोनों बात एक साथ कभी नहीं हो सकती। अतएव ऐसा व्यक्ति चाहे जितना बड़ा विद्वान हो, चाहे जितना महान प्रतिभाशाली हो, चाहे जैसी बातें कहे और चाहे जैसा बौद्धिक निश्चय उसका हो; किन्तु वह है स्वप्न देखने वाला। वह जागा हुआ योगी प्रबुद्ध ज्ञानी सर्वथा नहीं है। अतः उसकी प्रतिभा एवं उसका बौद्धिक निश्चय उसे नरक ले जानेसे बचा नहीं सकते।

'जब सब विषय बिलास बिरागा। अयो० ९२।३

जब सभी विषयोंसे वैराग्य हो जाय--इसलोकमें शरीरके सुख दुःख सम्पत्ति-विपत्ति, यश-अपयश एवं परलोकमें स्वर्ग या नर्ककी प्राप्ति आदिसे सर्वथा मन उसी प्रकार तटस्थ हो जाय, जैसे स्वप्नके दृश्योंके सम्बन्धमें हम जागृति होनेपर हो जाते हैं। यहां यह नहीं कहा जा रहा है कि प्रयत्न पूर्वक यह वैराग्य प्राप्त करना चाहिये या इसे बनाए रखना चाहिये। वैसे इस वैराग्यको पानेका भरपूर प्रयत्न करना चाहिये और उसे सावधानीसे सुरक्षित भी रखना चाहिये, पर यह तो साधककी स्थिति है। उसे तो 'परमारथी प्रपंच वियोगी, के द्वारा पहिले कह चुके। यहां तो सिद्धावस्था का वर्णन कर रहे हैं। यहाँ कह रहे हैं कि जीवको तब जागा हुआ समझो, तब उसे प्रबुद्ध या ज्ञानी जानो, जब उसे सभी विषय-विलासोंमें वैराग्य

हो जाय। यह वैराग्य सहज वैराग्य है। जैसे कोई स्वप्नमें देखे हु
पानेके लिए जागनेके पश्चात् नहीं दौड़ता, जैसे कोई स्वप्नमें लगी
बुझानेके लिये जागनेपर घड़े नहीं उठाता, वैसे ही इस 'मोहनिस
जाग गया है, उसे सब विषय-विलास स्वप्नके प्रन्तार है, यह स्पष्ट
जाता है और तब उन स्वप्न दृश्योंके प्रति उसका सहज वै
जाता है।

'सब विषय विलास' को तो पहिले ही स्पष्ट कर चुके हैं—'
विपतिके घेरेमें आनेवाले' 'घरनि-धामु-धनु-पुर-परिवारू' और
नरकु' आदि 'जहं लगि जग जालू' के द्वारा। इसी सबको 'मोह
कहा और यही 'जग-जामिनि है' अतएव जो योगी हो गया जो ज
जाग गया उसमें इन सबके प्रति सहज वैराग्य स्वाभाविक ही
जिसमें यह सहज वैराग्य नहीं है, वह जागा हुआ नहीं है।

एक कुतर्क हो सकता है—न जगा तो हानि क्या? लेकिन
कुतर्क ही। क्योंकि श्रुति कहती है—'ऋते ज्ञानान्न-मुक्तिः' ज्ञानके
मुक्ति नहीं होती। ज्ञान क्या? स्वप्न देखने वालेको स्वप्नमें यदि य
हो कि मैं स्वप्न देखता हूँ तो वह अवान्तर स्वप्न है। वह ज्ञान
क्योंकि इस ज्ञानसे कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ उसका स्वप्न देखन
स्वप्नके सुख-दुःख दूर नहीं हो जाते। ज्ञान तो है उसका जागजाना
जागरण उसे स्वप्नके दुःखोंसे स्थायी छुटकारा देता है। इसी
ब्रह्मात्मैक्यका बौद्धिक ज्ञान तथा संसारकी नश्वरता, मिथ्यात्वका
का निश्चय भी एक प्रकारकी मानसिक क्रिया है, दूसरी मानसिक क्रि
के समान, अतः यह भी 'देखहिं सपन अनेक प्रकारा' में से एक प्रक
स्वप्न ही है। ऐसे ज्ञानसे आवागमनके चक्रसे छुटकारा नहीं हो सक
क्योंकि जन्म-मरणका हेतु है शरीराशक्ति। इस आशक्तिके कार
जगतमें नाना प्रवृति होती है और उन आसक्ति संयुक्त वृत्तियोंके सं
चित्तपर पड़ते हैं। ये संस्कार ही जन्म-मरणके कारण हैं। ज
शरीरासक्ति है उस आसक्तिके योगसे प्रवृत्ति भी होगी और ऐसी प्रवृ
संस्कार भी चित्तपर पड़ेंगे ही। इस प्रकार जब शरीरासक्ति है, संस
हैं चित्तपर, तो वे जन्म-मरण स्वर्ग-नरकको देनेवाले भी बनेंगे ही। अ
सक्ति ही जीवको इन संस्कारोंसे छुड़ाती है। आसक्ति यदि शरी

शरीरके भोगोंमें न हो तो फिर उन भोगों-विषय विलासोंके लिये प्रवृत्ति भी न होगी। अनासक्तिका लक्षण ही है विषय-प्रवृत्तिकी हीनता। यही स्थिति जीवको प्रबुद्ध करती है। जीवका यही सच्चा ज्ञान है जो उसे भव-बन्धनसे छुड़ाता है। 'मोह-निसा' से जागा हुआ वही योगी जीव है, जिसमें समस्त विषय बिलासोंसे सहज वैराग्य सिद्ध हो चुका हो।

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥ अयो० ९३।५

(जब) ज्ञान हो जानेसे मोहका भ्रम दूर हो जाता है, तब श्री रघुनाथजीके श्रीचरणोंमें (जीवका) अनुराग होता है।

इससे पूर्व तक ज्ञानका वर्णन करके अब भक्तिका वर्णन करते हैं। भक्ति दो प्रकारकी मानी जाती है—परा और अपरा। पराभक्ति ही वस्तुतः भक्ति है। अपरा या गौणी भक्ति साधन रूपा है। वह जीवको परा भक्ति तक ले जानेवाली है और इसीसे उसे भी भक्ति कहा जाता है। श्रीलक्ष्मणजी यहां निषादराजको परा भक्तिका ही स्वरूप समझा रहे हैं। यह पराभक्ति ज्ञानके पश्चात् प्रारम्भ होती है। जहां तत्व ज्ञानकी पूर्णता होती है, वहांसे पराभक्तिका प्रारम्भ होता है। भगवान्ने गीताके अठारहवें अध्यायमें 'अमानित्व, अदम्भित्व' आदि ज्ञानके साधन बताते हुये ज्ञानकी पूर्णताका वर्णन करके तब इस ज्ञानोत्तर भक्तिकी प्राप्ति 'मद् भक्तिं लभते परां' कह कर किया है।

अपरा या गौणी भक्ति तो 'प्रथम भगति संतन कर संगा।' आदि साधनरूपा भक्ति है। 'श्रवनादिक नव भक्ति' कह कर श्रीराघवेन्द्रने भागवतकी 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' प्रभृति नवधा भक्तिका भी उल्लेख किया है, किन्तु उपदेश अधिकारीके अनुसार ही दिया जाता है। भला राम-सखा निषादराज गुहको गौणीसाधन रूपा भक्तिका कोई क्या उपदेश देगा। वे तो पहलेसे श्रीरामके गुण-श्रवण, उनके कीर्तन-वर्णनके रसिक हैं। उनके हृदयमें सदा श्रीरामका स्मरण नहीं रहता होगा यह कहनेका दुस्साहस भला कौन कर सकता है। पाद-सेवन तो उनकी अपनी वस्तु है, क्योंकि श्रीरामभद्रके बचपनके वे आखेट-सखा हैं। अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन ये पांचों उनमें पूर्ण हैं। सख्य तो उन्हें

प्राप्त ही है और वह इतने स्पष्ट रूपमें प्राप्त है कि गुरु वशिष्ठजीने भरत लालजीको उनका परिचय राम-सखा कह कर दिया। जहां इस प्रकार घनिष्ठ सख्य प्राप्त है, वहां अर्चन-बन्दनकी अप्राप्ति शक्य ही नहीं, क्योंकि सख्यका स्वरूप ही सखाका सम्मान एवं सत्कार है। वैसे इस प्रसंगसे पूर्व श्रीरामके शृंगवेरपुर पहुँचनेका समाचार पाते ही निषादराजने जो अर्चन, बन्दन, दास्य, आत्मनिवेदन प्रगट किया है, वह भी पर्याप्त है उनकी इन साधन रूप भक्ति सोपानोंकी पूर्णता बतलानेके लिये—

'यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई।
मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा।
मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा॥
करि दंडवत भेंट धरि आगें।
प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें॥ अयो० ८७।१-३
'देव धरनि धनु धामु तुम्हारा।
मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥ अयो० ८७।६

समर्पणकी पूर्णता हो गयी यहां। 'धरनि धामु धनु पुर परिवारू' ही तो लौकिक जग-जालका विस्तार है और उसे निषादराजने अपने समेत समर्पित कर दिया। श्रीरामने 'कहेहु सत्य सब सखा सुजाना।' कहकर उस आत्मसमर्पणको एक प्रकारसे स्वीकृति दे दी है। इस प्रकार निषादपति पहिलेसे ही साधन रूपा भक्तिके नौ साधनोंसे पूर्ण सम्पन्न हैं। अब उन्हें उन साधनोंका उपदेश देना आवश्यक नहीं है। आवश्यक इतना ही है कि तुम्हें जो—

राम सीय महि सयन निहारी।
भयउ बिषाद निषादहि भारी॥ अयो० ९१।२

हुआ है, वह दूर हो जाय। श्रीरामके परात्पर स्वरूपका बोध उन्हें हो, इसीलिये जीवोंके परमाचार्य श्रीलक्ष्मणलालजीने उनपर यह कृपा की है। ज्ञानोपदेशके द्वारा जगत एवं उसके भोगोंका मिथ्यात्व-स्वप्न योग तुल्यत्व या भावरूपत्व बता कर इस मोहमूल 'जग-जामिनि' में जीवको जागना चाहिये और वह जागना क्या है, कैसे हो, आदि समझाया उन्होंने।

इस ज्ञानोपदेशसे जब ज्ञानोदय होता है, जब बुद्धि स्थिर एवं चित्त निर्मल होता है, तभी वह भक्तिके तत्त्वको ग्रहण कर पाता है। अतः ज्ञानकी पूर्णता 'जब सब विषय विलास बिरागा बताकर अब भक्तिकी प्राप्ति बतलाते हैं।

'होइ बिबेकु मोह-भ्रम भागा।' (अयो० ९३।५)

जब विवेक-ज्ञान हो जानेसे मोहका भ्रम भाग जाता है—दूर हो जाता है। यहाँ 'मोह-भ्रम शब्द विचारणीय है। यदि 'मोह-भ्रम भागा' का अर्थ मोहरूपी भ्रम भाग जाता है, करें तो प्रश्न उठेगा कि 'मोह-निसाको दूर कर देना तो जीवके वशका है नहीं। ज्ञान होनेपर भी ज्ञानीके सम्मुखसे यह 'मोह-मूल' जगत कहीं भाग तो नहीं जाता। शरीर-रक्षाके लिये भोजनादि. मर्यादा-रक्षाके लिये शास्त्रीय कर्तव्य पालन लोक कल्याणके लिये उपदेशादि वह भी करता ही है। यदि मोह ही भाग जाय तो 'मोह-मूल' जगत रहेगा कैसे? जब जगत रहा ही नहीं तो जगतकी कोई प्रवृत्ति कैसी? अन्ततः ज्ञानीका शरीर भी तो प्रारब्धसे ही प्राप्त हैं। प्रारब्धका आधार भी वही मोह है। अतः मोहका समूल नाश हो जाय तो ज्ञानीका शरीर रह नहीं सकता। क्योंकि यदि मनका शरीरसे तनिक भी सम्बन्ध न रहे तो शरीरकी नाड़ियोंमें रक्त-संचारादि भी न हो सके। यों ग्रन्थोंमें यह वर्णन मिलता है कि ज्ञानकी सप्तम भूमिकामें ज्ञानीका शरीरापात हो जाता है; किन्तु यह तो यदा कदाचित, होनेवाली बात है। सब सप्तम भूमिमें पहुँचनेवाले ज्ञानी ही नहीं होते। अतएव यहाँ मोहभ्रम भाग' का अर्थ 'मोहरूपी भ्रम भागा' न करके मोहका भ्रम भागा, यह करना उचित जान पड़ता है। 'मोह-निसा सब सोवनि हारा' की व्याख्यामें बता चुके हैं कि मोह तो समष्टिकर्ताकी वस्तु है। वह तो 'निसा' है. जिसे जीव दूर नहीं कर सकता।

'गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥ अर० १४।३

इस ईश्वरीय माया या अविद्यामें जीव मोहित हो गया है। इस 'मोह-मूल' जगतमें उसे भ्रम हो गया है।

'मैं अरु मोर तोर तैं माया।' अर० १४।

यही जीवका भ्रम, जीवकी माया है। जैसे निशाका तमस जीवमें निद्रा बन जाता है वैसे ही समष्टिका मोह जीवमें 'मैं' मेरा, आदि रूप भ्रम बन गया है। ज्ञानके होनेपर मोहका यह भ्रम ही भाग जाता है। विवेक होनेपर जगत तो रहता है और जगतकी विभिन्नता भी दीख पड़ती है किन्तु तब जगतमें कुछ भी पराया नहीं रहता। तब तो भ्रम भाग चुका होता है। जीवको तब अनुभव होता है और वह कहता है—

'सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥' बाल० ७।२

इस प्रकार जब मोहका भ्रम विवेक होनेपर भाग जाता है, तब भक्तिका हृदयमें उदय होता है। पराभक्तिकी तभी प्राप्त होती है।

'तब रघुनाथ चरन अनुरागा।' (अयो० ८२।५)

जबतक 'सब जग' विश्वका अणु-अणु 'सीय राममय' नहीं जान पड़ता तबतक पराभक्ति—श्रीरघुनाथके चरण कमलोंमें अनुराग कैसे हो सकता है? प्रभुने स्वयं बताया है—

'सो अनन्य जाकें असि, मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूपस्वामि भगवन्त।।' (कि० ३)

यही पराभक्ति है। यही श्रीरघुनाथ-चरणका वास्तविक अनुराग है, जब कि 'जित देखौं तित स्याममयी है, की स्थिति प्राप्त हो जाय। हृदयमें, मनमें, वाणीमें, नेत्रोंमें उस प्रेमास्पदको छोड़ कर दूसरा आवे ही नहीं। यह अवस्था मोहके भ्रमके भाग जानेपर ही प्राप्त होती है। यह तो ज्ञानोत्तर भक्ति है। इसके स्वरूपका केवल इतना निर्देश ही शक्य है। क्यों कि यह अनुभूतिस्वरूप है। मन-वाणीकी यहाँ गति नहीं है।

सखा परम परमारथु एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥ अयो० ८२।६

सखा, मन कर्म एवं वाणीसे श्रीरामके चरणोंमें स्नेह हो, यही परम परमार्थ है।

श्री लक्ष्मणजी कभी श्रीरामसे पृथक तो हुए नहीं, अतः जो श्रीराम के आखेट-सखा हैं, वे श्रीलक्ष्मणके सखा भी हैं ही। आखेटमें लक्ष्मणजी कभी रामजीसे पृथक रहे होंगे, ऐसा सोचा ही नहीं जा सकता। महर्षि-वाल्मीकिके अनुसारसे तो उन सुमित्रानन्दवर्धनने मर्यादा पुरुषोत्तमसे कहा है—

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशते स्थिते।'

अर्थात् हे श्रीराघवेन्द्र, आप सैकड़ों वर्ष वनमें रहें, तो भी मैं आपके पराधीन हूँ। मैंने अपने आपको आपके प्रति समर्पित कर दिया है। अस्तु।

यहाँ सखा कहनेका एक भाव और है जब किसी कोई गोपनीय या बहुत महत्वकी बात बतलानी होती है, तभी उससे अपनी आत्मीयता व्यक्त की जाती है। मानो लक्ष्मण जी कह रहे हैं कि—'निषादराज, तुम मेरे सखा हो, इसीलिये तुम्हें मैं यह अत्यन्त महत्वकी बात बतला रहा हूँ।

अभी पूरे जगतको 'मोह-मूल' कह आये हैं। 'सरग-नरक जहँ लगि जग जालू' को उन्होंने कहा है 'परमारथ' नहीं। अर्थात् यह सब जगत मोह-मूल है। इसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसमें प्रवृत्त होनेसे जीव का परमार्थ-आत्यन्तिक कल्याण सिद्ध नहीं होता। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि जब विश्वके समस्त भोग और स्वर्गतक 'परमारथ' नहीं है, तो 'परमारथ' है, क्या? इसी प्रश्नका इस अर्धालीमें उत्तर है और उत्तम है अपने अनोखे ढंगका। लक्ष्मणजी परमाचार्य ठहरे जीवोंके। यहाँ उनके सम्मुख ऐसा अधिकारी नहीं है कि उसे दस पांच पारमार्थिक साधन बता दें और कह दें कि इनमेंसे जो अच्छा लगे, उसे चुनलो। यहाँ तो एक भोला-भाला निषाद है उनके सम्मुख जो उनका सखा है। यह तो कोई भी कैसे कह सकता है कि जैसे जगतकी 'सम्पति-विपति' के लिये नाना प्रयत्न करनेवाले और 'सरग-नरक' की चिन्तामें लगे लोग 'सब सोवनि हारा' हैं 'मोह-निसामें वैसे ही, योग, ध्यान, तप आदि करनेवाले निष्काम कर्म योगी ज्ञानी भी 'सोवनिहारा हैं। 'जगत मोह मूल है, पर उसमें वे तो जागने ही वाले हैं जो 'परमारथी प्रपंच वियोगी' हो गये हैं और जिनमें

'सब विषय विलास बिरागा' पूरा आ चुका है। इससे क्या विवाद कि वे किस प्रकारके 'परमारथी' हैं। योगके यम, नियम, आसन प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधिके आठ अंगोंसे क्रमशः बढ़ते हुए आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है। साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर श्रवण-मनन निदिध्यासन द्वारा ज्ञानमार्गसे आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। भगवानके लिए निष्कामकर्म करते हुए या लययोगके किसी मार्गसे भी तत्वोपलब्धि हो सकती है। उपासनाकी भी अनेक विधियां हैं। अनेक धर्म एवं सम्प्रदाय हैं उपासनाके लिए। सच्चाईसे किसी भी धर्मकी उपासनाका अनुसरण पूर्णता तक पहुँचा देगा। सब मार्ग, ये सब साधनाएँ परमार्थ सत्य—नित्य-सत्य तक ले जाती हैं। इनमेंसे किसीके द्वारा भी जीव आवागमनके चक्रसे मुक्त हो सकता है। इनमेंसे किसीके भी द्वारा आत्यन्तिक कल्याण प्राप्त किया जा सकता है। अतएव ये सब परमारथ हैं। 'जब सब विषय विलास बिरागा हो जाता है, तब जीव इस 'जग जामिनि' में जाग गया है, इसमें तो सन्देह रहा ही नहीं। फिर वह 'प्रपंच-बियोगी' किसी प्रकार का भी 'परमारथी' हो किसी भी परमार्थ प्राप्तिके साधनको अपनाने वाला हो, उसके साधन एवं आराध्य-साध्यका कोई भी स्वरूप हो, है वह 'परमारथी' ही। इसलिये यहाँ लक्ष्मणजी परमार्थके अनेक पथोंका निषेध नहीं करते। उन सब मार्गोंकी चर्चा करनेका अवसर नहीं है यहाँ तो जो श्रोता है, उसके अधिकारका प्रश्न है वह है साधन-भक्तिके अंगोंसे सम्पन्न। अतः उसे 'परम परमारथ बता रहे हैं वे निखिल जीवाचार्य।

परम परमार्थके अनेक साधन हैं और वे सच्चे हैं, किन्तु उनमें जो सबसे सुलभ हो, सबसे निर्विघ्नहो सब जिसे अपना सकें और जिसके द्वारा सर्वोत्तम तत्वकी सर्वप्रियरूमें उपलब्धि हो, वही सबसे श्रेष्ठ मार्ग होगा। वही परमार्थोंमें परम परमार्थ कहा जा सकेगा। इस दृष्टिसे देखें तो यह प्रकट है कि योगी, ज्ञानी, निष्काम कर्मयोगी होना जन साधारणके वसका नहीं है। यम-नियम, आसनादि कर सकें, ऐसे आज दस-पांच अधिकारी भी मिलने कठिन हैं। जहाँ अर्जुनने भी कहा—'चंचलं हि मनः कृष्ण' वहाँ आजके सामान्य जन लययोग या और कोई ध्यान करके सफल हो जायँगे, यह सोचना ही बुद्धिमानी नहीं है। ज्ञानकी बात उससे भी कठिन है। साधन चतुष्टय सम्पन्न परमविरक्त पुरुष ही ज्ञानका अधिकारी

होता है यदि वह प्रतिभा प्रधान प्रकृतिका है। त्रेता, और द्वापरमें भी गिने चुने नाम ज्ञानियोंके मिलते हैं। आज केवल बौद्धिक ज्ञानको जो ज्ञान माना जाता है, वह तो—

'कलौ वेदान्तिनः सर्वे फाल्गुने बालका इव।'

'ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस, करहिं बिप्र गुर घात॥ उत्तर० ९९

ऐसे रौरवमें ले जानेवाले वेदान्तकी तो यहाँ चर्चा ही व्यर्थ है। सचमुच ज्ञानके अधिकारी आज कोई कदाचित ही मिले। अब केवल उपासनाका मार्ग रह जाता है। श्रीमद्भागवतके अनुसार जो न अत्यंत संसारासक्त हैं और न पूरे विरक्त ही हैं उनके लिये उपासना मार्ग है। आजके परमार्थकी रुचि रखनेवाले ऐसे ही मिलेंगे। जहाँ तक तत्वोपलब्धि-का प्रश्न है, योग-ज्ञान आदिके द्वारा उससे अभेदत्व-सायुज्य प्राप्त होता है और उपासनाके द्वारा सामीप्य, सालोक्यादि। तत्व एक ही है और उसका सर्वप्रिय रूप तो साधककी रुचिकी अपेक्षा करता किन्तु है उपासना सर्वसुलभ, सर्वसुगम मार्ग। उपासनामें भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मर्यादा पुरुषोत्तमकी उपासना साधकको मर्यादामें स्थिर रखनेकी नित्य प्रेरणा देती है। इष्टके इस रूपमें आचार च्युत न होनेकी सर्वाधिक प्रेरणा है। इस दृष्टिसे यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं व्यावहारिक दृष्टिसे कल्याणकारी उपासना पथ है। परम परमार्थ इस दृष्टिसे इसे कहें तो इसमें किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वैसे श्रीराम परात्पर परम तत्व हैं और उनकी आराधना परम परमार्थ है, यह दृष्टिकोण भी ठीक ही है।

यह परम परमार्थ क्या है? परम परमार्थ गौणी भक्ति नहीं हो सकती। यह है स्नेह। ऐसा स्नेह जो मनमें ही सीमित नहीं रहता। स्नेह मनका धर्म है। वह कहा या क्रियासे व्यक्त भी किया जा सकता है, पर मनमें न हो तो उसको वाणी या क्रियासे व्यक्त करना दम्भ होगा। इसी-लिये पहिले मनका उल्लेख हुआ। श्रीरामके चरणोंमें हृदय स्नेहसे भरा-हो। यह स्नेह प्रेम इतना थोड़ा न हो कि हृदयमें छिपा रह जाय। हम जो कुछ भी करें उस सब क्रियामें, हमारे समस्त कर्मोंमें वही हृदयका

हुए उन्हींको प्रसन्न करनेके लिये, उन्हीं की सेवाके लिये हो। यह समस्त जगत 'सीयराम मय' है, यह जान कर हम सदा अपने कर्मोंसे श्रीरामके सेवक ही रहें और हमारी वाणीमें भी वही स्नेह ओत-प्रोत रहे। हम उन परमप्रभुके नाम, गुण, लीला आदिका वाणी द्वारा जप, गान, कीर्तन, वर्णन प्रेम पूर्ण हृदयसे करते रहें। हमारी वाणी उनके इस विश्वरूपके प्रति सदा स्नेहपूर्ण, कल्याणप्रद रहे। इस प्रकार मन, कर्म एवं वाणीसे हमारा पूरा जीवन बाहर-भीतर सम्पूर्ण रूपसे श्रीरामके चरण-कमलोंके प्रेमसे परिप्लावित हो, यह प्रेमकी परमावस्था यह भक्तिकी सर्वश्रेष्ठ स्थिति ही परम परमार्थ है। यहां कुछ करनेका प्रश्न ही नहीं है। यहाँ तो अन्तर बाह्य स्नेह मग्न है और वही स्नेह सर्वत्र व्यक्त होता है।

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥ अयो० ९३।७-८

श्रीराम (ही) परमार्थ स्वरूप ब्रह्म हैं। वे (मनसे) न जानने योग्य (इन्द्रियोंसे) अलक्ष्य, अनादि, उपमा-रहित, समस्त विकारोंसे हीन, भेद रहित हैं। वेद भी नित्य नेति-नेति, कह कर उनका निरूपण करते हैं।

अब इस चौपाईमें श्रीरामके परत्वका प्रतिपादन है। क्योंकि प्रत्येक दर्शनशास्त्र उपासनाको बौद्धिक आधार देनेके लिये ही प्रवृत्त होते हैं। जिस तत्वको श्रुति नेति कहती है, जिसको सब एक मतसे 'अवाङ्‌ मनसं गोचर' मानते हैं, उसका वर्णन कैसे सम्भव है। जो भी वर्णन हैं, वे केवल लक्षणासे ही हैं। उपासनाकी स्थिरताके लिये हृदयकी भाव भूमिको बौद्धिक पृष्ठभूमिका सुस्थिर आधार देनेमें ही उनका प्रयोजन है। इसीलिये उपासनाके सभी सम्प्रदायोंका अपना दर्शन शास्त्र है। जैसे-रुचि, भाव एवं अधिकारी भेदसे उपासकोंके परमोपास्य तत्वतः एक होनेपर भी उनमें रूप भेद होता है; वैसे ही अधिकारी भेदसे चलनेवाली उन उपासनाओंको आधार देनेवाले साम्प्रदायिक दर्शनोंमें भेद होता है। लेकिन जैसे सबके

उपास्य अनेक रूपोंमें होनेपर भी एक ही हैं, एक के ही वे अनेक रूप हैं, वैसे ही सभी दर्शनोंके सिद्धान्त एवं प्रतिपाद्य भिन्न होनेपर भी तत्वतः एक हैं। केवल उस प्रतिपाद्यको वर्णन करनेकी, प्रतिपादित करनेकी प्रणाली ही सबकी पृथक-पृथक है और यह पृथकता इसलिये है कि अधि-कार भेदसे चलनेवाले साधक अपने अनुरूप आधारभूमिको बुद्धिगत कर सकें। सभी उपासनाएँ दार्शनिक आधारभूमिपर ही प्रतिष्ठित होती हैं। इससे पहिलेकी अर्धालीमें 'रामपद नेहू' को परम परमारथ, कह कर उपासनाकी प्रतिष्ठा कर आये हैं, अतः उस उपासनाको पृष्ठभूमि-स्थिरा-धार देनेके लिये इस चौपाईमें श्रीरामके स्वरूपका वर्णन और आगे दोहेमें अवतार-तत्व बता कर यह प्रसंग पूर्ण हो गया।

एक दृष्टिसे और विचार किया जा सकता है। पहिले कह आये हैं कि जितना भी संसारका लौकिक प्रपंच दिखाई पड़ता है और जो भी स्वर्गादिका वर्णन शास्त्रोंमें है वह सब—

> देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
> मोह मूल परमारथु नाहीं॥ अयो० ६१।८

और अब कह रहे हैं कि परम 'परमारथ' तो 'रामपद नेहू' है; सो श्रीराम भी तो निषादराजके लिये प्रत्यक्ष हैं। इस प्रत्यक्षको शास्त्रोंसे प्रतिपादित कहें, यह कहें कि श्रुतियोंमें उपनिषादिमें श्रीरामका वर्णन है, तो वह वर्णन 'सुनिअ' की सीमामें आ जायगा। फिर जब सब देखिए सुनिअ मोह-मूल-है जब—

> गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
> सो सब माया ....॥ अर० १४।३

है, तब श्रीराम एवं उनके चरित भी गो-गोचर होनेसे माया ही हुए। 'देखिअ-सुनिअ' की सीमामें आनेसे वे भी मोह मूल जगतका ही एक भाग हुए लक्ष्मणजी पूरे जगतको 'परमारथ नाहीं' कह चुके हैं, तब यह फिर रामपद नेहू, को परम परमारथ कैसे कह रहे हैं! जो स्वयं परमार्थ नहीं है, उससे स्नेह करना भला परम परमार्थ हो कैसे सकता है? यदि मोह मूल जगतके दृश्यों पात्रोंसे स्नेह करना परमार्थ हो तो फिर 'देखिहिं

सपन अनेक प्रकारा, का क्या उपयोग ? इस मोह निसामें जागनेवाले जो परमारथी कहे गये हैं, वे तो 'प्रपंच-वियोगी' होते हैं। इन सब शंकाओंका समाधान इस चौपाईमें हो जाता है।

'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।' अयो० ९२।७

श्रीराम केवल अयोध्या राजकुमार नहीं हैं। वे परमार्थ स्वरूप ब्रह्म हैं। वे व्यापक हैं। जिस ब्रह्मकी एक पाद विभूतिमें निखिल प्रपंच है, जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्यापक है और इससे परे भी है, जो जगतके अणु-अणुमें है और फिर भी जो जगतके परिवर्तनादिसे सर्वथा असंस्पृक्त है वही नित्य, चिन्मय अविनाशी सत्ता ही परमार्थ सत्य है। वही शाश्वत तत्व है। वह ब्रह्म-तत्व श्रीराम ही हैं। अतः श्रीराममें स्नेह होना परम परमार्थ है।

'अबिगत अलख अनादि अनूपा।' अयो० ९२।७

श्रीरामका वह ब्रह्मरूप, वह परस्वरूप मन एवं बुद्धिके द्वारा जाना नहीं जा सकता। अपने इस रूपमें वे अविगत मनकी पहुँचसे परे हैं। वे 'अलख' हैं। चक्षुश्रोत्रत्वक, नासिका तथा रसना आदि ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां उन्हें लक्षित नहीं कर सकतीं इस प्रकार वे मन तथा वाणी आदिसे परे हैं। गो गोचर जहं लगि मन जाईकी सीमामें वे नहीं आते। इसलिये उनमें 'माया' का लेश भी नहीं। वे तो अनादि हैं चिन्मय हैं, नित्य हैं शाश्वत हैं। लेकिन और भी ऐसा कोई कुछ है या वे ही ऐसे हैं, यह पूछनेपर कहना ही पड़ेगा कि वे अनूप हैं। उन अद्वितीयकी किसी दूसरेसे उपमा नहीं दी जा सकती। 'अलख' होनेसे वे इन्द्रियातीत प्रत्यक्षके विषय नहीं हैं। अविगत होनेसे वे मन एवं बुद्धिकी परिधिसे परे हैं, अतः उनके विषयमें अनुमान भी नहीं किया जा सकता। उन अनूपके लिये लोक या शास्त्रमें उनसे भिन्न दूसरी कोई उपमा नहीं है। इस प्रकार वे प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान इन तीनों प्रमाणोंके द्वारा जाने नहीं जाते। उनके विषयमें ये प्रमाण असमर्थ ही रहते हैं, क्योंकि वे अनादि हैं। सभी प्रमाण एवं उनके साधन मन, इन्द्रियां, बुद्धि आदि उनके पीछेकी ही उनकी ही सृष्टि हैं। पुत्र कभी भी प्रमाणोंके द्वारा यह नहीं जान सकता कि उसका पिता कौन है। वह केवल श्रद्धा-आस्था कर सकता है। इसी प्रकार ये सब प्रमाण उन

परतत्वके सम्बन्धमें असमर्थ हैं। वे तो श्रद्धा-विश्वाससे ही जाने एवं पाये जाते हैं।

'सकल बिकार रहित गतभेदा।' अयो० ९२।८

श्रीराममें कोई विकार नहीं और कोई भेद नहीं। जन्म, मृत्यु, ह्रास, वृद्धि, स्थिति, परिवर्तन ये जगतके छः भावविकार, सुख-दुःख, हर्ष, शोक, राग-दोष आदि विकार तथा मनके अन्य जितने विकार हैं वे सब श्रीराममें नहीं हैं। वे नित्य एकरस अविकारी हैं जो भी विकार दीखते हैं जगतमें, वे सब 'गो-गोचर' की मायिक सीमामें ही रह जाते हैं। इसी प्रकार भेद भी 'मोह मूल जगतमें ही हैं। श्रीराम सर्वव्यापी है, विभु हैं किन्तु एकरस हैं। विश्वके समस्त विकार एवं भेद उनका स्पर्श नहीं कर पाते। वे तो अविकारी एवं अभेद रूपसे ही सबमें स्थित हैं।

'कहि नित नेति निरूपहि बेदा।' अयो० ९२।८

श्रुतियाँ उन परतत्वका वर्णन सदा 'नेति-नेति' अर्थात् 'यह नहीं' कहकर निषेध मुखसे ही करती हैं। उन 'अलख अविगत' का वर्णन तो सम्भव ही नहीं है इसलिये वे जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानसे परे हैं, वैसे ही शब्द श्रुति भी उनके वर्णनमें असमर्थ हैं। इसलिये वे 'सुनिअ' की सीमामें भी नहीं आते। देखिअ-सुनिअकी सीमा मोह मूल, जगत तक ही है और श्रीराम उससे सर्वथा परे, उसके विकार एवं भेदोंसे असंस्पृक्त विभु ब्रह्म स्वरूप परमार्थ सत्य हैं। वे अनूप ही परमार्थ रूप हैं।

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥
अयो० ९३

भक्तों, पृथ्वी, ब्राह्मणों, गायों तथा देवताओंके कल्याणके लिये दयामय (श्रीराम) मनुष्य शरीर धारण करके (यह) चरित कर रहे हैं; जिसे सुननेसे जग-जाल मिट जाता है।

जो अविगत अलख हैं, 'सकल विकार रहित हैं, वे परमार्थ रूप श्रीराम आज तापस वेस विशेष उदासी' बने शीशमके तले किसलय शय्यापर भूमिपर ही पत्नीके साथ शयन कर रहे हैं। वेद भले उनका

निरूपण 'नेति-नेति' कहकर करते हों, किन्तु निषाद गुहके तो वे अपने परमप्रिय सम्मान्य सखा हैं और आज अयोध्यासे बनवासका व्रत लेकर शृङ्गवेरपुर पहुँचे हैं। अतः 'रामब्रह्म परमारथ रूपा' के उस 'अलख अगोचर' एवं 'सकल विकार रहित गत भेदा' रूप एवं इस लोक नयनाभि राम नवदुर्वादलश्याम वर्तमान तपस्वी रूपमें कुछ सामञ्जस्य होना चाहिये। इसी सामञ्जस्यको बतलानेके लिये इस दोहेमें उन परात्पर 'अलख अगोचर' का अवतार क्यों होता है, यह तत्त्व बतलाया गया है।

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु,............................॥

ये परमार्थ स्वरूप श्रीराम 'कृपाल' हैं, दयासागर हैं। श्रुति एवं सन्त इन्हें अनन्त करुणावरुणालय कहते हैं। कृपा करना ही इनका स्वभाव है। अतः कृपा परवश ही यह अयोध्या राजकुमारका मानव शरीर धारण-करके नाना प्रकारकी लीलाएँ कर रहे हैं। कृपा किसीके प्रति की जाती है। किनके प्रति कृपा करके भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं? इसका उत्तर प्रथम ही है—'भगत'। भगवान्के अवतारका मुख्य कारण है भक्तों-पर कृपा करना। गीतामें भगवान्ने कहा—

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥' गीता ४।८

साधुजनों (भक्तों) की रक्षाके लिये—उनके पालनके लिये, दुष्कर्म-रत पापिष्ठोंके नाशके लिये और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें अवतार ग्रहण करता हूँ।

जिनके भ्रू भंग मात्रसे समस्त ब्रह्माण्डोंका विनाश सम्भव है, जिनके नेत्रकी पलकोंके गिरनेसे ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रलय-गर्भमें चले जाते हैं, उनके लिये हिरण्यकशिपु, रावण, कंस आदिका विनाश ऐसा कार्य नहीं हो सकता, जिसके लिये उन्हें अवतार धारण करना पड़े। इच्छा मात्रसे वे उन समस्त दुष्टोंका नाश करनेमें सहज समर्थ हैं। इसी प्रकार धर्मकी स्थापना भी उनकी इच्छासे ही हो सकती है। वे सकल ब्रह्माण्डनायक निखिलजीवगणपरिपालक अपने संकल्प मात्रसे धर्म स्थापना एवं लोक-

रक्षण, भू-भार-हरणमें नित्य समर्थ हैं। अतः ये सब कारण उनके अवतार लेनेके मुख्य कारण नहीं हो सकते। ये तो ऐसे कार्य हैं जो मुख्य कार्यमें प्रवृत्त होनेके कारण आनुषङ्गिक रूपसे हो गये हैं। जैसे कोई करोड़पति किसी मित्रसे मिलने कहीं जाय और मार्गमें मण्डी पड़े तो स्वयं फल भी लेने लगे या लेता आवे। अब वह फल लेने मण्डी गया था, यह बात ठीक होनेपर भी उसके घरसे मण्डी जानेका मुख्य कारण नहीं है। यह कार्य तो उसकी आज्ञासे उसके सेवक ही कर देते। इसी प्रकार परात्पर परम प्रभुका अवतार ग्रहण करके धराधामपर आना 'भूमि भूसुर सुरहित लागि' मुख्य नहीं हो सकता। भू-भार-हरण, धर्म-स्थापना ऋषि-मुनि जनोंकी तथा गौओंकी रक्षा और देवताओंको यज्ञ भागादि मिलनेकी व्यवस्था तो एकपलमें उनके इच्छा करते ही हो जाती। अतएव उनके इस व्यक्त जगत-में आनेका मुख्य कारण कुछ और होना चाहिए।

'भगत हित लागि कृपाल,
करत चरित धरि मनुज तनु।'

इस 'भगत हित लागि, के मुख्य कार्यके साथ 'भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि' आनुषंगिक कार्य भी वे कर देते हैं। उनके अतवारका मुख्य प्रयोजन तो यह 'परित्राणाय साधूनां' ही है; जिसे वे अपनी इच्छासे, बिना धराधामपर आये पूरा नहीं कर सकते थे। भक्तोंकी भावनाओंकी कोई सीमा नहीं और अपनी भावनामें वे एकनिष्ठ होते हैं। सर्वस्व त्याग कर उनका चित्त उसी भावनामें लगा रहता है। उनकी भावनाएँ— चक्रवर्ती महाराज दशरथ एवं माता कौशल्याने अपने मनु-शतरूपा रूपमें कितना उग्र तप किया? और उनकी भावना है 'चाहँउ तुम्हहिं समान सुत।' इसी प्रकार कोई उन 'अविगत अलख' को अपना सखा बनाकर उनके साथ खेलना चाहता है, कोई उनकी चरण-सेवा करनेको उत्सुक है और कोई शरभंगजीकी भाँति स्वेच्छासे ब्रह्मलोक जानेमें समर्थ होकर भी उनके दर्शनोंकी प्रतीक्षामें वनमें बैठा है। वह 'अविगत अलख, करे क्या, जब कोई परम भावुक भक्त बड़ी दृढ़तासे कह देता है।

'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥' उत्तर० ११०।११

वह तो उस सकल विकार रहित गतभेदा' की बात ही सुननेको तब तक प्रस्तुत नहीं, जब तक उसे 'नवघनस्याम मृदुल तन सुन्दर, स्वरूप-में देख न ले। कोई बतावे तो सही कि ऐसे साधुओंका परित्राण, ऐसे भक्तोंका हित बिना इस धराधामपर पधारे वह परात्पर नामक कर कैसे सकता है। दूसरेकी बात जाने दीजिये, इन निषादराजका तुच्छ सेवक केवट अभी कल सवेरे झगड़नेवाला है—

'बरु तीर मारहुं लखनु पं
जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास,
नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥' अयो० ८८।११

और ये 'कृपाल' क्या अविगत अलख' बने रहकर अपनी इच्छा, योगमाया और किसी शक्तिसे उस भोले भक्तका हित कर लेते। उसका हित उसने 'पाय पखारिहौं' बना रखा है। अब जब कृपाल हैं तो 'पाय' बनाकर आवें तो करें क्या। ये निषादराज ही क्या उस 'अविगत अलख सकल विकार रहित गतभेदासे सन्तुष्ट हो जाते ? इनके लिये भी कौशल-राजकुमार आखेट सखा बनकर ही सन्तोष दे सकते थे। अतः इस करत चरित धरि मनुज तन' का मुख्य हेतु तो 'भगतहित' ही है !

'सुनत मिटहिं जगजाल' इस बातको और स्पष्ट कर देना है। उस समय जो परम भावुक महाभाग भक्त धराधामपर थे, उनकी भावनाओंसे विवश होकर वे 'अलख अगोचर, परात्पर प्रभु व्यक्त हुए, यह तो ठीक है किन्तु उनका 'करत चरित धरि मनुज तनु केवल उन्हीं भक्तोंके हितके लिये नहीं है। वह तो अपने समस्त भक्तोंके हितके लिये है। सभी साधु-जनोंके परित्राणके लिये प्रभु मनुष्य रूप धारण करके मनोहर चरित करते हैं।

'भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।'
श्रीमद्भागवत १०।३३।३७

वे वैसी ही लीलाएँ करते हैं, जिनको सुनकर प्राणीका चित्त उनमें लगे। जिनके श्रवणसे 'जग-जाल' मिट जाय। 'जनम-मरन जहँ लगि जग जालु' के चक्रसे प्राणी उन दिव्य मंगलमय चरितोंको श्रवण करके ही

छूट जाता है। इस प्रकार 'सकल विकार रहित गत भेदा स्वरूपसे समस्त जनोंका कल्याण शक्य नहीं है। वह रूप तो ऐसा है कि वेद ही उसे 'नेति-नेति' कहते हैं, तब दूसरा उसके विषयमें क्या सुनेगा और क्या सोचेगा। भावप्राण भक्तोंके नित्य मंगलके लिये, उन्हें जग-जालसे परित्राण देकर उनका परमहित करनेके लिये ही वे प्रभु 'मनुज तनु धरि' अपने विविध-चरित करते हैं। इस प्रकार उनके अवतारका मुख्य प्रयोजन समस्त साधुजनोंका परित्राण आवागमन रूप भवचक्रसे मुक्ति है। इस 'भगत-हितके लिये ही वे धरापर व्यक्त होते हैं।

'धरनि हित' में भू-भार-हरण तो मुख्य है ही और धरणीने इसके लिये प्रार्थना भी की थी। यह बनवासकी लीला उसी भू-भारको दूर करनेकी भूमिका है, किन्तु इसके साथ प्रभुका पृथ्वीपर प्रगट होकर अपनी उपस्थितिसे, अपने श्रीचरणोंके स्पर्शसे जो पृथ्वीका मानवर्धन करना है, धराके अनेक स्थलोंको तीर्थ बना देना है, वह धरनि हित, भी गौण नहीं है। भू-भार-हरण तो इच्छा करने मात्रसे हो जाता, किन्तु इस हितके, लिये तो धरणीपर पधारना ही था। अतः कृपालु, प्रभु इस 'धरनि' हितके लिये भी 'मनुजतनु' धारण करके नाना चरित कर रहे हैं।

'भूसुर-हित' भी रावण-वधमें है। रावणके अनुचर क्या करते थे, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। ब्राह्मणों और गायोंके तो वे असुर जन्मजात शत्रु ठहरे।

> 'जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं।
> नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥' बाल० १८२।६

वे उस देश, नगर या ग्रामको ही भस्म कर देते थे, जहाँ गायें या ब्राह्मण रहते हों। प्रभु ठहरे ब्रह्मण्यदेव एवं परम गोवत्सल, अतः इन गो-द्विज द्रोहियोंका विनाश करनेके लिये वे यह मनुज तनु' धारण करके ये बनवासादि चरित कर रहे हैं।

'सुरहित' भी रावण तथा उनके अनुचरोंके विनाशमें ही है। क्योंकि रावणने देवताओंका पोषण जिस यज्ञ-भागसे होता है, उस यज्ञको ही रोक दिया है।

'जप जोग विरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा ॥
बाल० १।१८२।छं०

प्रभुकी वनवास लीलामें रावण बध-रूपी सुरकाज ही प्रमुख है और इसीलिये देवताओंने सरस्वतीको प्रेरित करके मन्थराकी बुद्धिभ्रान्त करवाया और इस प्रकार इस लीलाकी भूमिका प्रस्तुत की।

ये सब चरित प्रभु स्वयं 'मनुज तनु धरि' कर रहे हैं। उनका यह मानव रूप कर्म परतन्त्र नहीं है। उन्होंने स्वेच्छासे यह रूप योगमाया—मुपाश्रितः योगमायाका आश्रय लेकर प्रकट किया है। इसी प्रकार स्वयं स्वेच्छासे वे कृपालु भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि, ये चरित कर रहे हैं। इन चरितोंके करनेमें वे कर्म या प्रारब्धके परतन्त्र नहीं हैं। पहिले जो कहा गया है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
अयो० ९१।४

वह बात इन राम ब्रह्म परमारथ रूपाके लिये नहीं है। वह तो सामान्य जीवके लिये कही गई बात है। काल करम गुन जिनके हाथा उनको भला कर्मभोग क्या। लेकिन यह भी ठीक नहीं कि उन्हें किसीने वनमें भेजा है। उनके वनवासमें माता कैकेयी आदि जो निमित्त हैं, वह भी उन्हीकी इच्छा से। 'धरि मनुज तनु' वे, ये श्रीराम स्वेच्छासे ही ये सब चरित कर रहे हैं।

सखा समुझि अस परिहरि मोहू।
सिय रघुबीर चरन रत होहू॥
अयो० ९३।१

लक्ष्मणलालजी अपने उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं—सखा, ऐसा समझ कर मोहको छोड़ दो कि इन तुम्हारे प्रिय सखा श्रीरामको माता कैकेयीने बन देकर बड़ा अनर्थ किया और ये बड़े कष्टमें हैं। ये अपनी इच्छासे ही पृथ्वीपर इस मनुष्य रूपमें आये और अपनी इच्छासे ही 'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि' ये परम कृपालु, ऐसे चरित कर रहे हैं, जिनको सुनकर ही प्राणियोंका जग-जाल मिट जाता है। अतः तुम तो इन 'सिय रघुबीर' के श्रीचरणोंमें चित्तको लगाओ।

★

ऋषि-गीता

[महर्षि वाल्मीकि द्वारा उपदिष्ट चौदह श्रीराम-निवास]

भगवान् श्रीसीताराम लक्ष्मणजीके साथ कहां-किसके हृदयमें निवास करेंगे ?

इसका उत्तर श्रीरामचरितमानसमें महर्षि वाल्मीकिने दिया है।

महर्षिने श्रीरघुनाथजीको चौदह निवास बतलाये हैं।

महर्षिकी वाणीकी व्याख्या श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र' जीने की है।

कैसे आपके हृदयमें श्रीरघुनाथ बसेंगे यह बात यह 'ऋषि-गीता' बतलावेगी।

—प्रकाशक

ऋषि-गीता

[उपक्रम]

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम पिताके सत्यकी रक्षाके लिए श्रीविदेह-राजकुमारी तथा छोटे भाई लक्ष्मणजी के साथ चौदह वर्षका वनवास स्वीकार करके तपस्वीके वेशमें अयोध्यासे निकल पड़े। शृंगवेरपुरमें ही उन्होंने अपनी घुंघराली काली स्निग्ध सुकोमल अलकोंको वटके दूधके सहारे जटा जूट बना लिया। महामंत्री सुमन्त्रको वहींसे अयोध्या लौटा दिया। गंगा पार होकर श्रीभरद्वाज मुनिके आश्रममें प्रयाग आये और वहाँ मुनिका आतिथ्य स्वीकार करके, यमुना पार करके वन-पथमें प्रविष्ट हुए। वनकी यात्रा करते हुए ये तीन दिव्य पथिक आदिकवि महर्षि बाल्मीकिजीके आश्रममें पधारे। महर्षिकी युगान्त व्यापिनी साधना आज सफल हुई। अपनी वाणी एवं अपने हृदयके आराध्यका उन्होंने स्वागत किया, आतिथ्य किया कन्द-मूल-फलसे और स्तवन किया उनका। महर्षि-का आतिथ्य स्वीकार करके मर्यादा पुरुषोत्तम ने कहा—

देखि पाय मुनिराय तुम्हारे। भए सुकृत सब सुफल हमारे॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेगु न पावै कोई॥
मुनि तापस जिन्हतें दुखु लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥
मंगल मूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू॥
अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सियसौमित्रि सहित जहँ जाऊँ॥
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करौं कछु काल कृपाला॥

अयो० १२५।१-६

"चौदह वर्ष वनवास करना है। इतने, दीर्घकाल तक घूमते नहीं रहा जा सकता। कहीं पर्णकुटी बनाकर रहना है; किन्तु दो बातें आवश्यक हैं इसके लिये। पहिली बात सर्वोपरि तो यह कि ऐसा स्थान हो जहाँ हमारे रहनेसे किसी मुनि, को किसी तपस्वीको उद्वेग न हो। उसके मनको कोई अशान्ति न मिले। हम पूरी सावधानी रखेंगे, फिर भी हम राज-

कुमार ठहरे, आस-पास आखेटका प्रसंग भी आ सकता है, साथमें स्त्री और छोटा भाई है सो हँसी-विनोद भी होगा ही, दो-चार दिन रहनेकी बात होती तो इन्हें बचाया भी जा सकता, पर 'कुछ काल' रहना है, अतः स्थान ही ऐसा होना चाहिये कि वहाँ हम स्वतन्त्रतापूर्वक रहें, तो भी हमारे किसी भी आचरणसे किसी मुनिको तनिक भी अशान्ति न हो। ऋषि-मुनियोंका हमपर अपार स्नेह है, वे हमसे कभी कुछ नहीं कहेंगे; पर उन्हें तनिक भी असुविधा या मनमें उद्वेग हमारे कारण हो, यह हमें सर्वथा अभीष्ट नहीं है।

'दूसरी विशेषता स्थानमें यह होनी चाहिये कि वहां 'रुचिर पर्ण-शाला' बनाई जा सके। स्थान उजाड़ न हो, हरेभरे वृक्ष हों, पुष्प हों, कन्दमूलादि हों, जल हो समीप और किसी प्रकार उपद्रवग्रस्त स्थान न हो।' पर्णशाला रुचिर बने—न तो घिरा स्थान हो कि वायु न लगे और न इतना खुला कि आंधीमें कुटिया ही उड़ जाय। वातावरण अनुकूल, स्थल सुरम्य, आवश्यक वस्तुएँ समीप हों, तभी पर्णशाला रम्य होगी। यह भाव है श्रीराघवेन्द्रके प्रश्न का।

सहज सरल सुनि रघुवर बानी। साधु-साधु बोले मुनि ग्यानी॥
कस न कहहु अस रघुकुलकेतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥
अयो० १२५।७-८

मर्यादा पुरुषोत्तमकी बात सहज-स्वाभाविक है। उन्हें बनमें रहना है, अतः उस ओरके बनको भली प्रकार जाननेवाले महर्षि बाल्मीकिसे वे स्थल पूछ रहे हैं। पूछा भी उन्होंने सरल ढंगसे। अपनी आवश्यकता और दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया। महर्षि ने 'साधु-साधु' कहकर प्रश्नकी प्रशंसा भी की; किन्तु महर्षि ठहरे ज्ञानी मुनि। उनकी ज्ञान दृष्टि कभी ढकती है नहीं। अतः वे पहिले तो स्तुति करते रहे दोनों भाइयोंकी और अन्तमें बोले—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥
नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥
अयो० १२६।५-८

पूंछेहु मोहि कि रहौं कहँ, मैं पूंछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहि देखावौं ठाउँ ॥

अयो० १२७

'आप पूछते तो हैं कि मैं कहां रहूँ, आप पहिले यह बता दीजिये कि आप कहाँ नहीं हैं ? मुझे तो सर्वत्र आप पहिलेसे उपस्थित दीखते हैं। अब मैं आपको रहनेके लिये नवीन स्थान भला कहां बताद्रू ? अब भला महर्षिकी इस बातका क्या उत्तर है मर्यादा पुरुषोत्तमके पास ?

सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने।
सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने ।। अयो० १२७।१

'हासोजनोन्माद करी च माया' लेकिन महर्षिपर तो वह माया चलनेसे रही, अतः मनमें ही मुस्करा कर प्रभु रह गये।

बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअ रस बोरी ॥
सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता ॥

अयो० १२७।२-३

अब महर्षि हँस पड़े कि 'प्रभो! आप अपार करुणावरुणालय हैं। कहीं आपकी माया मुझे मोहित न करें, इस भक्तवात्सल्यवश आप खुलकर हँसते तक नहीं। अच्छा (अब मैं आपको रहनेके स्थान बतलाता हूँ। निर्विशेषरूपसे तो) आप सर्वव्यापक हैं, सर्वरूप हैं और अन्तर्यामी रूपसे सभी जीवोंके हृदयमें रहते ही हैं; किन्तु सविशेष निखिल सौन्दर्य माधुर्यैक धाम अपने इस दिव्य साकार रूपसे स्वयं कृपा करके किसी भाग्यवान अपने अनन्य भक्तके हृदयको ही आप पवित्र करते हैं। विश्वेश्वर! आपने इस चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डको बनाया और फिर स्वयं इसमें प्रविष्ट हो गये; किन्तु मैं दूसरे चतुर्दश भवन बता रहा हूँ। अब अपने इन नील सुन्दर धनुर्धर रूपसे छोटे भाई लक्ष्मणजी तथा महारानी श्रीजानकीजीके साथ आप मेरे बताये इन भवनोंमें निवास करें।'

[प्रथम भवन]

जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥
भरहिं निरन्तर होंहि न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ॥

अयो० १२७।४-५

तुम्हारी अनेक प्रकारकी कथा रूपी सरिताओंके लिए जिनके कान समुद्रके समान हैं। उन कथाओंकी सरिताओंसे निरन्तर भरते रहनेपर भी जो पूर्ण नहीं होते, जिन्हें कथा सुननेसे कभी तृप्ति नहीं होती, जिन्हें तुम्हारी कथा सुननेकी उत्कट प्यास सदा बनी ही रहती है, उनके हृदय तुम्हारे रहनेके योग्य अत्यन्त सुन्दर भवन हैं।

नवधा-भक्तिके वर्णनमें चाहे आप 'श्रवण कीर्तन' में-से 'श्रवण' को प्रथम भक्ति मानें या 'प्रथम भगति सन्तन कर संगा।' कहें, तात्पर्य दोनोंका एक ही है। सन्तोंके समाजमें बराबर भगवद् गुणानुवाद होता रहता है।

'सतां प्रसङ्गान्‌ मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

भा० ३।२५।२५

भगवान्‌की मंगलमय कथा सुननेमें रुचि हो, यही समस्त धर्माचरण-का परमफल है। श्रीसूतजीने बताया है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्‌॥

भाग० १।२।८

भली प्रकार अपने वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेपर भी यदि श्रीहरिकी परम मनोहर मंगलमय कथा सुननेमें रुचि न उत्पन्न हुई तो उस धर्मका पालन करनेसे केवल परिश्रम करना ही पुरुषके हाथ लगा।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ पुरुषके लिए कहे गये हैं। इनमें भी अर्थ और धर्म कोई स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं हैं। अर्थ स्वयं प्रयोजन नहीं है। उसका प्रयोजन या तो कामनाओंकी तृप्तिके लिए है या धर्मके लिए। इसी प्रकार धर्मका प्रयोजन भी या तो स्वर्ग सुख रूप लोका-न्तरमें कामनाओंकी प्राप्तिके लिए है या अन्तःकरणकी शुद्धि करके मोक्ष का हेतु बननेके लिए। स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं काम और मोक्ष। इनमें काम पतनका कारण है और अज्ञानी, अविचारी, पामर लोगोंका पुरुषार्थ है वह। उसमें तृप्ति नहीं है। केवल क्लेश, श्रम और अशान्ति ही उसमें है। जो भी विचारशील होगा उसे मानना पड़ेगा कि मनुष्यका सच्चा पुरुषार्थ केवल मोक्ष है। मोक्षकी प्राप्ति होती है चित्तकी पूर्णतः शुद्धि

होनेपर। वैसे तो चित्त शुद्धिके अनेक साधन हैं; किन्तु भगवत्कथा श्रवण जैसा सुगम साधन दूसरा कोई भी नहीं है।

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां,
कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं.
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्। भाग० २।२।३७

जो सत्पुरुष अपने कानोंके द्वारा भगवान्‌की कथा रूप अमृतका पान करते हैं, उनका विषयोंसे दूषित चित्त पवित्र हो जाता है और वे भगवान्‌के चरण-कमलोंके पास पहुँच जाते हैं।

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥
भाग० २।३।१९

वह पुरुष तो पशुओंमें भी कुत्ता, विष्टाकीट, ग्रामसूकर, ऊँट या गधा है, जिसके कानोंमें भगवान्‌का मंगलमय नाम नहीं पहुँचा।

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्, भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्, पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥
भाग० १०।१।४

वीतराग आत्माराम आप्तकाम वासनाहीन महापुरुष भी जिसका निरन्तर गान करते हैं, जो संसार रूपी रोगकी एक मात्र महौषधि है और इतना होनेपर भी जो कानोंको और मनको भी अत्यन्त प्रिय लगती है, उत्तमश्लोक भगवान्‌की उस यशोगाथाको सुननेसे भला कौन अपनेको अलग रख सकता है। ऐसा तो केवल आत्म हत्यारा ही कर सकता है।

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः;
प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण;
पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥
भाग० १२।४।४०

यह संसार बड़ा ही अद्‌भुत समुद्र है। इसमें डूबता-उतराता प्राणी नन्तकालसे नाना प्रकारके दु:ख रूप दावाग्निमें अहर्निश झुलस रहा है। से प्राणीके लिये इस भयंकर भवसागरसे पार होनेके लिये भगवान् रुषोत्तमकी लीलाकथाके रसका सेवन करना ही एक मात्र नौका है। दूसरा कोई भी उपाय उसके लिये इस क्लेशके दावानलसे निकलनेका हीं है।

श्रीमद्‌भागवतके ये श्लोक किसी व्याख्याकी अपेक्षा नहीं करते। किन बात भगवत्कथा सुनने मात्रकी नहीं है। महर्षि बाल्मीकि श्रीराम ा निवास बतला रहे हैं—ऐसा निवास जहाँ अनुज जानकी सहित प्रभु कुछ ाल निवास कर सकें। 'यदा कदा कथा भी सुन आते हैं', वाले सज्जनोंका दय तो वह निवास हो नहीं सकता। वह निवास तो उनका हृदय होगा— जनके स्रवन समुद्र समाना है।' कथा सुननेके लिये जिनमें समुद्र जैसी म्भीरता है और वैसी ही क्षोभ रहित निश्चलता भी है।

'कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।'

समुद्र कभी अस्वीकार नहीं करता किसी छोटी नदीको अपनेमें ालानेसे। नदी छोटी हो या बड़ी, उथली हो या गहरी, आती जाय और ालती जाय न वहाँ 'ना' है, न बस है। ऐसे ही जो नहीं देखते कि वक्ता ाद्वान् है या नहीं, कथाकी भाषा लच्छेदार है या नहीं, हँसाने-रुलानेकी ला है या नहीं, कथामें जिन्हें यह आग्रह भी नहीं कि भगवान्के अमुक वतारकी कथा हो और अमुककी नहीं। केवल भगवान्की कथा हो, ांसारिक वार्ता न हो—बस; फिर जिनके कान बराबर सुननेको प्यासे हते हैं, जिन्हें न आलस्य आता और न ऊबना आता, जो सुनाना चाहते —बराबर सुननेको उत्सुक रहते हैं, कोई बालक-वृद्ध-विद्वानमूर्ख पढ़ा-नपढ़ा उन्हें भगवान्की कथा भर सुनावें। ऐसे श्रवननिष्ठ भक्तोंके हृदय ा श्रीरामके सुन्दरतम सदन हैं। श्रीमद्‌भागवतमें श्रवणकी ऐसी उत्कट ाष्ठा आदिराज महाराज पृथुमें वर्णित है। वे भगवान्से वरदान मांगते ये प्रार्थना करते हैं—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥
भाग० ४।२०।२४

मेरे स्वामी ! मुझे ऐसी किसी वस्तु या स्थानकी कामना नहीं जहाँ आपके श्रीचरणोंसे झरता वह अमृत जो महापुरुषोंके हृदयसे उनके मुखके द्वारा निकला न करता हो अर्थात् जहाँ सन्त सत्पुरुष निरंतर आपके अमृत रूप लीला चरितोंका वर्णन न करते हों। प्रभो, आपको वह अमृतमय कथा सुननेके लिये मुझे एक सहस्र कान (मेरे कानोंमें सहस्र कानोंकी शक्ति) दे दीजिये, यही वरदान चाहिये मुझे ?

[द्वितीय भवन]

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी। रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक। बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक॥
अयो० १२७।६-८

जिन्होंने अपने नेत्रोंको चातक बना रखा है। वे चातक बने नेत्र केवल आपके घनश्याम श्रीअंगकी छटा रूप मेघके दर्शनकी ही नित्य अभिलाषा करते हैं। चातक जैसे सरिताओं तथा समुद्रोंकी जलराशिका तिरस्कार करके केवल स्वातीकी एक बूँदसे तृप्त होता है, वैसे ही जो सांसारिक तथा स्वर्गीय सौन्दर्यकी ओरसे सर्वथा मुख मोड़ चुके हैं और आपके रूपकी एक झांकीसे आनन्दित होते हैं, ऐसे दर्शनके अभीप्सु भावुक भक्तोंके हृदय आपके लिये सुखदायी सदन है। रघुनाथजी, आप श्रीजानकी तथा लक्ष्मणजीके साथ उनके हृदयमें निवास करें।

दोहावलीमें श्रीगोस्वामीजीने चातकके प्रेमके विषयमें बहुत कुछ कहा है। चातक चाहे प्यासा मर जाय, पर उसे दूसरे किसी पानीकी चाह नहीं। उसकी प्यास तो स्वातीके मेघकी बूँद ही बुझा सकती है। मरते-मरते वह गंगाजीमें पड़ जाय तो भी अपना मुख बन्द कर लेगा या चोंच ऊपर उठा देगा कि कहीं उसके मुखमें गंगाजल न चला जाय। वह मेघका अनन्य प्रेमी है। स्वाती नक्षत्र वर्षमें एक बार आता है और उसमें भी कभी वर्षा होती है, कभी नहीं होती। चातकको भूमिमें पड़ा जल पीना नहीं है। स्वातीकी वर्षाकी बूँद भी जब उसके मुखमें सीधे गिरे, तभी वह उसे पियेगा। बेचारे चातकको मेघोंसे जलकी वह दो-चार बूँदें तो भाग्यवश कभी मिलती है, हाँ दूसरे नक्षत्रोंमें मेघ उसके पंख भिगाता

है, उसपर ओले भी पड़ते हैं और कभी-कभी बिजली भी गिरती है। इतनेपर भी चातकके मनमें मेघके एक भी दोष नहीं आते। वह कभी रूठना जानता ही नहीं। उसका प्रेम अटूट है, अपार है।

जिनके नेत्रोंमें वही प्यास है श्रीरामकी एक झांकी पानेके लिये जो चातकमें स्वातीकी बूंदके लिये होती है, जिनकी प्रतीक्षा चातकके समान निरन्तर चलती है, कभी टूटती या थकती नहीं, जिनका विश्वास कभी डिगता नहीं, जिन्हें कभी निराशा नहीं घेरती, अनेकों कष्ट आनेपर भी जो न तो आराध्यमें दोष देखते और न एक क्षणके लिये भी दर्शनकी प्रतीक्षासे विचलित होते, जिनके मनको एवं नेत्रोंको संसारके रूप तो भला खींच ही क्या सकते हैं, आराध्यरूपसे भिन्न भगवान्के भी दूसरे रूप खींच नहीं पाते, सफलता शीघ्र हो इस लोभमें स्वप्नमें भी जो इष्ट रूप तथा मन्त्रके परिवर्तनकी बात सोच नहीं सकते, वे ही महाभाग ऐसे हैं कि श्रीराम उनके हृदयमें निवास करें। श्रीकोशलराजकुमारको आनन्द देनेवाला सदन तो उनका ही हृदय मन्दिर है।

'निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी।'

यह चातक प्रेमका आदर्श यदि अध्यात्ममार्गके पथिकके सम्मुख न रहे तो उसकी प्रगति कभी सम्भव नहीं है। भगवान्के अनन्त नाम हैं, अनन्त रूप हैं और उन सर्वेश्वरको प्राप्त करनेके साधन भी अनेक हैं। शास्त्रोंमें साधनोंके वर्णनकी ऐसी शैली है कि जहां जिस साधन या भगवद्रूपका वर्णन किया जाता है, वहां उसीको सर्वश्रेष्ठ, सर्वसुलभ, सर्वोपरि प्रतिपादित किया जाता है, क्योंकि जो जिस साधनका अधिकारी है, उसके लिये वही सर्वश्रेष्ठ है। शास्त्र केवल अधिकारीके लिये वर्णन करते हैं। जो जिसका अधिकारी नहीं है, उसके लिये वह वर्णन भी नहीं है। जिसमें दृढ़ निष्ठा नहीं है, वह जब अपने अधिकारके प्रतिपादक शास्त्रोंसे भिन्न अन्य अधिकार प्रतिपादक शास्त्रोंको पढ़ता है तो उसकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वह कभी एक और कभी दूसरे साधनको अपनानेकी बात सोचने लगता है।

जो बात शास्त्रोंके विषयमें है, वही आचार्यों, सन्तों एवं भक्तोंके विषयमें भी है। फिर वे गृहस्थ हों या साधु। जो जिसका उपासक है,

उसके लिये वह परात्पर भगवद्रूप है। जो जिस साधन पथका पथिक है, वह उसको सुगम मानता है और उसके लाभ उसने देखे हैं। फलतः वह उसीको सर्वश्रेष्ठ एवं सुगम बतावेगा। जब श्रीगोस्वामीजीसे किसीने श्रीरामको द्वादश कलावतार एवं श्रीकृष्णको षोड़शकलावतार कहा तो गोस्वामीजीने उत्तरमें एक दोहा सुना दिया—

जौं जगदीस तौ अति भलो, जौं महीस बड़भाग।
तुलसी चाहत रामपद, जनम जनम अनुराग॥

जैसे अयोध्या जानेके अनेक मार्ग हैं। आप पूछते हैं—'सबसे छोटा और सुगम मार्ग कौन-सा?' अरे भाई, यह प्रश्न ही ठीक नहीं। जो जहाँ है, वहाँसे अयोध्या जो मार्ग जाता हो, वही उसके लिए छोटा और सुगम मार्ग है। दूसरे मार्ग उसके लिए चक्करदार मार्ग है। ऐसे ही भगवान्के सभी रूप तथा सभी नाम नित्य, दिव्य, चिन्मय, मङ्गलमय हैं। उन सबमें अपार प्रभाव है। उनमें कोई छोटा-बड़ा या सुगम-दुर्गम नहीं। जिसका जो इष्ट है, जिसका जो अधिकार है, उसके लिए वही सुगम तथा सर्वोपरि है। ग्रन्थोंको पढ़कर या लोगोंकी बातें सुनकर चित्तको डावांडोल नहीं करना चाहिए। जहाँ जिस भगवद्रूप तथा मन्त्र या नामका जो प्रभाव, जो महिमा लिखी है या सुनी जाती है, वह सब हमारे ही आराध्य रूप एवं आराध्य नामकी महिमा है, यही परम सत्य है। उपासककी निष्ठाका तो यह रूप है—

'बनै तो रघुबर ते बनै, बिगरै तो भरतपूर।
तुलसी औरनि ते बनै, वा बनिबेमें धूर॥'

भगवत्प्राप्तिमें यह सबसे बड़ा विघ्न है कि हम अपनी अयोग्यताकी ओर ही देखते हैं और सोचते हैं कि भला हमें भगवान् कैसे मिलेंगे। भगवान् अनन्त कृपासमुद्र हैं, वे हमपर भी अवश्य कृपा करेंगे, यह दृढ़ विश्वास उपासकमें नितान्त आवश्यक है। सांसारिक कष्टोंसे, विघ्नोंसे और बहुत देर होनेसे भी जिसका विश्वास डिगता नहीं, वही सच्चा भक्त है। उसीकी निष्ठा चातकके समान अनन्य है। जिसके नेत्रोंमें श्री राघवेन्द्रके दर्शनोंकी ऐसी पिपासा है, जैसे प्यासे मनुष्यको होती है। जब

तक पानी न मिले, उसे दूसरा कुछ नहीं सूझता। चाहे जितनी देर हो, पानीकी माँग उसकी बन्द होनेके बदले बढ़ती जाती है। जिन धन्य लोचनोंमें ऐसी प्यास लगती है, उनके हृदयमें 'अनुज जानकी सहित' श्रीराम उसी क्षणसे निवास करने लगते हैं। वह हृदय उन आनन्दसिन्धुको आनन्द देनेवाला भवन बन जाता है।

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुक्ताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु॥

अयो० १२८

आपके भुवन मंगल यश रूप निर्मल मानस-सरोवरमें ही जिसकी हंसिनी रूपी जिह्वा निवास करती है और आपके गुण गुण रूपी मोतियों-को ही चुगा करती है, श्रीराघव ! आप अपने उन अनुरागियोंके हृदयमें निवास करें।

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद-पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

बाल० ३५।३-४

× × ×

मेधा महि गत सो जल पावन।
सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना।
सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥ बाल० ३५।८-६

'श्रीरामचरित मानस' के बालकाण्डमें दोहा नं० ३५ के आगेसे लेकर दोहा नं० ४३ तक श्रीगोस्वामीजीने विस्तार पूर्वक श्रीराम-यश रूपी निर्मल मानस-सरोवरका पूरे रूपकमें अंग-उपांगों आदिके साथ वर्णन किया है। अतः 'जस तुम्हार मानस बिमल' को समझनेके लिये उस पूरे प्रसंगको ही देखना चाहिये।*

---

*मानसराजहंस पंडित श्रीविजयानन्द जी त्रिपाठी (काशी) ने 'मानस-प्रसंग' नामक ग्रन्थमें बड़ी ही गम्भीरतासे श्रीरामचरित मानसके 'मानस-प्रसंग' की विस्तृत विवेचना की है।

भगवान् श्रीरामका यश तो विमल मानसरोवर है। वह नित्य है, दिव्य है, अविकृत है अक्षय है। लेकिन सभी पक्षियोंकी वहाँ गति नहीं। बगुले, कौवे आदि तो गन्दे गड्ढोंके किनारे ही सन्तुष्ट हो सकते हैं।

'संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥
तेहि कारन आवत हियँ हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥'

बाल० ३७।४-५

मानसरोवरमें तो हँसोंके जोड़े हीं निवास करते हैं। अत: जिनकी जिह्वा हंसिनी है—नीर क्षीर-विवेकमें निपुण है, सांसारिक विषय कथा-को छोड़ कर सर्वत्र भगवान्के निर्मल गुणोंको ही ग्रहण करनेवाली है, वही इस मानस-सरमें निवास कर सकती है। हंस मानसरोवरको ही अपना स्थिर निवास मानते हैं। आवश्यकतावश ही वे इधर-उधर जाते हैं और फिर यथाशक्य शीघ्र लौट आते हैं। उसी प्रकार जिसकी जिह्वा श्रीराम-यश रूप निर्मल मानसरोवरकी हंसिनी हो गई है, वह उसीमें निवास करती है। उसे बहुत आवश्यकता हो तभी केवल आवश्यकता भर-को दूसरी बात करता है। सांसारिक बातें प्रयोजनसे अधिक वह करता ही नहीं। उसका व्रत होता है—

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

उत्तर० १२८।६

ऐसी हंसिनी जिह्वाका मुख्य आहार है 'मुकुताहल गुन गन, श्रीराघवके जो अनन्त दिव्य चिन्मय मंगलमय गुणगण हैं, दया, क्षमा कृपा, भक्तवात्सल्य प्रभृति जो उन परम प्रभुके अलौकिक गुण हैं, वे ही मुक्ता हैं। जो आत्माराम आप्तकाम मुक्तपुरुष हैं, वे भी उन गुणोंमें ही अपने चित्त-को लगाये रहते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थंभूतगुणो हरिः॥

—भागवत १।७।१०

जिनकी हृदयग्रन्थि (चिज्जड़ ग्रन्थि) छिन्न हो चुकी है, जो निरन्तर अन्तर्मुख ही रहते हैं, जिन्हें विषयोंमें कोई रस मिलता ही नहीं, ऐसे

मुक्तात्मा मुनि गण भी भगवान्की अहैतुकी (निष्काम भक्ति) करते हैं, क्योंकि श्रीहरिके दिव्यगुण ही ऐसे हैं।

मुक्तात्मा भी निखिल कल्याण गुण गणैकधामके जिन गुणोंपर मुग्ध हो जाते हैं, वही गुण वास्तविक मुक्ता-मोती है। श्रीराम यश रूपी निर्मल मानसरोवरमें रहनेवाली हंसिनी उन मोतियोंको ही चुना करती है। भगवद गुणानुवाद रस रसिकोंकी इस हंसिनी जिह्वाका जीवन ही वे श्रीराघवेन्द्रके गुण रूपी मोती होते हैं। उन गुणोंका वर्णन किये बिना वह रह नहीं सकती, उसके बिना उसका जीवन सम्भव नहीं है।

जिनको सांसारिक विषय-कथा सर्वथा नहीं रुचती। जो संसारके व्यवहारमें प्रयोजन मात्र अत्यल्प भाषण करते हैं, दूसरोंकी जल मिले दूध जैसी साधारण बातों तथा सामान्य लौकिक ग्रन्थोंमें-से भी जो जलके समान अन्य बातोंको छोड़कर दूधके समान श्रीरामके यश, लीला, माहात्म्यको ही ग्रहण करते हैं, जिनका जीवन ही श्रीराम-गुण गान है, जिन्हें श्रीरघुनाथके गुणानुवाद वर्णनका व्यसन है, जो इसके बिना रह नहीं सकते, उनके हृदयमें वे कौशलराजकुमार निवास करें यह महर्षि वाल्मीकि कह रहे हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

प्रभु कहते हैं—'देवर्षि नारदजी, मैं स्थायी रूपसे न तो वैकुण्ठमें रहता और न योगियोंके हृदयमें ही रहता। (इन स्थानोंपर तो कभी-कभी मैं पहुँच जाता हूँ) लेकिन मेरे भक्त जहाँ मेरे नाम, गुण, लीला आदि-का गायन करते हैं, मैं वहाँ स्थायी रूपसे रहता हूँ।'

इस प्रकार प्रथम-भवनके रूपमें सत्संग अथवा श्रवण निष्ठासे भगवत्प्राप्ति, द्वितीय भवनके रूपमें दर्शनकी तीव्र लालसासे भगवत्प्राप्ति कहकर इस तीसरे भवनके रूपमें गुण गानसे भगवत्प्राप्ति बताई गई है। महाराज पृथुके समान किसीकी दृढ़ निष्ठा केवल भगवान्की कथा सुननेमें ही हो, वह केवल सुने ही सुने, किन्तु प्यास पूर्वक सुने—ऐसी प्याससे सुने जो कभी बुझती नहीं, बराबर बढ़ती जाती है, तो उसे इस सुननेकी उत्सु-

कतासे ही प्रभुके श्रीचरण प्राप्त हो जायँगे। जब उन दयामयके दर्शनोंके लिये किसीके प्राण तड़पने लगते हैं तो वे करुणावरुणालय उसे अवश्य दर्शन देते हैं, यह दर्शनके लिये तीव्र अभीप्साकी सफलता तो सर्वमान्य है ही। इसी प्रकार भगवदगुण गान अर्थात् गुण-कीर्तनसे भगवत्प्राप्ति होती है, यह बात भी शास्त्रोंमें और महापुरुषों द्वारा बार-बार कही गई है; ये तीनों साधन अपने आपमें पूर्ण हैं, इसके साथ उनमें एक क्रम भी है। पहिले भगवत्कथा सुनी जाती है, फिर भगवद्दर्शनकी लालसा होती है और तब भगवत्प्राप्तिके लिए साधक भगवदगुणानुवादको अपनाता है। वह नाम जप तथा कीर्तनादिमें प्रवृत्त होता है।

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥

अयो० १२८।१-५

आराध्यपर चढ़ाये हुए पुष्प-माल्य आदिके निर्माल्य होनेपर (उतार लिये जानेपर) उस निर्माल्य प्रसादकी सुगन्धि जिनकी नासिका बड़े आदर पूर्वक ग्रहण करती है, (जो उसे आदर पूर्वक मस्तकसे लगाकर तब सूंघते हैं) जो श्रीरघुनाथजीको अर्पित नैवेद्यका ही प्रसाद भोजन रूपसे सेवन करते हैं और उन प्रभुके प्रसादके वस्त्र तथा आभूषण ही धारण करते हैं, देवमूर्तियाँ या देवस्थान, गुरुदेव और ब्राह्मणोंको देखकर जो (उदासीनता पूर्वक नहीं) प्रेमके साथ और (उपेक्षा पूर्वक नहीं) अत्यन्त विनम्रताके साथ मस्तक झुकाकर उन्हें नमस्कार करते हैं, जिनके हाथ सदा श्रीरामके चरणोंकी सेवामें लगे रहते हैं, जिनके चित्तमें केवल श्रीरामका ही भरोसा है, और जो अपने पैरोंसे श्रीरामसे सम्बन्धित तीर्थोंकी यात्रा करते हैं, महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि 'हे श्रीराघव, आप उनके हृदयमें निवास करें!'

श्रीमद्भागवदमें परम भागवत महाराज अम्बरीषकी स्थितिका वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी नवम स्कन्धके चौथे अध्यायमें बताते हैं—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
वंचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु,
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥१८॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ,
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे,
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥१९॥
पादौ हरे क्षेत्रपदानुसर्पणे,
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया,
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥२०॥
भागवत ९।४

उन परमभक्त महाराज अम्बरीषने अपने मनको श्रीकृष्णचन्द्रके रणारविन्द युगलमें, वाणीको भगवद्गुणानुवर्णनमें, हाथोंको श्रीहरिके न्दिरको झाड़नेबुहारनेमें और अपने कानोंको भगवानकी मङ्गलमयी थाको सुननेमें लगा रखा था। उन्होंने अपने नेत्र भगवान् मुकुन्दकी तियों एवं मन्दिरोंके दर्शनमें, स्पर्श-शक्तिको भगवद्भक्तोंके शरीर-स्पर्श-, नासिकाको श्रीहरिके चरणोंपर चढ़ी तुलसीकी दिव्य गन्ध लेनेमें और ह्वाको भगवानको अर्पित नैवेद्य प्रसादका रस लेनेमें लगाया था। म्बरीषके पैर भगवानके क्षेत्रों (तीर्थादि) की पैदल यात्रा करनेमें लगे हते थे। उनका मस्तक हृषीकेशके चरणोंकी वन्दना किया करता था। नकी जितनी भी कामनाएँ थीं (वस्त्र-आभूषण, माला, चन्दनादि ाला, चन्दनादि सम्बन्धी) वे अपने भोगके लिये नहीं थीं, वे उनसे भग-ानकी सेवा ही करना चाहते थे। उनके मनमें एक मात्र भगवान्‌का दास ने रहनेकी कामना थी। वे वह भगवत्प्रेम चाहते थे इस सेवासे जो केवल तमश्लोक भगवान्‌के निज जनोंमें ही निवास करता है।

श्रीरामचरितमानसके इस प्रसंगमें 'प्रथम भवन' बताते समय कानों-

का सदुपयोग कथा-श्रवण, 'द्वितीय भवन' बताते समय नेत्रोंकी सार्थकता भगवद्दर्शनके लिये लालसा और 'तृतीय भवन' बताते समय वाणीकी सफलता भगवद्गुणानुवर्णन तो बता ही चुके हैं। अब शेष अंगोंका कार्य इस 'चतुर्थ भवन' के निर्देशमें आदिकवि बता रहे हैं।

'कुरंग मातंग पतंगभृंग, मीनाहता पंचभिरेव पञ्च।'

हिरन शिकारीके बाजेके स्वरसे मोहित होकर बाणका निशाना बनता है। हाथी हथिनीका स्पर्श करनेके लोभमें शिकारियों द्वारा लकड़ीकी रखी गई हथिनीके पास आता है और तृण-पत्तोंसे ढके गड्ढेमें गिरकर पकड़ा जाता है, फतिङ्गा रूपके लोभमें दीपकपर आकर जल जाता है, भ्रमर पराग-गन्धकी लालचमें कमलपर बैठता है और सायंकाल कमलके बन्द हो जानेपर उसीमें बन्द हो जाता है तथा मछली जिह्वा स्वादके लोभमें पड़कर बंशीमें फँसती है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धमें पाँच विषय हैं और इनको ग्रहण करनेवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—श्रवण, त्वक, नेत्र, रसना और नासिका। जो भी इन इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होता है, उसका पतन अनिवार्य है। मृग, गज, पतंग आदि एक-एक इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होनेसे मारे जाते हैं, फिर जो मनुष्य होकर पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त है, उसके विनाशकी तो बात ही क्या पूछना है।

विषयी पुरुषोंसे सर्वथा भिन्न बात होती है भगवान्‌के भक्तों की। बात यह है कि पदार्थमें तो कोई गुण-दोष है नहीं, उस पदार्थके प्रति जो भाव होता है, उसीमें गुण-दोष होता है। एक ही नारी किसीकी पत्नी है और किसीकी बहिन। जिसकी वह पत्नी है, उसे पत्नीको देखकर कामके भाव मनमें आते हैं और भाईके मनमें उसे देखकर पवित्र स्नेह मनमें जगता है। यही बात समस्त पदार्थोंके सम्बन्धमें है। सामान्य लोग उत्तम वस्त्र, उत्तम भोजन, उत्तमगन्ध उत्तम स्पर्श अपने लिये—अपने सुखोपभोगके लिये चाहते हैं, अतः इन पदार्थोंसे उनके मनमें विषयासक्ति बढ़ती है और इससे उनका पतन होता है। भगवद्भक्त भगवान्‌की प्रसादी नैवेद्यका भोजन करता है, भगवानके प्रसाद वस्त्रादिका धारण करता है। उसे भी उत्तम गन्ध, उत्तम रस, उत्तम स्पर्श प्राप्त होते हैं—खूब उत्तम प्राप्त

होते हैं; किन्तु वे उसके लिये भगवत्प्रसाद हैं। उनके सेवनसे उसके चित्तमें विषय-बुद्धिके बदले भगवद्बुद्धि जागृत होती है। फलतः उसका चित्त मलिन होनेके स्थानपर शुद्ध होता जाता है। उसे भगवत्प्रसाद-सेवनसे भगवत्प्राप्ति होती है; क्योंकि प्रसाद उसके लिये विषय-भोग नहीं हैं।

ज्ञानेन्द्रियोंका उपयोग ही पर्याप्त नहीं है। भगवत्परायण व्यक्तिका पूरा जीवन—पूरा अन्तर्बाह्य भगवन्मय होता है, भगवान्‌के लिये होता है। उसका मस्तक देव-प्रतिमा, देवता, ब्राह्मण एवं गुरुदेवको प्रणाम करता है। इनका वह सदा सम्मान करता है। जब उसके आराध्य ही गौ, ब्राह्मण एवं देवताओंकी रक्षाके लिये भूमिपर अवतरित होते हैं तो वह कैसे इनकी सेवा नहीं करेगा। गुरु, देवता एवं ब्राह्मणोंका अपमान तो दूर, उपेक्षा भी वह नहीं कर सकता। ये तो उसके परम सम्मान्य हैं। इन्हें वह बार-बार प्रणाम करते रहता है और इसीमें अपने मस्तककी सफलता मानता है।

उसके हाथ सदा आराध्यकी पूजा करते रहते हैं। इसमें 'कर नित करहिं रामपद पूजा'में 'नित' शब्द बतलाता है कि वह जो कुछ भी करता है, वह सब अपने स्वामीकी आराधनाके लिए ही करता है। प्रभुकी आराधनासे जिसका सम्बन्ध न हो, ऐसा कोई कर्म उनके हाथ नहीं करते। अपने शरीरके लिये, संसारके किसी कामके लिये जो वह हाथ हिलाता है, वह भी इसीलिये कि शरीरसे प्रभुकी सेवा होती है, संसारके उस कामको करनेसे प्रभुकी सेवा बनेगी। उसके समस्त कर्म आराधना बन गये होते हैं। वह जो कुछ करता है, वह सब 'रामपद पूजा' ही हो चुका है।

ऐसी स्थिति कैसे होती है ? ऐसी स्थिति तभी होती है, जब हृदयमें केवल श्रीरामका ही भरोसा रह गया हो। जब शरीर और संसारमें कोई आसक्ति न हो और न अन्यत्र कहीं आशा-भरोसा हो। प्रभु स्वयं कहते हैं—

> 'मोर दास कहाइ नर आसा।
> करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ॥ उत्तर० ४५।३

जिसके हृदयमें केवल श्रीराघवेन्द्रका भरोसा है, वह दूसरेके लिये कोई काम क्यों करेगा ? उसे अपने स्वामीको छोड़ अन्यकी सेवाका प्रयोजन ही क्या है ?

'चरन राम तीरथ चलि जाहीं।' में बताया गया है कि तीर्थ यात्रा पैदल ही होनी चाहिये। तीर्थोंमें जाकर भी मोटर-ताँगोंसे घूमना तो फिर घूमना ही है। यह तीर्थ-यात्रा नहीं है। तीर्थ-यात्रा होती है चरणोंको सफल बनानेके लिये और चरण तो चलेंगे तब सफल होंगे। संसार स्वार्थ-के लिये तो भटकते हैं वे और भटकते ही रहते हैं। श्रीरामके तीर्थोंकी ओर उन तीर्थोंकी यात्राके लिये उन तीर्थोंमें चलना ही वास्तविक चलना है और यही चरण पानेका परम फल है।

इस प्रकार जिनकी नासिका सामान्य सुगन्धिमें कोई रुचि नहीं रखती। केवल भगवानको अर्पित पुष्प-माल्यादिकी ही सुगन्धि लेती है और वह सुगन्धि भी सुखोपभोगके लिये नहीं, आदर पूर्वक—अपनेको पवित्र करनेके लिये लेती है, जिनकी रसना नाना प्रकारके व्यंजनोंके लिये कभी लालायित नहीं होती, केवल भगवत्प्रसाद ही जिसे प्रिय है और उसमें भी जिसे स्वादका सर्वथा ध्यान नहीं, भगवत्प्रसाद मात्र जिसे अमृत प्रतीत होता है, जो वस्त्र और आभूषण भगवानका प्रसाद ही धारण करते हैं, अपनेको सजानेके लिये नहीं पहिनते और न उनमें आसक्ति रखते, जिनका मस्तक देव-प्रतिमा, गुरु तथा ब्राह्मणोंके सामने सदा झुक जाता है और यह नम्रता दिखावटी नहीं होती, इस नमस्कारमें उनके हृदयका सच्चा प्रेम होता है और बहुत अधिक विनय होती है, देवता, ब्राह्मण, गुरुके प्रति अविनय, उपेक्षा या रूक्ष व्यवहार जिनसे कभी होता ही नहीं, जिनके हाथ केवल भगवत्सेवाके निमित्ति कार्य करते हैं अर्थात् जिनके समस्त कार्य भगवत्सेवारूप हो चुके हैं, जिनके हृदयमें एकमात्र श्रीरामका ही भरोसा है और जो समय, सुविधादि पाते ही प्रायः भगवत्तीर्थोंकी पैदल यात्रा करते हैं, अपने स्थानपर भी जो आराध्यके मन्दिरोंका नियमित दर्शन करते हैं, उनके मन उन श्रीअवधराजकुमारके लिये बसने योग्य स्थान हैं वहीं वे सुखपूर्वक निवास करते हैं।

[पंचम भवन]

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा।
पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना।
बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना॥

तुम्ह तें अधिक गुरहि जियें जानी।
सकल भायें सेवहिं सनमानी ॥

अयो० १२८।६-८

सबु करि मागहिं एक फलु, राम चरन रति होउ।
तिन्हकें मन मन्दिर बसहु, सियरघुनन्दन दोउ ॥

अयो० १२९

'जो नित्य तुम्हारे मन्त्रराज (श्रीराम नाम या राम षडक्षर मन्त्र) का जप करते हैं तथा परिवारके साथ तुम्हारी पूजा करते हैं, अनेक प्रकारसे पर्वादिके अनुरूप तर्पण तथा हवन-यज्ञादि करते हैं, ब्राह्मणोंको भोजन कराके उन्हें पर्याप्त दान देते हैं एवं गुरुदेवको अपने हृदयमें आपसे भी श्रेष्ठ समझकर सम्पूर्ण भाव-विशुद्ध भावसे (मन, वचन, कर्म) से उनकी सेवा करते हैं, उनका आदर करते हैं और यह सब करके केवल यही एकमात्र इन कर्मोंका फल चाहते हैं कि हमारी श्रीरामके चरण कमलोंमें प्रीति हो।' महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—'श्रीरघुनाथजी, आप इन श्रीविदेहकुमारीजीके साथ अपने ऐसे अनुरागी सेवकोंके मन-मन्दिरमें ही निवास करें!'

अब तक जो साधन भगवत्प्राप्तिके इस क्रममें कहे गये थे और आगे जो कहे जायेंगे इस क्रममें, वे ऐसे हैं कि उनका सम्बन्ध केवल उपासक तक ही है और उनमें द्रव्यकी कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। भगवान न किसीकी पूजाके भूखे हैं और न पदार्थके। श्रीप्रह्लादजी कह रहे हैं—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो,
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं,
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥

—भागवत ७।९।११

जो परतन्त्र होता है वह दूसरोंसे सहायता चाहता है, जो दरिद्र होता है, जिसके पास अभाव होता है, वह दूसरोंसे पदार्थ चाहता है; किन्तु श्रीहरि तो सर्वेश्वर हैं, सबके स्वामी हैं और अपने आपमें ही परिपूर्ण हैं, वे अज्ञानी जीवोंसे किसी प्रकारका कोई सम्मान नहीं चाहते। लेकिन

मनुष्य भगवानके लिये जो कुछ करता है, वह सब उसे स्वयं ठीक वैसे ही प्राप्त होता है, जैसे अपने मुखको अलंकृत करनेपर दर्पणमें पड़ा मुखका प्रतिबिम्ब स्वयं अलंकृत हो जाता है।

भगवान् सन्तुष्ट होते हैं भावसे; किन्तु जिनके पास उन दयामय प्रभुने पदार्थ दे रखे हैं, उनके पदार्थोंकी सफलता भी यही है कि वे भगवत्सेवामें लगें। इसके साथ ही परिवारके प्रति भी मनुष्यका कुछ कर्तव्य होता है और सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है परिवारको भगवान्की ओर प्रवृत्त करना। भगवान् ऋषभ देवजीने बताया है—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्,
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स,
स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥

—भागवत ५।५।१८

नित्य निरन्तर सिरपर सवार मृत्युके पंजेसे जो छुड़ा न सके वह गुरु गुरु नहीं है, वह स्वजन स्वजन नहीं है, वह पिता पिता नहीं है, वह माता माता नहीं हैं, वह देवता देवता नहीं है और वह पति पति नहीं है।

अतएव सम्पत्तिशालियोंको सम्पत्तिका सदुपयोग, गृहस्थको गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए उचित मार्ग तथा परिवारके प्रति उसका वास्तविक कर्तव्य बतलाते हुए यह 'पंचम भवन' रूप साधन कहा गया है।

हम दूसरोंको उपदेश करें; किन्तु स्वयं कुछ न करें, यह 'पर उपदेस कुसल बहु तेरे।' वाली बात नहीं होनी चाहिये। साधनका मार्ग ऐकान्तिक होता है। कर्ताकी ही मुख्यता होती है उसमें। अतः सबसे पहिली बात है—

'मन्त्रराजु नित जपहिं तुम्हारा।'

स्वयं तुम्हारे मन्त्रराजका जप करते हैं। मन्त्रराज वैसे तो श्रीरामचरितमानसमें 'राम' नाम ही माना गया है; किन्तु जिसकी जिस नाम या मन्त्रमें निष्ठा है, उसके लिये वही मन्त्रराज है। इसीलिये यहाँ मन्त्रराज कहकर उसे स्पष्ट नहीं किया गया। अवश्य ही वह मन्त्रराज 'तुम्हारा' अर्थात् श्रीभगवान्का होना चाहिये; किसी देवी-देवताका नहीं, क्योंकि भगवान्ने गीतामें बहुत स्पष्ट कहा है—

'देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।' (गीता ७।२३)

जो भगवान्‌का भजन करेगा, वही भगवान्‌को पावेगा। देवताओं-का पूजनादि करनेवाले देवलोक (स्वर्ग) ही पा सकते हैं। अतः होना चाहिये इष्ट-मंत्र भगवान्‌का और वह भी 'नित जपहिं' अर्थात् उसमें अन्तर नहीं पड़ना चाहिये। आज जप हुआ और कल नहीं, ऐसा न हो। नियमपूर्वक बिना नागा जप जीवन पर्यन्त चले। इस प्रकार स्वयं अपना साधन करते हुए—

'पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा।'

संगका प्रभाव पड़ता है। सबसे अधिक संग हमें अपने परिवारका प्राप्त होता है। यदि परिवार शुद्ध, सात्विक, भगवत्सेवा-परायण हो तो हमें अपने साधनमें सहज प्रोत्साहन मिले। ऐसा परिवार तपोवनसे भी उत्तम है। फिर हमारा परिवारके प्रति कर्तव्य है और सबसे बड़ा कर्तव्य है कि हम परिवारके सदस्योंको भगवान्‌की ओर लगावें। इससे बड़ी सेवा किसीकी और कुछ नहीं की जा सकती कि उसे इस जन्म-मरणके दुर्निवार चक्रसे छूटनेमें प्रोत्साहित किया जाय। परिवारमें यदि भगवत्पूजन होगा, यदि भगवान्‌की प्रतिमा घरमें होगी तो अपने आप खान-पान, रहन-सहन मर्यादामें रहेगा। शुद्ध एवं पवित्र रहेगा। तब भोजन बनेगा भगवान्‌को नैवेद्य लगानेके लिये। उपार्जन होगा भगवान्‌की सेवाके लिये। विषय भोग एवं शरीर सेवाके साथ परिवारके सभी कर्म भगवत्सेवा-स्वरूप हो जायेंगे। इस प्रकार घर जो बन्धनका कारण है, वह मोक्षदाता बन जायगा।

'तरपन होम करहिं बिधि नाना।'

आज कल अनन्य-फनन्य होनेका रोग हो गया है उपासकों में। अनन्यताका अर्थ कर लिया गया है कि दूसरे देवताओंका विहित पूजन भी न करना, उन्हें नमस्कार न करना; किन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है। देवता और पितर आदि मनके, इन्द्रियोंके, पदार्थोंके, परिस्थितियोंके अधिष्ठाता हैं। हम सरकारी कर्मचारियों, सम्पन्नों आदिकी सेवा सत्कार तो करते हैं और उसमें हमारी अनन्यता नष्ट नहीं होती, पर गणेश या

शिवजीका व्रत, पूजन, उपवास करनेमें अनन्यता नष्ट होने लगती है। हम समझते ही नहीं कि देवता भी सन्तुष्ट होकर हमारी अपनी निष्ठामें हमारी उपासनामें सहायक हो सकते हैं। गोस्वामीजी एवं उनका श्रीरामचरितमानस शास्त्र-मर्यादाका पूरा समर्थक है। मानसकी अनन्यताका अर्थ है इष्टके अतिरिक्त अन्यत्र अनुरागका न होना। दूसरोंकी पूजा करनेमें बाधा नहीं, पर उनसे भी इष्टके प्रति प्रेमकी ही याचना करना अन्य कुछ नहीं चाहना। लेकिन शास्त्र जब जिस कार्यमें, जिस कालमें, जिस प्रकार जिस देवताके पूजनका विधान करते हैं, जब पितृ-तर्पणके समय हैं, तब तर्पण हवनादि उन-उन विधियोंसे करना ही चाहिये।

'बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना।'

भगवान्‌के दो मुख हैं—एक अग्नि और दूसरे ब्राह्मण। अग्निमें विधि-पूर्वक हवन करनेसे भगवान् तृप्त होते हैं और ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे भी तृप्त होते हैं। इन दोनोंमें भी वे श्रीहरि स्वयं एकको प्रधान बतलाते हैं—

नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने,
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं,
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः॥

—भागवत ३।१६।८

जो अपने सम्पूर्ण कर्मफल मुझे समर्पित करके सदा सन्तुष्ट रहनेवाले निष्काम ब्राह्मण हैं, वे जब घी से तर पकवानोंका भोजन करते हैं तब उनके मुखमें जाते एक-एक ग्राससे मैं जैसा तृप्त होता हूँ वैसा यज्ञमें अग्नि मुखमें यजमानकी दी हुई आहुतियोंके ग्रहणसे तृप्त नहीं होता।

मन्त्रहीन एवं दक्षिणाहीन कर्म तो सफल होते नहीं हैं, पर यहाँ 'बहु दाना' द्वारा कहा जा रहा है कि दक्षिणा देनेमें कृपणता नहीं करना चाहिये। अपनी शक्तिके अनुसार भरपूर दक्षिणा देना चाहिये।

'तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी।
सकल भायँ सेवहिं सनमानी॥'

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥'

शास्त्र गुरु-महिमासे पूर्ण है और श्रीराम चरितमानसमें भी गुरु महिमा बहुत अधिक है। यहाँ तो कहा जा रहा है कि गुरुको आराध्यसे भी अधिक मानना चाहिये और 'सकल भाव' अर्थात् मन, वचन कर्मसे आदर पूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिये। लेकिन इसके साथ यह ध्यान रखनेकी बात है कि जो ज्ञानदाता है, वही गुरु है। श्रीगोस्वामीजी अन्धाधुन्ध गुरुडमके समर्थक नहीं हैं।

'सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।'

कर्मोंका, देव-पितृ-पूजनादिका त्याग नहीं है। उन सब शास्त्रविहित कर्मोंको वे करते हैं और सावधानीसे, उत्साहसे, श्रद्धासे करते हैं, किन्तु उन कर्मोंका कोई पुण्य नहीं चाहिये उन्हें। उनका दूसरा कुछ फल नहीं चाहिये। वे तो सर्वत्र एक ही चाह रखते हैं, एक ही मांग है उनकी सबसे—

'राम चरन रति होउ।'

लेकिन उनके मन-मन्दिरमें 'सिय-रघुनंदन दोउ' ही क्यों? श्री लक्ष्मणजीको छोड़ क्यों दिया यहाँ महर्षिने?

बात यह है कि श्रीलक्ष्मणजी तो जीवोंके परमाचार्य हैं। वे ही गुरुतत्व हैं। जितने भी गुरु हैं, वे उन्हींके अंश हैं। अतः गुरुतत्वके रूपमें यहाँ इस आराधक द्वारा वे तो पहिले ही इष्टसे भी अधिक माने जा रहे हैं और सब प्रकार सम्मानपूर्वक सेवित हो रहे हैं। रह गये हैं 'सिय-रघुनन्दन' सो इन परात्पररूप दम्पतिको महर्षि आराधकके हृदयमें निवास करनेको कह रहे हैं।

[षष्ठ भवन]

काम कोह मद मान न मोहा।
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह कें कपट दम्भ नहिं माया।
तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥ अयो० १२८।१-२

जिनमें काम, क्रोध, मद, मान (अहंकार) मोह, लोभ, क्षोभ, राग,

द्वेष, कपट, दम्भ एवं माया नहीं हैं, हे रघुनाथ जी ! आप उनके हृदयमें निवास करें।

प्रथममें श्रवण, द्वितीयमें दर्शनेच्छा, तृतीयमें गुण-गान और चतुर्थमें अर्चा ये ऐसे साधन बताये गये जो अकेला व्यक्ति कर सकता है। प्रथम तीन तो निर्धन भी कर सकता है और चौथा कुछ अर्थकी अपेक्षा रखता है। पञ्चम परिवार सहित करनेका साधन होनेके कारण गृहस्थका साधन है। ये पांचों उपासना प्रधान साधन हैं। क्योंकि भगवान्का गुण श्रवण, भगवान्के दर्शनोंकी इच्छा, भगवान्का गुणगान, भगवान्की अर्चा-पूजा अकेले या परिवारके साथ करनेकी बात इनमें हैं। इनमें भी पहिले चार तो विशुद्ध उपासना मार्ग हैं और पांचवां कर्मनिष्ठ साधक-मार्ग है अब छठवेंमें इन्द्रिय एवं चित्तजयीकी बात कही जाती है। यह वीतराग योगी एवं ज्ञानी पुरुषोंके मार्गका निर्देश करता है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

—गीता १६।२१

किसी भी सांसारिक तथा पारलौकिक सुखको भोगनेकी इच्छाका होना ही काम है। जननेन्द्रियकी तृप्ति सम्बन्धी वासना इनमें सबसे प्रधान होनेके कारण लोकमें उसे काम कहा जाता है; किन्तु जिह्वा, नासिका, कर्ण आदि किसी भी इन्द्रियके विषयको पानेकी इच्छाका नाम ही काम है। हमारी कामनामें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है। कामना न हो, आसक्ति न हो तो क्रोध नहीं होगा। कामके पीछे ही क्रोध आता है, अतः शास्त्रकारोंने क्रोधको कामानुज—कामका छोटा भाई कहा है। भगवान्ने कहा है—

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

गीता २।६२-६३

संगसे कामना होती है, फिर वह संग चाहे बाहर प्राप्त हो या चिन्तन रूप मानसिक संग हो। कामनामें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है

और क्रोधसे मोह (अविचार) हो जाता है। फलतः स्मृति नाश, बुद्धिनाश और विनाशकी परम्परा आ जाती है। लेकिन जो धीर पुरुष हैं, वे कहते हैं—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात सम्भविष्यसि।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि ततस्ते प्रभवः कुतः॥

अरे काम, मैं तेरी जड़ जानता हूँ। तू संकल्पसे उत्पन्न होता है। मैं किसी कामनाका संकल्प ही नहीं करूँगा, फिर तेरी उत्पत्ति ही कैसे हो सकती है।

मद है घमण्ड। धनका, बलका, विद्याका, स्वजनोंका, अधिकारका और तपका भी मद होता है। मदसे व्यक्ति अन्धा हो जाता है। वह सम्मान्य पुरुषोंका भी तिरस्कार करता है।

मान है अहंकार! सत्कुलमें जन्म, धर्म, विद्या, तप आदिका अहङ्कार होता ही है। मद और मानमें थोड़ा ही अन्तर है। मान जब सीमा पार कर जाता है तो उसीका रूप मद बन जाता है। मैं द्विज हूँ अतः श्रेष्ठ हूँ और दूसरे द्विजेतर हैं, अतः निकृष्ट हैं। मैं साधन करता हूँ, ये विषयरत पामर प्राणी भला मेरी तुलना कैसे कर सकते हैं। इस प्रकार दूसरोंसे किसी कारण अपनेको श्रेष्ठ मानना तथा दूसरोंको निकृष्ट समझना मान है। मान रहनेपर भी व्यक्ति प्रायः सावधान रहता है। वह दूसरोंका तिरस्कार बाहर क्रियामें नहीं करता, किन्तु जब वही मान-मद बन जाता है, तब वह दूसरोंका तिरस्कार करने लगता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥

भा० १।८।२६

प्रभो, आप अकिञ्चन पुरुषोंको ही प्राप्त होनेवाले हैं, अतः जिन पुरुषोंका घमण्ड उच्चवर्णमें जन्म होने, ऐश्वर्य पाने, वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन करने या धनवान होनेसे बड़ा हुआ है, वे तो आपका नाम लेनेके भी अधिकारी नहीं हैं।

मोह—शरीर तथा स्वजनोंमें आसक्ति, लोभसुखोपभोगके पदार्थोंमें आसक्ति, क्षोभ—अभीष्ट पदार्थों, व्यक्तियों या अपने सम्मानमें आघात लगनेपर अर्थात् मोह, लोभ तथा मानमें चोट पहुँचनेपर होनेवाली व्याकुलता. राग-मोहयुक्त प्रेम, द्रोह-रागका विरोधी भाव द्वेष अर्थात् क्षोभसे होनेवाला रोषात्मक भाव ! काम-क्रोध, मद-मान, मोहलोभ, रागद्वेष ये चित्तके विकार हैं। जबतक ये चित्तमें हैं, चित्त मलिन और चञ्चल रहेगा। भगवान् ऐसे चित्तमें भला कैसे निवास कर सकते हैं। उनके लिये तो निर्मल चित्त अपेक्षित है। अतः साधकके चित्तमें से इन विकारोंको दूर होना ही चाहिये।

ये नौ विकार मानसिक हैं। ये अपनेमें हैं या नहीं यह बात ठीक-ठीक स्वयं ही जानी जा सकती है। लेकिन इस चित्त शुद्धिके साथ व्यवहारकी शुद्धि भी आवश्यक है। साधकके व्यवहारमें कपट, दम्भ और माया नहीं होनी चाहिये। जिन्हके कपट दम्भ नहीं माया। इसमें कपट दम्भ और माया तीनों ही छलके ही उत्तरोत्तर बड़े रूप हैं। साधारणतः जहाँ हम जानते हैं कि यहाँ छल सम्भव है, वहाँ हमारी बुद्धिको जो धोखा दिया जाता है, वह कपट है। दूकानदार ठीक भाव नहीं बतावेगा, पदार्थ हमें मिश्रित मिलेंगे, यह हम जानते हैं और सावधान रहते हैं। दूकानदार फिर भी अपने और अपने मालको जो सच्चा बताकर हमें ठग लेता है, वह उसका कपट है। धर्मका दिखावा करके अधर्म करना दम्भ है। चोर या डाकू अपनेको छिपाये रखनेके लिये यदि साधुका वेश बना लेते हैं तो यह दम्भ है उनका। मायाका रूप दम्भसे भी विलक्षण है। जहाँ अधर्मको ही तर्क, बुद्धि या कौशलसे धर्म एवं कर्तव्यका रूप दे दिया जाता है, उसे माया कहते हैं। जब कोई अपनेको 'ब्रह्म' मानकर या कहकर अपनी इन्द्रियोंके भोगसे अपनेको पृथक बताता है और विषयासक्त बना रहता है, जब कोई अपनेको अवतार बताकर रासलीला करने लगता है तो वह माया करता है। किसी की बुद्धिको अपने प्रबल तर्कसे मोहमें डालकर या किसीकी भावुकताका लाभ उठाकर जब अधर्म-अनाचारको धर्म, उपासना, कर्तव्यादि बताया जाता है तो वह माया होती है। कपट सीधे धोखा है और दम्भ धर्मकी आड़में धोखा है; किन्तु दोनों मनुष्यसे केवल आर्थिक लाभ चाहते हैं। दूसरोंके धनको ठगते हैं। लेकिन माया दूसरोंके

धन और धर्म दोनोंका नाश करती है। दम्भ या कपटको करनेवालेका ही पतन होता है। दम्भ या कपटके जो शिकार हुए, उनका तो कुछ धन ही गया, किन्तु माया करनेवाला अपने साथ दूसरोंका भी पतन करता है। उसके जालमें पड़नेवाले भी अधोगामी हो जाते हैं। इसलिये मायावी राक्षसोंके समान ही ये मायावी भी अधम हैं। भगवान् बलरामजी ने कहा—

'वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः।'

—भागवत १०।७८।२७

अपनेको धर्माचार्य प्रख्यात करके अधर्म करनेवाले मेरे सब वध्य हैं, मुझे उन्हें मार देना चाहिये, क्योंकि वे सबसे बड़े पापी हैं।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि इस साधनमें महर्षि बाल्मीकि उपासनाके किसी अंगका नाम नहीं लेते। काम, क्रोध, मद, मान, मोह, लोभ, क्षोभ, राग और द्वेष ये नौ दोष चित्तमें न हों और व्यवहारमें कपट, दम्भ तथा माया न हो–बस? यह स्थिति किसी भी साधनसे प्राप्त हो जाय। ज्ञान, योग, निष्काम-कर्म आदि कोई भी साधन इस अवस्थामें साधकको पहुँचा दे तो उसके हृदयमें श्रीराम निवास करेंगे। इसकी कोई अपेक्षा नहीं है कि उपासना उसने की या नहीं की।

यहीं यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि श्रवण, कीर्तन, अर्चन आदि उपासनाओंमें भक्त नित्य निरन्तर भगवान्के आश्रित रहता है। प्रभुने स्वयं कहा है—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥ अर० ४३।८
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥ अर० ४३।५

इसलिए अबतक बताये गये पहिले पाँच साधनोंमें कहीं यह नहीं कहा गया कि 'चित्त कामादिसे रहित हो तभी उसमें प्रभु पधारें।' उपासना स्वयं विकारोंको दूर करती है और फिर उपासक तो उन दयामयका

बालक है। बालकके शरीर और खिलौने गन्दे हैं तो उनको स्वच्छ करने-का दायित्व मातापर है। माता बालकको कैसे कह देगी कि तू स्वच्छ होकर आ तब गोदमें उठाऊँगी। जो एकमात्र श्रीरामपर निर्भर है, उसका हृदय-मन्दिर तो श्रीरामका अपना भवन है। उसे वे स्वयं स्वच्छ कर लेंगे, क्योंकि वह स्वच्छ हो तो और मलिन हो तो, उन्हें वहाँ तो रहना ही ठहरा।

सरलता या कठिनताकी बात मैं नहीं करूँगा। यह तो अपनी-अपनी रुचि तथा अधिकारकी बात है। जिसकी जैसी रुचि है, जिसका अधिकार है, उसे वही मार्ग सरल है। श्रीराम तो घट-घट व्यापी हैं। वे सबके अन्तस्तलमें नित्य निवास करते हैं। चित्तमें रजोगुणके विकारोंके कारण चञ्चलता तथा तमोगुणके दोषोंके कारण मैल है। मैल दूर हो जाय और चञ्चलता न रहे तो स्थिर निर्मल चित्तमें उन हृदयस्थ देवके दर्शन अवश्य होंगे। वे श्रीरघुनन्दन अपने आप उसमें निवास करेंगे। जब तक चित्तके दर्पणपर लोभ, मोह, मद, मान, राग, द्वेष, कपट, दम्भ और मायाका मैल लदा है, जबतक वह दर्पण काम, क्रोध, क्षोभादिके कारण चञ्चल हो रहा है, तभी तक वे वहाँ दीखते नहीं। इन दोषोंको आप चाहें जिस साधनसे निर्मूल कर दें, वे सच्चिदानन्दघन उसे तत्काल अपने निवासके रूपमें स्वीकार कर लेंगे।

[सप्तम भवन]

सब के प्रिय सब के हितकारी।
दुख-सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।
जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं।
राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥

अयो० १२८।३-५

जो सबके प्रिय हैं, सबका भला करनेवाले हैं, जिन्हें दुःख-सुख निन्दा-स्तुति समान है, जो विचारपूर्वक प्रिय एवं सत्य वचन बोलते हैं तथा सोते-जागते प्रत्येक समय आपकी ही शरणमें रहते हैं, जिनकी एक-

मात्र आप ही गति हैं, अन्य कोई आश्रय जिन्हें, हे श्रीरघुनाथजी। आप उनके मनमें निवास करें।

षष्ठममें निवृत्तमार्गी वैराग्य प्रधान साधकोंकी बात कहकर सप्तममें प्रवृत्ति मार्गमें लगे लोकोपकारी पुरुषोंकी बात कही गयी। लोकनेता या जनसेवक अथवा आचार्य आदि उस किसी भी पुरुषको ऐसा होना चाहिये जो एक वृहत् समूहका अग्रणी है, यह आदर्श है इसमें।

'सबके प्रिय' अर्थात् अपना कोई आग्रह किसी प्रकारका रखना नहीं। जो अपना कोई आग्रह रखेगा, उसका किसी न किसीसे विरोध होगा। वह सबका प्रिय नहीं बन सकता। जैसे वायुका किसीसे अनुकूल-प्रतिकूल भाव नहीं, जैसे आकाश सबके लिये समान है, वैसे सच्चा सत्पुरुष सबके ही अनुकूल होता है। वह किसी का विरोधी नहीं होता। उसे सभी प्रिय लगते हैं।

तब क्या वह चोरके साथ चोरी करेगा? दूसरोंके मुकदमेमें झूठी साक्षी देगा? शराबीको शराब पीनेमें सहायता करेगा? ऐसे प्रश्न उठें, इसीके लिये 'सबके हितकारी' कहा गया। सत्पुरुष सबका प्रिय इसलिये है कि वह सबका हितैषी है। वह सबकी भलाई करता है। हित-कारीका अर्थ दुष्कर्मोंमें सहायता करने वाला नहीं है। सच्चा हित है आत्मा का हित। सच्चा हितकारी वही है जो शरीर और मनके विरुद्ध भी आवश्यक हो तो ऐसा करके भी आत्महित करता है। किसीको फोड़ा हो जाय तो उसकें रोने चिल्लानेपर भी फोड़ेको चीर देना ही सच्चा हित है। रोगीके मांगनेपर भी उसे कुपथ्य न देना उसका हित है। माता कुमार्ग जाते पुत्रको दण्ड देकर उसका सच्चा हित ही करती है। इस प्रकार हितकारी भले पहिले अप्रिय लगे; पर अन्ततः वह प्रिय ही लगता है। कड़वी दवा पिलानेवाले वैद्यको उस समय तो रोगी मनमें बुरा भला कहता ही है, पर वैद्य उसे प्रिय होता है। स्वस्थ होनेपर वह वैद्यका कृतज्ञ होता है। एवं उसका सम्मान करता है। अतः सबका वही वास्तविक प्रिय है जो सबका वास्तविक हितकारी है। किसीको प्रसन्न करनेके लिये उसके अनुचित कार्यमें सहायता करनेवाला उसका अप्रिय और अहित करनेवाला ही है।

'सुख-दुःख सरिस' जो सबका हितैषी है, उसे सुख ही सुख मिलेगा, ऐसी कोई बात नहीं है। अनेक बार लोग शंका करते हैं कि अमुक भजन करता है तो उसे रोग क्यों हुआ ? उसपर विपत्ति क्यों आयी ? अमुक अधर्म करनेपर भी स्वस्थ, धनी और सुखी क्यों है ? ये प्रश्न प्रारब्धके विधानको न जाननेके कारण होते हैं। सुख या दुःख प्रारब्धसे आता है। पिछले जन्मोंके जैसे कर्म थे, वैसा उसका फल इस जन्ममें मिल रहा है। इस जन्मके कर्मोंका फल आगेके जन्मोंमें भोगना होगा। जैसे कौन मजदूर किस प्रकार भोजनादिमें सुखी है, यह बात उसके पिछले सप्ताहके श्रमपर निर्भर है, यदि मजदूरी साप्ताहन्त मिलती हो। इस समयके श्रमका फल उसे सप्ताहान्तमें ही प्राप्त होगा। इसलिये प्रारब्धमें जो सुख या दुःख है, उसे तो भोगना ही पड़ेगा। सुख जैसे भगवानका प्रसाद है, दुःख भी उन्हींका आशीर्वाद है। अतः उपासक न तो सुखमें प्रमत्त होता और न दुःखमें व्याकुल ही होता। वह दोनोंमें समान रहता है।

'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैनं पापमवाप्स्यसि ॥' गीता २।३८

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—सुख और दुःखको, लाभ और हानिको, जय और पराजयको, समान मानकर युद्ध (कर्तव्य) करो। इससे पाप तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकेगा।

'प्रसन्नतां या न गताऽभिषेकस्तथा, नमम्लेवनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य सा·························॥'

ऐसे आराध्यका जो ध्यान-चिन्तन करता है, उसके मनमें सुख मत्यशांन बनकर उथल-पुथल मचावे और दुःख उसे व्यथित करे, यह किसी प्रकार संगत नहीं है।

'सरिस प्रसंसा-गारी।' यह भी सम्भव नहीं है कि जो सबका प्रिय हो एवं सबका 'हितकारी' हो, उसे सर्वत्र प्रसंसा ही प्राप्त होगी। निन्दा करनेवाले असज्जन सबके होते हैं।

'मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा।
तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ॥' बाल० ४।१

लेकिन जो भगवत्प्राप्तिके मार्गमें बढ़ रहा है, उसका तो आदर्श हो दूसरा है। उसके लिये तो 'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा' है। श्री चैतन्य महाप्रभुने बताया है—

'सम्मानं कलयाति घोर गरलं नीचापमानं सुधां।'

सम्मानको अत्यन्त भयंकर हलाहल विष समझो और नीचके द्वारा हुए अपमानको अमृतके समान लाभकारी मानो। इसीसे महात्मा कबीर ने कहा—

'निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय।'

लोक सेवाका मार्ग ही ऐसा है कि इसमें पद-पदपर सुख-दुख, मान-अपमान मिलता ही रहता है। जहां उसका जयघोष होता है, वहीं काले झण्डे भी दिखाये जाते हैं। जो भी सुख-दुख या मान-अपमानको ध्यान देने योग्य मानेगा, वह अपने कर्तव्यपर स्थिर नहीं रह सकेगा।

'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥'
(गीता—१२।१५)

जिससे लोग उद्विग्न नहीं होते (जिसे लोग अपना अप्रिय नहीं मानते। और लोगोंसे जो उद्विग्न नहीं होता (लोगोंको देनेवाला या अपमान करनेवाला मानकर जो घबड़ाता नहीं) हर्ष (सुख और मानमें) अमर्ष (दुख और अपमानसे) भले (दुख या अपमान न आवे तथा सुख या मान नष्ट न हो) और उद्वेग (व्याकुलता) से जो मुक्त है, वह मुझे (भगवान्‌को) प्रिय है।

'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।'

झूठ तो साधक बोलेगा ही नहीं, पर 'खरी बात' कहनेका गर्व भी उसमें नहीं होना चाहिये। यह 'खरी बात' कहना भी दुर्गुण ही है। नीति यह है—

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम॥
(सत्य बोले, किन्तु प्रिय सत्य बोले। अप्रिय सत्य न बोले।)

लेकिन 'मानस' में यहां 'विचारी' बोलनेको कहकर और अधिक चमत्कार एवं उत्तमताका आदर्श उपस्थित किया गया है। जो अध्यात्म-मार्गका पथिक है, उसे वावदूक (बकवादी) नहीं होना चाहिये। उसे कम-से कम बोलना चाहिये। जब बहुत आवश्यकता जान पड़े, तभी विचार करके वह प्रिय सत्य बोले। देश, काल, परिस्थिति और पात्रका विचार किये विना न बोले। 'विचारी' का यह भी भाव है कि जैसे विभीषणने रावणको समझानेके लिये उसे अप्रिय लगने वाला सत्य भी कहा, परन्तु कहा बहुत प्रिय ढंग से। इसी प्रकार यदि प्रिय सत्य बोलना नितान्त असम्भव हो और दूसरेकी भलाईके लिये बोलना आवश्यक ही हो तो अप्रिय सत्य बोला जा सकता है, लेकिन उसे भी बहुत प्रिय ढंगसे बोलना चाहिये। यह सब विचार कर लेना चाहिये कि बोलना आवश्यक ही है या नहीं और प्रिय सत्य बोलना किसी प्रकार शक्य हो सकता है या नहीं।

'जागत सोवत सरन तुम्हारी।'

जो लोगोंका प्रिय है, लोगोंका हितकारी है, प्रिय सत्य बोलता है, और जिसकी बुद्धि सुख-दुःख, मान-अपमान, में समान रहती है, उसमें लोगोंसे सहायता पानेकी आशा और अपनी समताका गर्व शक्य है और गर्व आया कि साधन चौपट हुआ। उसे एकमात्र प्रभुकी ही शरणमें होना चाहिये वे सर्वसमर्थ ही उससे सब कार्य कराते हैं और उन्हींकी कृपासे चित्तमें समता है, यह निश्चय सदा दृढ़ रहना चाहिये।

'धर्मस्य प्रभुरच्युतः' धर्मके स्वामी वे पुरुषोत्तम ही हैं। यह भ्रम है कि ईश्वरको न मानकर सत्य, सदाचार, त्याग आदि सद्गुण टिके रहेंगे ये यदि कहीं देखे भी जाते हैं तो वहां इनकी नींवें बालूपर हैं। देखनेमें ये चाहे जितने बलवान दीखें, पर प्रलोभनोंके अन्धड़में कब ढह पड़ेंगे, इसक कुछ विश्वास नहीं। जिसका भगवान्‌पर विश्वास नहीं, वह प्रत्यक्ष धर्म ही हो, तो भी उसका विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः लोकनेत वही हो सकता है जिसे सोते-जागते सदा भगवान्‌का ही आश्रय हो। जो नित्य निरन्तर प्रभुकी शरणमें हो। जो प्रभुके विश्वासपर ही निर्भय हो।

'तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं।

परिस्थिति अनुकूल बनेंगी, अमुक सहायता देंगे, लोग मेरी वा

मानेंगे, अथवा मैं इतना कर लूंगा आदि आशायें जिसे सर्वथा मोहित नहीं करतीं। जो एकमात्र प्रभुपर विश्वास करता है। 'प्रभु जो करेंगे, वही होगा। इस प्रकार जिसकी एकमात्र गति प्रभु ही है, वही सच्चा विश्वासी है। वही ठीक कर्मयोगी एवं उपयुक्त लोकनेता है।

दूसरे क्रमसे भी देख लें। केवल भगवान्‌पर भरोसा, एक मात्र भगवान्‌पर निर्भरता होनी चाहिये। लेकिन इन आन्तरिक धर्मोंके साथ व्यवहारमें भी कुछ होना चाहिये। सबके प्रिय रहें, किसीका अप्रिय न करें। सबकी सेवा, सबकी भलाई करते रहनेमें लगे रहें, सुख-दुख, मानापमानमें समान भाव रखें और प्रिय सत्य बोलें। मर्यादा-पुरुषोत्तमने स्वयं अनन्यता का लक्षण बताया है—

सो अनन्य जाकें असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त॥
(किष्कि० ३)

ऐसे अनन्यके मनमें श्रीराम निवास तो करते ही हैं।

[अष्टम भवन]

जननी सम जानहिं परनारी।
धनु पराव विष तें विष भारी॥
जे हरषहिं पर सम्पति देखी।
दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे।
तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥ अयो० १२६।६-८

जो परस्त्रीको माताके समान समझते हैं और परद्रव्यको हलाहल विषसे भी अधिक घातक मानते हैं, जिन्हें दूसरेको सम्पत्तिशाली होते देखकर हर्ष होता है और दूसरेको विपत्तिमें पड़ा देख जो विशेष दुखी होते हैं तथा जिनको आप प्राणोंके समान प्रिय हैं, श्रीरघुनाथजी! उन लोगों के मन आपके मंगलमय भवन हैं।

'परनारी जननी सम' यह कहनेसे ही यह प्रगट हो गया कि उसे अपनी स्त्री भी है और 'परधन विष सम' यह कह रहा है कि उसके पास अपनी सम्पत्ति भी है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि अष्टम भवनमें जिस

साधकका वर्णन है, वह विरक्त साधु नहीं है, वानप्रस्थ या ब्रह्मचारी भी नहीं है और ऋषिमुनियोंके समान वनमें रहनेवाला अपरिग्रही गृहस्थ भी नहीं है। वह गृहस्थ है और उसके पास अपनी सम्पत्ति भी है। चतुर्थ एवं पञ्चम भवनमें जिन साधकोंकी बात कही गयी है, वे भी गृहस्थ हैं; किन्तु अष्टमके इस गृहस्थकी अलग विशेषता है। इसमें कर्मनिष्ठा या उपासना-का कोई बाहरी लक्षण नहीं है। इसे लोग धर्मात्मा या भगतजी नहीं जानते। यह बाहरी रूपसे अपने घरके काम धन्धेमें ही लगा दिखाई देता है। इतनेपर भी यह परमभक्त है।

'आचार प्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः।'

धर्म सदाचारसे उत्पन्न होता है और धर्मके स्वामी भगवान् हैं। जहां सदाचार नहीं है, वहां धर्म नहीं है। भगवान् और धर्म तो साथ-साथ रहेंगे। जहां भगवानुपर विश्वास नहीं होगा, वहां धर्म टिकेगा ही नहीं और जहां धर्म नहीं होगा, वहां प्रभु पधार नहीं सकते।

'जननी सम जानहिं परनारी।'

अपनी स्त्रीको छोड़कर संसारमें और जितनी भी स्त्रियां हैं, वे अपनी सगी माताके समान हैं। उनके प्रति मनमें स्वप्नमें भी विकार नहीं आना चाहिये। कामकी वृत्ति ही अधर्मकी जड है। सदाचारका मुख्य अंग है कामपर पूरा नियन्त्रण। क्योंकि—

'जहां राम तहं काम नहिं, जहां काम नहिं राम।
तुलसी कबहुं कि रहि सकहिं, रवि रजनी इक ठाम॥

यह असम्भव है कि एक साथ हम पूरब भी चलें और पश्चिम भी। काम चित्तकी संसारोन्मुख, पतनोन्मुख प्रवृत्ति है। जबतक यह अवस्था चित्तकी है, तबतक चित्त अन्तर्मुखी, भगवनोन्मुख हो कैसे सकता है।

'विद्या समस्ता तव देवि भेदा' स्त्रिया समस्ता सकला जगत्सु।'
—चण्डी

सम्पूर्ण नारियां उस आदिशक्तिकी ही अंश रूपा हैं। अतः अपनी पत्नीको छोड़कर शेष सभी नारियां माता ही हैं। शास्त्रने केवल अपनी

पत्नीको ही जायाके रूप पुरुषको दिया है। अतः पत्नीको छोड़कर समस्त नारी जातिके प्रति माताका दृढ़ भाव हृदयमें होनी चाहिये। केवल मुखसे 'माताजी' और 'बहिनजी' कह देना पर्याप्त नहीं है।

'धनु पराव विष तें विष भारी।'

यदि मनुष्यका मन कामसे कलुषित न हो तो फिर उसे केवल अर्थ ही अपवित्र कर सकता है। क्योंकि हम जैसा अन्न खायेंगे; वैसा ही मन बनेगा। श्रीमनुजीने शौचाचारका विधान करते हुए बताया है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थं शौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे हि शुचिः स शुचिः न मृद्वारि शुचिश्शुचिः॥

सब प्रकारकी पवित्रताओंमें धनकी पवित्रता ही सबसे मुख्य है। जो धनसे पवित्र है, अर्थात् जिनका धन न्यायोपार्जित है, वही पवित्र है। मिट्टी, गोबर आदि लगाकर या जलसे नहा-धोकर पवित्र रहनेवाले पवित्र नहीं है।

आजकल बाहरी शौचाचारको बहुत महत्व दिया जाता है। लोटा सात बार मला जायगा। हाथ सत्रहबार धोया जायगा, वस्त्र किसीसे छू न जाय, यह ध्यान अत्यधिक रखा जायगा, इस प्रकार ढेरों आडम्बर किये जायेंगे, किन्तु हम जो भोजन इतने ढकोसलेसे प्रस्तुत कर रहे हैं, वह किस प्रकार का है, यह कोई नहीं देखता। झूठ, कपट, छल, चोर-बाजारी, मक्कारी, दम्भ, आदिसे प्राप्त द्रव्यसे जो पदार्थ आये, वे तो मलसे भी मलिन हैं। शौचाचारको मैं व्यर्थ नहीं कहता और न उसकी निन्दा करना चाहता। वह श्रेष्ठ है और उससे लाभ भी है, परन्तु उसे ही सब कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि कोई पूरा चौका गोबरसे लीपकर, सब आडम्बर करके प्याज या मांस बनावे तो क्या उसका शौचाचार उसके भोजनको पवित्र कर देगा? अधर्म और अन्यायके धनसे आये पदार्थ चाहे फल, दूध, शाक ही हों, वे मांससे भी अधिक अपवित्र तथा मनको मलिन करनेवाले हैं। उन्हें कोई शौचाचार शुद्ध नहीं कर सकता। छल-कपटकी कमाई करके सात्विक भोजनका दम्भ करना एक व्यर्थ ढकोसला ही है। जैसे फल और शाकका आहार बिना शौचाचारके किया जाय, तो भी शौचा-

चार रखकर किये गये मांसाहारसे वह उत्तम ही है, ऐसे ही न्यायपूर्ण कमाईसे जो भोजन प्राप्त होता है वह शौचाचार न भी रहे, कुछ राजस भी हो तो भी अन्यायके द्वारा प्राप्त द्रव्यके सात्विक भोजनसे जो शौचाचार रखकर बना है हजार गुने श्रेष्ठ है। न्यायसे प्राप्त द्रव्यके द्वारा शौचाचारपूर्वक सात्विक आहार प्रस्तुत हो तब तो सोनेमें सुगन्धि है।

पराया धन हलाहल विषसे भी घातक विष है, यह बात जब तक समझमें न आ जाय, साधनके मार्गमें प्रगति कठिन ही है। हलाहल विष तो केवल शरीरको नष्ट कर सकता है; किन्तु अन्यायसे प्राप्त धन मनको मलिन करके अनन्त जीवनको ही नष्ट कर देता है।

घूसखोरी, चोर-बाजारी, पाखण्ड, छल, कपट, चोरी, झूठ, हिंसा आदिसे जो धन आया है, वह जहाँ भी जायगा अधर्मका ही प्रसार करेगा। ऐसे धनका जो दान लेता है, उसका चित्त भी मलिन हो जाता है। जो भगवान्‌की ओर जाना चाहता है, भगवत्प्राप्ति करना चाहता है, उसे दूसरेके धन, दूसरेके स्वत्वको हलाहल विषसे भी अधिक भयंकर समझना चाहिये। जैसे मनुष्य विषसे सावधान रहता है, उसके स्पर्शका किञ्चित भ्रम भी सहता नहीं, वैसे ही पराये धनसे साधकको सदा सावधान रहना चाहिये। भूलसे, प्रमादसे, संकोचसे, दबावसे, किसी भी प्रकार किञ्चित भी परधन उसके उपयोगमें न आवे, यह ध्यान, रखना चाहिये।

कामिनी और कंचन यही दो संसारमें सारे अनर्थोंकी जड़ है। जो इन दोनोंकी वासना जीत सका, उसने मायाको जीत लिया। गीतामें भगवान्‌ने कहा—

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥' १६।२१

आत्मनाश करनेवाले ये तीन नरकके द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ, इसलिये इन तीनोंको छोड़ देना चाहिये।

इन तीनों विकारोंमें-से काम और लोभको छोड़ देनेपर क्रोधका केवल एक ही रूप रह जाता है—अमर्ष। क्योंकि जब काम और लोभ न होंगे तो उनके सम्बन्धसे क्रोध भी नहीं हो सकेगा। अमर्षत्यागकी बात कहते हैं—

'जे हरषहिं पर सम्पति देखी।'

दूसरे मुझसे बड़े न हो जाँय यह तो संसारासक्त अहंकारी पुरुषका भाव है। दूसरेकी सुख-सम्पत्तिको देखकर जलनेवाले, उससे डाह करनेवाले तो पामर प्राणी हैं। सत्पुरुष दूसरेके सुखको देखकर उदासीन भी नहीं रहते। उनके मनमें अमर्ष नहीं रहता, स्नेह रहता है। दूसरेका सुख देख कर उन्हें सुख होता है। दूसरेको सम्पत्तिशाली देखकर वे प्रसन्न होते हैं।

'दुखित होंहि पर बिपति बिसेषी।'

अपने दुखमें तो सत्पुरुष शांत रहते हैं, स्थिर रहते हैं। दुखको भगवान्का मङ्गलमय प्रसाद मानकर सन्तुष्ट रहते हैं, किन्तु दूसरेको दुखमें देखकर वे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। उनसे दूसरेका दुख देखा नहीं जाता।

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता॥

उत्तर० १२४।७-८

इस प्रकार परस्त्री मात्रमें माताकी दृढ़ भावना तथा परद्रव्यको हलाहल विष मानकर जिन्होंने छोड़ दिया है, जो अपनी स्त्री तथा अपने परिश्रमसे धर्म एवं न्यायपूर्वक प्राप्त धनपर ही सन्तुष्ट रहते हैं, जिन्हें दूसरोंकी सुख-सम्पत्ति देखकर प्रसन्नता होती है और दूसरोंको विपत्तिमें देखकर जो अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, उन महापुरुषोंके बाह्य आचरणका वर्णन करके अब उनके चित्तकी प्रवृत्ति बतलाते हैं—

"जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे॥"

वे जप, तप, भजन-पूजन करते हों या न करते हों, पर उनके प्राण सदा श्रीराममें ही लगे रहते हैं। श्रीराम ही उनकी आसक्तिके एकमात्र केन्द्र हैं। वही उनके प्राणोंके प्राण एवं जीवनके जीवन हैं। यदि ऐसा न होता तो भला काम, लोभ, अमर्ष जैसे प्रबल शत्रुओंको वे जीत कैसे पाते। जबतक कोई मनको भगवान्में ही आसक्त नहीं कर देता। विषया-शक्ति

निर्मूल हो कैसे सकती है। अतः जिन्होंने श्री कौशल राजकुमारको ही अपना हृदय सर्वस्व बना लिया है और काम, क्रोध, अमर्षको सर्वथा निर्मूल कर दिया है, उनके हृदय अपने उन आराध्यके लिये सदन ही नहीं, शुभ-सदन—मंगलमय निवास बन गये हैं।

[नवम भवन]

स्वामि सखा पितु मातु गुर, जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मन्दिर तिन्हकें बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात॥
अयो० १३०

महर्षि बाल्मीकि कहते हैं—हे तात श्रीराम, जिनके स्वामी, सखा, पिता, माता, गुरु आदि एकमात्र तुम्हीं हो, उनके मन मन्दिरमें श्रीजानकी-जीके साथ दोनों भाई निवास करो।

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

यह प्रार्थना तो हम सब प्रायः करते हैं, किन्तु क्या इसका भाव भी। हमारे मनमें कभी आता है? भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥' ५।२९

जो जान लेता है कि समस्त क्रियाओं (यज्ञ) तथा समस्त श्रम (तप) के एकमात्र फलभोक्ता भगवान् हैं और वे निखिलब्रह्माण्डाधीश समस्त प्राणियोंके सुहृद हैं, वह शान्ति प्राप्त कर लेता है।

'जप, तप, साधन, संयम आदि किसीका बन्धन यहाँ नहीं है। केवल जान लेना है कि भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद हैं। हम अच्छे बुरे चाहे जैसे हों, एक प्राणी तो हैं ही और इसलिये भगवान् हमारे भी सुहृद हैं। एक साधारण राजकर्मचारीसे नाममात्रका परिचय हो जानेपर व्यक्ति उससे छोटे कर्मचारियोंसे निर्भय एवं सम्मानित हो जाता है। जो सर्वलोक महेश्वरको अपना सुहृद जान लेगा, उसका अहित कर सके ऐसी शक्ति किसमें है। वह फिर अशान्त क्यों होने लगा।

वे श्री कौशलानन्दवर्धन हमारे स्वामी हैं। वे परमउदार, भला उनके सेवकको अभाव कैसा ? उनका सेवक फिर डरे किससे और कामना किसकी करे ? उसके दयाधाम स्वामी उसके मङ्गलके लिए जो विधान करते हैं, उसमें उसे आपत्तिकी प्रतीति कैसे हो सकती है ? प्रभु कहते हैं—

'मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ॥ उत्तर० ४५।३

श्रीरामका सेवक दूसरोंसे आशा करेगा ? कष्टोंसे भय करेगा ? वासनाका कीट बना फिरेगा ? जब तक ऐसी स्थिति है, हमने उन सर्वलोक महेश्वरको अपना स्वामी माना ही नहीं है।

वे केवल स्वामी ही नहीं बनते। उन्हें स्वयं दूसरोंको अपना सेवक कहनेमें सदा संकोच होता है। वे तो बन्दर-भालुओं तकका परिचय देते हुये समस्त अयोध्या वासियोंके सामने गुरुदेवसे कह रहे हैं—

'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।'

यह उनका स्वभाव है। गीतामें अपनेको वे 'सुहृदं सर्वभूतानां' कहते हैं। श्रुति भगवती भी जीवमात्रको परमात्माका सखा बताती है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ।'

वे सखा हैं हमारे। ऐसी कोई बात नहीं कि वे सर्वेश्वर हैं तो सदा उन्हींका आदेश चलता है। कोई विश्वासपूर्वक कहे तो सही—'राघव, यह कार्य तो ऐसे ही होगा।' अपने सखाका अनुरोध वे निखिल ब्रह्माण्ड नायक होनेपर भी कभी टालते नहीं। लेकिन ऐसे अनुरोधकी भला आवश्यकता ही क्यों हो ? हमारे स्नेहमय सखा नित्य निरन्तर हमारे लिये सदा सचिन्त रहते हैं। सदा हमारे हितके प्रयत्नमें लगे रहते हैं। उनकी प्रसन्नता ही हमारे जीवनका परमानन्द है।

जो श्रीरामको सखा बना लेगा, उसमें भय, शोक, चिन्ता आतुरता, वासना आदि रह सकेंगे ? छिः !

वे श्रीअवध चक्रवर्ती हमारे पिता हैं। क्या रह जाता है इसके पश्चात्

फिर पानेके लिये। त्रिलोकीमें और उससे बाहर भी जो कुछ है, सब हमारे पूज्य पिताका है और इसीलिये हमारा है। हमारे पूज्य पिता हमारे लिये जो विधान करते हैं, वही तो हमारे लिये परम मङ्गल है। हमारा काम एक सत्पुत्रके समान उनके आदेश (शास्त्र) एवं उनके आदर्शपर चलना तथा उनके विधानमें प्रसन्न रहना है।

वे माता हैं—हमारी दयामयी माता। अपने कीचड़-गोबरमें सने पुत्रके लिये भी जननीकी गोद कभी बन्द नहीं होती। माँ मारती भी है तो पुत्रको सुधारनेके लिये। माता मारे या पुचकारे, बच्चेके लिये तो उसकी गोद छोड़कर दूसरा कोई सहारा है नहीं। जो दूसरा सहारा लेता है, वह माताका शिशु कहां है।

वे गुरु हैं। गुरुओंके भी परमगुरु वही श्रीराघवेन्द्र हैं। एकमात्र वही ज्ञान देनेवाले हैं। गुरु रूपमें भी वही पूजित होते हैं। गुरुमें मनुष्य भाव रखना तो अपराध है। गुरुका देह तो मूर्तिके समान पीठ है। उस पीठमें गुरुतत्वके रूपमें वे परमगुरु ही पूजित होते हैं। वे उदार हमारे गुरुदेव हैं फिर हमें और कहीं भटकनेकी आवश्यकता क्या है।

जीवके सर्वस्व वही हैं। यह समस्त विश्व उन्हींका रूप है। समस्त पदार्थ उन्हीं की विभूतियाँ हैं। हम पदार्थोंको पदार्थ मानते हैं। उनसे भिन्न, इसीसे पदार्थोंके लिये आसक्ति और लोभ होता है। काम, क्रोधादि आते हैं। दुख एवं अशान्ति होती है। हम व्यक्तियोंको उन सर्वात्मासे भिन्न मानते हैं इससे उनसे राग, द्वेष, मोह, भय आदि हमें मिलते हैं। जीवके पतनका यही हेतु है कि वह नानात्व बुद्धि करके बहिर्मुख हो रहा है। हमारे सर्वस्व वे श्रीराम ही हैं। वही समस्त पदार्थ एवं प्राणियोंके रूपमें हमारे सामने हैं। हमें इन पदार्थों एवं प्राणियोंके विभिन्न नाम रूपों-से प्रयोजन नहीं। हमें तो इनमें रहनेवाले श्रीरामसे प्रयोजन है।

स्वामी, सखा और पिता श्रीराम हैं जीवके और उनके साथ त्रिभुवन जननी श्रीविदेहनन्दिनी तथा निखिल जीवैकगुरु श्रीलक्ष्मणलालजी हैं। इस त्रिमूर्तिके लिये ही यह दोहा कहा गया है और इसीलिये 'सीय सहित दोउ' भ्राताको मन-मन्दिरमें बसनेको कहा जा रहा है। यह भाव एक भाव है इसका।

दास्य सार्वभौम भाव है। सभी भावोंमें वह व्यापक रहता है—

'मैं सेवक रघुपति पति मोरे। अर० १०।२१

यही सर्वोत्कृष्ट भाव है। जीव भगवान्‌का नित्यदास है, यह बात सभी आचार्योंने माना है। अतः पहिले प्रभुको 'स्वामी' कहा गया। श्रुति परमात्माको अन्तर्यामी रूपमें जीवका सखा बतलाती है, अतः श्रुतिकी मर्यादाके लिये दूसरा सम्बन्ध जीव एवं ईश्वरका 'सखा' का कहा गया। यह समस्त विश्व परमात्मासे ही प्रगट हुआ है। ब्रह्मसूत्र कहता है—

'जन्माद्यस्य यतः।' (भाग० १।१।१)

अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके मूल कारण परमात्मा ही हैं। अतएव वही सबके वास्तविक पिता हैं। लेकिन जगतके वे अद्वितीय कारण हैं। शक्ति उनसे पृथक नहीं, उनसे अभिन्न है।

'गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।'

(बाल० १८)

अतएव सबकी माता भी वही हैं। पितामें जो स्नेहकी कुछ न्यूनता होती है वह भगवान्‌में नहीं है। वे अत्यन्त करुणार्णव हैं। उनकी असीम दयालुता सूचित करनेके लिये भी उन्हें माता कहा जाता है।

ज्ञानके समस्त श्रोत उन चिद्‌घनसे ही प्रवृत्त होते हैं। एकमात्र श्रीराम ही ज्ञानघन एवं ज्ञानोद्‌गम हैं। इसके अतिरिक्त गुरु कहनेका एक तात्पर्य और भी है। प्रभु हमारे स्वामी, सखा, पिता, माता हैं, यह सोचकर किसीको कुसेवक, कुमित्र एवं कुपुत्र नहीं बनना चाहिये। इससे किसीको मनमानी करनेकी छूट नहीं मान लेना चाहिये। अपनी वासनाओं एवं अपने दुर्गुणोंका कुतर्कके द्वारा समर्थन नहीं करना चाहिये। प्रभु गुरु भी हैं। जैसे ब्रह्मचारी गुरुके आश्रममें संयम-सदाचारका सावधानीसे पालन करता है, गुरुकी आज्ञामें रहते हुये सेवा करता है, वैसे ही सबको संयम-सदाचारका सावधानीसे पालन करना चाहिये। शास्त्रीय मर्यादाओंका पालन करना चाहिये, क्योंकि, शास्त्र भगवान्‌के आदेश हैं और इसके साथ भगवान्‌की सेवा-जप, ध्यान; पूजनादि करना चाहिये। इनकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये।

यह आवश्यक नहीं है कि एक ही व्यक्ति भगवान्से स्वामी, सखा, पिता, माता, गुरु आदिके सब सम्बन्ध माने। इनमेंसे कोई भी एक भाव हृदयमें दृढ़ हो, तो भी उसके मन-मन्दिरमें 'सीय सहित होउ भ्रात'-निवास करेंगे, किन्तु भाव सच्चा होना चाहिये।

हमारा भाव सच्चा है या नहीं इसकी बहुत स्पष्ट पहिचान है। भगवान्के प्रति जिसका कोई भी भाव सच्चा होगा, वह निर्भय रहेगा सभी परिस्थितियों में। अपने सखा, पिता या माताके हाथमें शस्त्र हो और वे धमकावें तो बच्चा हँसेगा ही। वह डर नहीं सकता। दूसरे ऐसा सच्चा भावुक दूसरे किसीकी आशा नहीं कर सकता और न किसीपर निर्भर रह सकता, जो सम्राटका मित्र है या पुत्र है, वह द्वारपालका मुख क्यों देखेगा? तीसरे किसी कष्ट या परिस्थितिमें वह घबड़ाता नहीं। वह जानता है कि यह मेरे सुहृदकी इच्छासे आया है और सब निश्चय इसीमें मेरा हित है। चौथे आगे क्या होगा, इस प्रकारकी बातें उसे कभी चञ्चल नहीं करतीं। वह निश्चिन्त रहता है, क्योंकि सर्वसमर्थ सर्वज्ञ उसका अपना है। इन चार बातोंमें से एकमें भी कुछ कमी हो तो हमारे भावमें त्रुटि है, यह मानना पड़ेगा।

भगवान् अल्पमें तुष्ट नहीं होते। जिसका कोई एक भाव भी उनमें सच्चा होगा, उसके सर्वस्व वे स्वयं हो जायँगे। वे किसीको भी अधूरा नहीं अपनाते पूरेका पूरा ही अपनाते हैं और जब 'सब कुछ बन जाते हैं तब छोटे भाई एवं महारानीजी के साथ उसके मन-मन्दिरको अपना मन्दिर बना ही लेते हैं।

[दशम भवन]

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं।
विप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका।
घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका॥ अयो० १३०।१-२

जो अवगुणोंको छोड़कर सबके गुण ही ग्रहण करते हैं और ब्राह्मणों तथा गायोंकी रक्षा एवं सेवाके लिये विपत्ति भी उठाते हैं, संसारमें जो नीति-निपुण प्रसिद्ध हैं, उनका मन आपके लिये अच्छा भवन है।

रतलालजीसे मर्यादा पुरुषोत्तमने स्वयं कहा है—

सुनहु तात माया कृत, गुन अरु दोष अनेक ।
न यह उभय न देखिअहिं, देखिअ सो अबिबेक ॥" उत्तर० ४१

वान् श्रीकृष्णचन्द्रने उद्धवजीको उपदेश करते हुए श्रीमद्भागवत-
स्कन्धमें इसे स्पष्ट किया है—

'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ।'

और दोष दृष्टिके दोष हैं। जिससे हमारा स्नेह है, जिसमें
नत्व है, उसके दोष भी गुण जान पड़ते हैं और जिससे हमारा
ता है, उसके गुण भी दोष प्रतीत होते हैं। दृष्टिकोणके भेदसे
 किसीको गुण और किसीको दोष जान पड़ता है। यह गुण-
ाली वृत्ति दृष्टिका दोष है। यह 'अविवेक' है। इसलिये सर्वो-
ो यह है—

अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा ।
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥
—भागवत माहात्म्य ४।८०

ोंके दोष एवं गुणका चिन्तन छोड़ कर सबको भगवत्स्वरूप
वकी यथाशक्य सेवा की जाय और भगवान्‌की मंगल कथाका
किया जाय।

जड़ चेतन गुण दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार ।
त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार ॥'
बाल० ६

टकर्ताने सम्पूर्ण सृष्टिको ही गुणदोषमय बनाया है। जड़ हो
हाँ कोई पदार्थ ऐसा नहीं, जिसमें गुण ही गुण हों दोष न हों
सा भी पदार्थ नहीं, जिसमें दोष ही दोष हों, कोई गुण न हो।
सी वस्तु या व्यक्तिमें दोष देखते हैं तो वह दोष उस वस्तु या
या न हो, हमारे चित्तमें दोषवृत्तिका उदय तो होता ही है।

हमारा चित्त उससे मलिन होता है। इसी प्रकार हम जब किसीमें गुण देखते हैं तो वह गुण उसमें भले न हो, हमारे चित्तमें गुणवृत्ति बनती है। इसलिये दोष देखनेमें अपनी हानि ही हानि है और लाभ कुछ नहीं है। गुण देखनेमें अपनी हानि कुछ नहीं, केवल लाभ ही लाभ है। कहीं एक मरा कुत्ता पड़ा था। दो सन्त उधरसे जा रहे थे। उनमें एकने कहा—'कितना निकृष्ट जीव है। मर कर भी दुर्गन्धि फैलाता है।' दूसरे सन्तने कहा—'इसके दांत कितने श्वेत हैं। अवश्य पूर्व जन्ममें कोई पुण्य किया होगा इसने।' इन दोनों सन्तोंमेंसे दूसरे सन्तका आदर्श ही उत्तम एवं ग्रहण करने योग्य है।

'विप्र धेनु हित संकट सहहीं।'

ब्राह्मणों एवं गौओंको रक्षाके लिये, उन्हें सुखी करनेके लिये जो स्वयं कष्ट उठाते हैं। अपनेको विपत्तिमें डालकर भी उनकी रक्षा करते हैं, वे धर्मके तत्वको ठीक समझते हैं। वे सच्चे धर्मात्मा हैं। स्वयं परात्पर परमब्रह्म निखिल ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्दघन श्रीराम भी—

'विप्रधेनु हित नर तनु धरहीं।'

ब्राह्मणोंकी रक्षा, ब्राह्मणोंकी सेवा और गायोंकी रक्षा तथा गायोंकी सेवा तो भगवान्का अपना काम है। जो इस काममें लगते हैं, वे भगवान्के निजी काममें योग देते हैं। उनके कामका महत्व भगवत्पूजासे किसी प्रकार कम नहीं है। जो गौ तथा ब्राह्मणोंकी रक्षा एवं सेवाके लिये विपत्ति उठा लेते हैं, उन्होंने तो ठीक उस प्रकार भगवत्कार्यके लिये अपनेको संकटमें डाला है. जैसे जटायुने रावणके हाथसे श्रीजानकीजीको छुड़ानेके लिये संकटमें डाल लिया था अपनेको। उनके कार्यको प्रभु सबसे श्रेष्ठ मानते हैं। सर्वाधिक प्रिय हैं वे पुरुष श्रीराघवके।

'नीति निपुन जिन कइ जग लीका।'

जो किसीका दोष नहीं देखता, सबमें गुण ही देखता है, वह सर्वत्र धोखा खाता होगा। धूर्त लोग उसे ठगते ही रहते होंगे। गो-ब्राह्मणोंकी रक्षाके उत्साहमें वह अकारण भी अपनेको विपत्तिमें डाल लेता होगा। इन सब शंकाओंका निवारण कर दिया गया यहाँ। वे इतने नीतिकुशल होते

हैं कि संसार उनके पद चिह्नोंपर चलता है। उनके द्वारा स्थापित नीति-
मार्ग दूसरोंको पथ-दर्शन देता है। उदाहरण देखना हो तो महाभारतमें
श्रीविदुरजीकी नीति और उनका जीवन देखना चाहिये। पितामह भीष्म
भी इसके आदर्श हैं। मानसमें श्रीभरतलाल एवं हनुमानजीके चरित देखने
योग्य हैं इस विषय में।

अन्याय करना पाप है और अन्याय सहना भी पाप जैसा ही है।
किसीमें दोष नहीं देखना चाहिये; पर किसीके भुलावेमें नहीं आना चाहिये।
दोष न देखकर गुण देखना सन्तका चिह्न है और ठगे जाना अज्ञान का।
सन्त अज्ञानी नहीं होता। उसे ठगा नहीं जा सकता। जान-बूझकर वह
किसीके छलको किसी कारण सह ले, उपेक्षा कर दे उसकी यह दूसरी
बात है।

गौ एवं ब्राह्मणोंकी रक्षा भी वही कर सकेगा जो नीति-निपुण
होगा। केवल उत्साह एवं त्यागसे रक्षा नहीं होती। उत्साह और त्याग
होनेपर भी नीति कुशलता न हो तो रक्षाके स्थानपर अपने अटपटे व्यव-
हारसे रक्ष्यका संकट बढ़ जानेकी सम्भावना रहती है। अतः रक्षाका
दायित्व लेनेवालेको आदर्श नीति-निपुण होना चाहिये। नीति-निपुणका
अर्थ है कि वह स्वयं अन्याय नहीं करेगा और किसीके अन्यायको चलने
नहीं देगा। उसे ठगा नहीं जा सकता। व्यवहारमें पूरा सावधान रहता
है वह।

यह दशम भवन भी लोकनेताका आदर्श रखता है, किन्तु यह लोक-
नेता सामान्य लोकनेता नहीं है। यह जनसाधारणका अग्रणी नहीं। यह
गौ एवं ब्राह्मणोंका सेवक है। धार्मिक नेता है यह। गौ (धर्म) ब्राह्मण
(शास्त्र) का यह संरक्षक है। ऐसे धार्मिक नेताका स्वरूप इसमें निर्दिष्ट
हुआ है।

इस भवनमें भी उपासनाकी आवश्यकता नहीं बतायी गयी है। यह
निष्काम कर्म योगका ही मार्ग है। कहीं किसीमें दोष न देखकर सर्वत्र
सबके गुणोंपर ही दृष्टि रखता हुआ, गौ-ब्राह्मणोंकी सेवामें विपत्ति उठाने-
से भी जो हिचकता नहीं और व्यवहारके क्षेत्रमें जो आदर्श नीति-निपुण है,
उसका मन तो श्रीरामके लिये 'नौका' भवन है।

[एकादश भवन]

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।
जेहि सब भांति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही।
तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥

अयो० १३०।३-४

अपनेमें जो गुण हैं, उसे जो तुम्हारा (प्रसाद) समझता है और अपने दोषोंको अपने (अपराध) मानता है। जिसे सब प्रकारसे तुम्हारा ही भरोसा है। जिसे तुम्हारे भक्त प्यारे लगते हैं। श्रीराम! उसके हृदयमें महारानी श्रीजानकीजीके साथ तुम निवास करो।

अच्छे या बुरे चाहे जिससे आप मिलिये, साधारणत: मान व मनकी एक ही प्रकृति है—कोई अच्छा काम हो गया, कोई सफलता हो गयी तो 'यह मैंने किया, यह मेरे अथक प्रयत्नसे हुआ। यदि यह कहनेका अवकाश न हो तो 'यह मेरी रायसे हुआ, मेरी सहायतासे हुआ।' इस प्रकार गुण एवं सफलता वह अपनी ही मानना चाहता है। दूसरेके गुण, दूसरेकी सफलताका भी प्रधान हेतु अपनेको बताता है। लेकिन जो दुर्गुण हैं, दोष हैं, उनके लिये कहेगा—'यह विवशता है, यह अमुककी सम्मतिका फल है, अमुकके संगसे ऐसा हुआ, मेरा विचार ऐसा नहीं था।, इसी प्रकार असफलताके लिये कहेगा—'दैवने साथ नहीं दिया। अमुककी सम्मतिने काम चौपट किया। अमुकने काम बिगाड़ा।' इस प्रकार अपनेमें कोई दोष वह स्वीकार नहीं करना चाहता। अपनेको किसी हानि, किसी असफलताका निमित्त नहीं मानना चाहता। सब दोष भाग्य, ईश्वर परिस्थिति, समाज या सहयोगियोंका ही बतलाता है वह। यदि आप किसी चोर या हत्यारेसे बात करें तो वह अपनी चोरी तथा हत्याके पक्षमें इतने तर्क देगा कि साक्षात् धर्ममूर्ति जान पड़ेगा वह।

मनुष्यका अहंकार उसे निरंतर धोखा देता रहता है। जिन कार्यों-को करनेके लिये हम दूसरोंकी निन्दा करते हैं, दूसरोंकी जिन कार्योंके कारण घृणा करते हैं, अपने उन्हीं कार्योंको उचित मानते हैं और चाहते हैं कि दूसरे भी उचित मान लें।

प्रकृति अधोगामिनी है। मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार तथा इन्द्रियां भी स्वभावसे बहिर्मुख हैं। विषयोंमें इनकी सहज प्रवृत्ति है। जैसे पके अन्नका सहज धर्म सड़ना है। वह सुरक्षित रहता है तो किसीके प्रयत्नसे रहता है; वैसे जीवोंकी प्रवृत्ति अधोमुखी है। उनमें संयम-नियम, साव-धानी, धर्म, सत्यादि गुण भगवान्‌की कृपासे ही आते हैं। सम्पूर्ण सद्-गुणोंके एक मात्र निवास वे परम प्रभु ही हैं जैसे जितनी भी उष्णता है, सब अग्निसे ही आती है, वैसे ही जितने भी सद्‌गुण हैं, वे प्रभुसे ही प्राणियोंमें आते हैं। जो विचारशील हैं, विवेकी हैं, वे इस सत्यको समझते हैं। 'जितने गुण हममें हैं—वे हमारे नहीं हैं। वे तो प्रभुके गुण हैं। उनकी कृपासे हममें आये हैं।' ऐसी धारणा दृढ़ होती है उनको और इसके फल-स्वरूप अहंकार, दर्प आदि उन्हें स्पर्श नहीं कर पाते।

बड़ी सरलतासे लोग कह देते हैं—'भगवान् ही सबके संचालक हैं सब कार्य उन्हीं की इच्छासे होते हैं, फिर हम पाप भी उन्हींकी इच्छासे करते हैं। हमें हमारे पापका दण्ड क्यों भोगना पड़ता है? यह कहांका न्याय है?'

उनसे पूछा जाय 'भैया, जैसे तुम भगवान्‌की इच्छासे चोरी या व्यभिचार करके निर्दोष मानते हो अपनेको वैसे ही दूसरा भी तुम्हारे घर चोरी या तुम्हारी बहू-बेटीसे अनाचार क्या भगवान्‌की इच्छाके बिना ही कर लेता है। जब वह भी भगवान्‌की इच्छासे ही ऐसा करता है तो फिर आप दुखी या क्रोधित क्यों होते हैं? उसे दोषी क्यों बताते हैं? क्यों चाहते हैं कि उसे दण्ड प्राप्त हो? देवता/ जो अपराध है, पाप है, वह सबके लिये ही पाप है। उसमें बहानेबाजी नितान्त व्यर्थ है।'

बात यह है कि जैसे सूर्यके प्रकाशसे ही सबके नेत्र देखनेमें समर्थ होते हैं, किन्तु कहीं सद्‌भावपूर्ण-दृष्टि डालना या कहीं कुदृष्टि डालना व्यक्तिका निजी कार्य है, वैसे ही भगवान्‌की शक्तिसे ही सम्पूर्ण विश्व सचेष्ट है, यह ठीक होनेपर भी यह भूलना नहीं चाहिये कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। जितने भी पाप हैं, जितने भी अपराध हैं, जितने भी दोष हैं, वे व्यक्तिके हैं, सर्वात्माके नहीं हैं। शरीरके, इन्द्रियोंके तथा

स्वजनसम्बन्धियोंके सुखमें आसक्ति, मान-सम्मानमें आसक्ति ही समस्त पापोंकी जड़ है। देहासक्तिसे ही पाप होते हैं। आलस्य, प्रमाद, असावधानी आदि भी देहासक्तिके कारण ही हैं। यदि व्यक्ति अपनी देहासक्ति छोड़ कर अपनेको भगवान्‌के हाथका यन्त्र बना दे तो उसमें कोई दोष रह नहीं सकता। उससे भूलसे भी कोई पाप होना शक्य नहीं, क्योंकि भूल स्वयं व्यक्तिके अहंकार तक ही रहती है।

'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।'

यह कोरी भावुकता नहीं है। यही सत्यदृष्टि है और जो सत्यसे विमुख है, उसे सत्यस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि कैसे हो सकती है।

'जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।'

जब गुण सब जगदात्माके हैं और उसीसे आते हैं और त्रुटियाँ तथा दोष सब व्यक्तिके अपने हैं तो व्यक्ति गर्व किस बातका करे? उसे अपनी शक्तिपर कैसे विश्वास रह सकता है? जो दूसरे हैं विश्वमें, वे भी उसी की कोटिके हैं। उनमें चाहे जितने सद्‌गुण हैं, वे भी प्रभुसे ही आये हैं। जब प्रभुसे आये सद्‌गुणोंकी किरणोंपर भी अटकना है तो उन किरणोंके परमायन, परम-प्रकाशपर ही क्यों न अटका जाय। इसलिये जो सत्यदर्शी होता है, जो त्रुटि एवं दोषका आधार व्यक्ति एवं गुण एवं शक्तिके निवास प्रभुको समझ जाता है, वह फिर इधर-उधर कहीं भटकता नहीं। किसी भी दशामें, किसी भी बातके लिये उसकी आँख प्रभुको छोड़कर और किसी की ओर नहीं उठती। उसे एकमात्र प्रभुका ही भरोसा रहता है। गंगा गये तो गंगादास और यमुना गये तो यमुनादास वाली बात उसमें नहीं। वह तो पर्वतके समान दृढ़ होता है—

'बनै तो रघुवर ते बनै, बिगरै तो भरपूर।
तुलसी औरनि ते बनै, वा बनिबेमें धूर॥'

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह घमण्डी होता है। वह सन्तों-की उपेक्षा करता है। इस उपेक्षाकी शंकाको दूर करनेके लिये ही कहा जा रहा है—

'राम भगत प्रिय लागहिं जेही।'

श्रीरामके—भगवान्‌के भक्त उसे प्यारे लगते हैं। जिसे भगवान् प्यारे लगेंगे, उसे भगवान्‌के भक्त भी प्यारे लगेंगे ही। अपने प्रियसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु प्रेमीको प्रिय लगती है, यह सामान्य नियम है, किन्तु यहाँ तो बात ही दूसरी है। देवर्षि नारद अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥४१॥

अन्यत्र भी यही बात कही गयी—

'भगति भगत भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।'

अतः श्रीरामके भक्त तो साक्षात् उन श्रीकौशलानन्दवर्धनके स्वरूप ही हैं। जो श्रीरामसे अनुराग रखता है, एक मात्र उन्हींपर भरोसा रखता है, उसे श्रीरामके भक्त तो अवश्य ही अत्यन्त प्रिय लगेंगे।

'अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

—भागवत ११।२।४७

जो भगवान्‌की मूर्ति आदिकी पूजा तो श्रद्धासे करता है; किन्तु भगवान्‌के भक्तोंमें तथा अन्य पूज्योंमें जिसकी श्रद्धा नहीं, जो उनका सत्कार नहीं करता, वह तो प्राकृत—बहुत सामान्य कोटिका भक्त है।

यह बात तो नवयोगेश्वरोंमेंसे हरि नामके योगेश्वरने कही है। महापुरुष किसीकी निन्दा नहीं करते, किसीको कटु शब्द नहीं कहते, इसलिये भगवद्भक्तोंकी उपेक्षा करने वालेको भी, 'साधारण कोटिका प्राकृत भक्त' कहा उन्होंने, किन्तु यही बात जब श्रीकृष्णचन्द्रने कही तो श्रीमद्भागवतमें ही उन्होंने कहा—'स एव गोखरः' अर्थात् वह तो पशुओंमें भी गया है।

सच्ची बात तो यह है कि यह आत्मसमर्पणकी ऊँची स्थिति बतायी गयी है इसमें। आत्मसमर्पण, सख्य, दास्य, और अन्तमें वात्सल्य, यह क्रम

यहीं जान पड़ता है। वात्सल्य अन्तमें तो महर्षि वाल्मीकि अपने भावके कारण रखते हैं; क्योंकि महाराज जनक एवं चक्रवर्ती महाराज दशरथ दोनोंसे उनकी मैत्री है। शेष तीनका क्रम उन्होंने ऊपरसे प्रारम्भ किया है।

जैसे पतिव्रता स्त्री अपने प्रियतम पतिमें केवल गुण ही गुण देखती है। पतिदेव जो गुण उसमें बतलाते हैं, उन्हें भी वह पतिकी उदारता ही मानती है। अपनेमें उसे त्रुटियाँ ही दीखती हैं। पतिसे हुई भूल एवं हानि-को भी वह अपनी त्रुटि ही समझती है। पतिके अतिरिक्त उसका कोई आश्रय नहीं। पति ही उसका एकमात्र भरोसा है। पतिके जो प्रियजन परिजन हैं, सब उसे प्रिय लगते हैं। सबकी वह उत्साहपूर्वक सेवा-शुश्रुषा करती है; ठीक यही अवस्था इस भक्त की है।

क्योंकि इस भवनमें आत्मसमर्पण मधुरभावका संकेत है, अतः यहाँ पर 'सीय सहित दोउ भाइ' को बसनेके लिये नहीं कहा गया। यहाँ छोटे भाईकी उपस्थिति मर्यादा सङ्गत नहीं। साथ ही यहाँ 'राम बसहु' कहकर एकाकी निवास करनेको भी नहीं कहा जा रहा है। यहाँ 'तेहि उर बसहु सहित वैदेही।' श्रीमहारानीजीके साथ निवास करनेका अनुरोध किया गया है।

[द्वादश-भवन]

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई।
प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई।
तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥ अयो० १३०।५-६

जाति, समाज सम्पत्ति, धर्म, सम्मान प्यारा परिवार तथा सुख-दायक भवन आदि सब छोड़कर जो तुम्हींमें चित्त लगाये हैं, ये श्रीराम, उसके हृदयमें तुम निवास करो।

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥
—भागवत १०।१४।३६

जबतक पुरुष भगवान्‌की शरणमें नहीं जाता, जबतक वह उन दया-धर्मका जन नहीं हो जाता, तभी तक उसके हृदयमें राग-द्वेष काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि शान्ति एवं आनन्दको चुरानेवाले

घोर रहते हैं, तभी तक घर उसके लिये कारागारके समान बन्दी करके रखनेवाला रहता है और तभी तक मोहकी बेड़ी उसके पैरोंको जकड़े है।

मैं अमुक जातिका हूँ, अमुक समाज या पार्टीका हूँ, यह मनुष्यको बांध रखनेवाला रोग है। जाति एवं समाजका गर्व कितने अनर्थ कराता है, इसे हम भारतवासी खूब भोग चुके हैं। जाति एवं पंक्ति (वर्ण) की व्यवस्था समाजको उन्नत करनेके लिए है, दृढ़ एवं संगठित करनेके लिए है। लेकिन जब कोई यह मान लेता है—'मैं दूसरोंसे बड़ी जातिका हूँ, तो वह प्रमाद करता है। उसके द्वारा अनर्थ होने लगते हैं।

'स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत् स्थितः।'

अपने धर्ममें स्थित रहे; किन्तु दूसरेपर आक्षेप न करे। यह आदर्श है वर्ण-व्यवस्थाका। लेकिन जहाँ भगवान्‌की शरण लेना है, वहाँ भला जाति-पाँतिका भेद कैसा। जीवकी तो कोई जाति है ही नहीं। जन्मसे पूर्व और मृत्युके पश्चात् हमारी जाति तथा वर्णका क्या कुछ पता रहता है? सर्वेश्वर प्रभुकी दृष्टिमें सब समान हैं। सब उन्हें प्राप्त करनेके अधिकारी है।

'हरिको भजै सो हरिका होई।
जाति पाँति पूछै नहिं कोई॥"

व्यवहारमें तो वर्णाश्रम-धर्मकी मर्यादाका पालन होना ही चाहिये; किन्तु मनमें ऊँच-नीचका भेद होना उचित नहीं। जातिका गर्व ही अनर्थ है।

जैसे उच्चवर्ण एवं उच्चकुलमें जन्मका मद होता है, वैसे ही धनका भी मद हुआ करता है।

"श्रोतदृग्वाग्विहीनं कुरुते लक्ष्मी जनस्य को दोषः।
गरलसहोदरजाता यन्न मारयति तच्चित्रम्॥"

लक्ष्मी ही मनुष्यको कान, आँख एवं वाणीसे रहित करके बहिरा, अन्धा, गूंगा बना देती है, इसमें मनुष्यका दोष क्या है। अरे यह हलाहल विषकी सहोदर बहिन है, सो मार नहीं डालती यही क्या कम आश्चर्य है।

"कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात नर, यहि पाये बौराय ॥"

धनके गर्वमें मनुष्य बहिरा हो जाता है। वह दूसरोंकी उचित भी नहीं सुनना चाहता। वह अन्धा हो जाता है। देखकर भी नहीं देख कि उसके आश्रित लोग कितने दुखी हैं। उसके द्वारा कैसे-कैसे अन्या रहे हैं। वह गूंगा हो जाता है। किसीकी बातका उत्तर तक नहीं चाहता वह। जैसे धतूरा खाकर कोई पागल हो गया हो, ऐसे ही पाकर लोग मदोन्मत्त हो जाते हैं। लक्ष्मी देवीका वाहन उलूक बत गया है। ये जिसके यहाँ पधारती हैं, जिसपर सवारी कर लेती हैं उल्लू हो जाता है। उसकी विचार-शक्ति ऐसी नष्ट हो जाती है कि अपनेसे बड़ा समझदार किसीको मानता ही नहीं। सज्जनों एवं विद्व ज्ञान-प्रकाशसे उसे द्वेष हो जाता है। चाटुकारिताके अन्धकार वह निवास करता है।

ये लक्ष्मी देवी ठहरीं भगवान् नारायणकी अर्धाङ्गिनी। अत उन श्रीहरिके चरणोंकी शरण ले लेता है, उसपर इनका मादक प्रभाव नहीं करता। वह धनकी अपेक्षा ही नहीं करता।

अब रही धर्मकी बात सो नाना प्रकारके कर्तव्योंका आग्र कम बाधक नहीं है उपासकके मार्ग में। भगवान्ने इसीसे गीतामें अ कहा—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

सब धर्मोंको छोड़कर तुम एकमात्र मेरी शरणमें आओ। इसमें धर्मोंको छोड़नेका क्या तात्पर्य है, यह देवर्षि नारदजीने भक्तिसूत्रमें कर दिया है—

'लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥११॥

लौकिक एवं वैदिक कर्मों, आचारोंमें अपनी आराध्यनिष्ठा, सना निष्ठाके अनुकूल जो कर्म हों, उनका आचरण किया जाय औ उसके विपरीत पड़ते हों; जैसे कुल परम्परासे चली आती प्रेम-पूजा

या वैदिक सोमयाग आदि तो उनका विरोध न किया जाय, उनसे स्वयं तटस्थ हो जाय—उदासीन हो जाय।

'जग बौराय राजपद पाये।'

पदका गर्व, सम्मानका गर्व सबसे बड़ा होता है। अधिकारका मद भी अन्धा कर देता है मनुष्य को। पौण्ड्रकको चाटुकारोंने नारायण 'वासुदेव' कहना प्रारम्भ किया तो मदान्ध हो कर वह श्रीकृष्णचन्द्रसे लड़ने गया। सौ दोसौ, हजार दो हजार लोग जिसे महात्मा, सन्त विद्वान कहने लगते हैं, वह समझ ही नहीं पाता कि मूर्खोंकी भीड़के कहनेसे कोई सन्त, महात्मा या विद्वान नहीं हो जाता। ऐसी मूर्खोंकी भीड़की प्रशंसा पाकर लोग अपनेको अवतार मानने लगते हैं, राम-कृष्ण आदिसे भी ऊँचे पहुँचा हुआ घोषित करने लगते हैं।

जिन्होंने संसारके समस्त भोग त्याग दिये हैं, बड़ी भारी तपस्या की है जिन्होंने, जो लंगोटी भी नहीं रखते, वे भी बड़ाईके पीछे दौड़ते देखे जाते हैं। अपमानसे उनका मुख भी लाल हो जाता है। वे भी चाहते हैं कि लोग उनके त्यागका आदर करें। उनको ऊँचा आसन दें। उन्हें मस्तक झुकावें। यह बड़ाई पानेकी भावना सभीमें रहती है। सबसे प्रबल वासना है यह जहाँ तक वासनाओंका प्रश्न है, यह दूसरी सभी वासनाओंसे उत्तम एवं सात्विक है। दूसरी वासनाएँ जहाँ अधर्मकी ओर प्रेरित करती हैं, यह धर्मकी ओर ले जाती है। त्याग, सदाचार, सत्कर्मसे ही यश मिलता है। अतः यशकी कामना रखनेवाला पुरुष सत्पुरुष होता है। लेकिन है यह भी वासना और सबसे बलवान वासना है। जिसने यशेच्छाको जीत लिया, वही सच्चा साधु है। वासनापर पूरी विजय उसीकी हुई है।

"प्रिय परिवार सदन सुखदाई।"

इस चौपाईमें त्यागका क्रम नीचेसे ऊपरकी ओर है, अर्थात् पहिले घर तथा परिवारकी आसक्ति आ जाती है, तब जाति एवं वर्णका, धर्मका आग्रह क्रमशः जाता है और अन्तमें यशेच्छा जाती है। धनके लिए जाति एवं वर्णके आचारसे लोग च्युत होते प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। यज्ञादि धर्मके लिये धनका त्याग आवश्यक ही है। जाति, वर्ण, धन एवं धर्माचरण

का भी त्याग करके जो वीतराग अवधूत हो गये हैं, बड़ाई पानेकी इच्छा उनमें भी रहती है। लेकिन इस क्रमसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि परिवार एवं घर छोड़ देना बहुत सरल है। परिवार इसीलिये 'प्रिय' कहा गया और सदनको सुखदायी बताया गया। परिवारकी वासना इतनी प्रबल होती है कि साधु हो जानेपर भी चाचा गुरु, दादा गुरु, गुरु भाई, चचेरे गुरु भाई आदिका सम्बन्ध जोड़कर पूरा नया परिवार बना लिया जाता है। 'सदन' तो 'सुखदाई' ही ठहरा। बहुत थोड़े विरक्त मिलते हैं जो आजीवन अवधूत रह सकें। कुटिया बनानेका उपक्रम बरसों विचरण करनेवाले भी करने लगते हैं। बिना अपनी कुटिया हुए 'सुखदायी सदन' को सुख-सुविधा कैसे प्राप्त हो। लेकिन जो प्रिय परिवार एवं सुखदाई सदनकी इस मोहमयी मायाको ठुकरा देते हैं, उनके लिये भगवान् नारायण कहते हैं—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
—भागवत ९।४।६५

जो स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, स्वजन-बान्धव एवं प्राणोंसे भी प्यारे धनको छोड़कर मेरी शरणमें आये हैं, उनको छोड़नेकी बात तो दूर, उनके छोड़नेकी इच्छा भी मैं कैसे कर सकता हूँ।

भगवान्ने यह बात दुर्वासाजीसे महाराज अम्बरीषकी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कही है। अम्बरीष राजा थे और गृहस्थ थे। उन्होंने न तो राज्य छोड़ा था, न क्षत्रिय धर्म छोड़ा था, न स्त्री-पुत्र छोड़कर सन्यासी हुए थे। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सब तजि तुम्हहिं रहइ लय लाई' का अर्थ घर-द्वार छोड़ कर बाबाजी बनना नहीं है। 'सब तजि' का अर्थ केवल सबकी आसक्ति छोड़ देना है। सब रहें तो ठीक, सब नष्ट हो जायें तो भी ठीक—ऐसी स्थिर वृत्तिकी अपेक्षित है यहाँ।

इस द्वादश भवनमें सख्य भावका वर्णन है, यह बात पहिले कह चुके हैं। अपने परमप्रिय सखा श्रीरामसे भिन्न जाति, वर्ण, धर्मका कोई अहंकार जिसे नहीं है। जिसकी जाति आदि सब सखापर न्योछावर है। धन एवं मान जिसका अपना कुछ नहीं। जो अपने प्रिय सुहृदके स्नेहमें न

तो धनकी चिन्ता करता, न मानापमान की। परिवार तथा घर चाहे जितने प्यारे एवं सुखदायी हों—अशान्तिदायी परिवार एवं असुविधापूर्ण घरकी तो बात ही छोड़िये, सब प्रकारसे अनुकूल प्रिय परिवार एवं उत्तम भवन भी जिसके चित्तको खींच नहीं पाता। जैसे बालक अपने प्रिय मित्र दूसरे बालकके साथ खेलते समय जाति पाँति, धनी-गरीब, धर्म एवं बड़प्पन सब भूला रहता है, जैसे उस समय उसे अपने परिवार एवं घरको तनिक भी स्मृति नहीं रहती, ऐसे ही सब ओरसे हटकर जिसका चित्त श्रीराममें निरन्तर लगा है, उसके चित्तमें वे कौसलकुमार निवास करते हैं। सख्य रस होनेसे यहाँ केवल 'रघुराई' को बसनेके लिए कहा। श्रीजानकीजीका नाम नहीं लिया गया।

[त्यागीवश भवन]

सरगु नरकु अपबरगु समाना।
जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा।
राम करहु तेहि कें उर डेरा॥

अयो० १३०।७-८

जिसके लिए स्वर्ग, नरक एवं मोक्ष समान हैं; क्योंकि वह आपको सर्वत्र धनुष-बाण धारण किये देखता है तथा मन, वचन, कर्मसे आपका ही दास है, श्रीराम! आप उसके हृदयमें निवास करें।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

—गीता, ८।१६

ब्रह्मलोक तक जितने लोक हैं, उन सबमें जानेवाले जीव जन्म-मरणके चक्करमें ही पड़े रहते हैं। पुण्य क्षीण होनेपर उन लोकोंसे पतन होना निश्चित रहता है। इसलिये जो विचारशील हैं, उन्हें स्वर्गके सुखोपभोगका कोई लोभ नहीं होता। स्वर्गमें जो सुख है, वह इन्द्रियक सुख ही है। जिसने इसी लोकमें इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर दिया, उस विरक्तमें क्या उन्हीं इन्द्रियोंके भोगोंको मरनेके पीछे पानेकी लालसा बाकी रह सकती है।

जो इन्द्रियोंके सुखोंसे विरक्त होता है, वह कष्टकी भी चिन्ता करता। सुख और दुःख दोनोंमें वह समान रहता है। इसीसे स्वर्गकी उसे कामना नहीं तो नरकका उसे कोई भय भी नहीं। दुःखोंसे, यातन से डरता कहाँ है वह। फिर जो भगवान्का भक्त है, जो अपने आराध सर्वत्र देखता है, उसे तो नरकका क्या भय वह नरकमें रहेगा तो वहा अपने आराध्यको अपने पास देखेगा। यह बात तो यमराजजीके सोच है ऐसा कोई उनके नरकमें जा धमके तो उनके नरक रह भी र या नहीं।

इस लोक एवं परलोकके भोगोंसे विरक्त होकर प्रायः मुवि इच्छा होती है। योग, सांख्य, आदि जितने साधन मार्ग हैं, वे सब मो लिए ही हैं। अपवर्ग ही मुमुक्षुका उद्देश्य होता है—

"बुभुक्षुर्दृश्यते लोके मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकांक्षी दुर्लभो हि महात्मा॥"

संसारमें भोग पानेके इच्छुक तो प्रायः सभी हैं और मोक्ष पा इच्छुक भी कुछ पाये जाते हैं; किन्तु भोग और मोक्ष दोनोंकी इच्छ रखनेवाला महात्मा दुर्लभ ही है—

"भोगमोक्षस्पृहायावद्पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् कथं विज्ञानाति स्वहृदि सुहृदं परम्॥"

जब तक भोग (लौकिक एवं स्वर्गीय) या मोक्षकी इच्छा पिशाचिनी हृदयमें बैठी है, तब तक भला अपने हृदयमें ही विराजम उस परम सुहृदको कोई कैसे जान सकता है।

"ताते जे हरि भगत सयाने।
मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥"

जो भगवान्के चरण-कमल किञ्जल्करसके रसिक हैं, वे तो एक लालसा रखते हैं एक ही इच्छा होती है उनकी, एक ही प्रार्थना करत नित्य अपने प्राण सर्वस्व प्रभुसे वे—

"जेहिं जेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं।
तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू।
होउ नात यह ओर निबाहू॥"

अयो० २४

अपने कर्मोंका सुख, दुःख, स्वर्ग, नरक जो भी फल हो, उसे लेनेको वे सदा सहर्ष उद्यत रहते हैं। वैसे सच्ची बात यह है कि—

"यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्द सान्द्र।
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्य लक्ष्मी॥"

यदि भगवान्में आनन्द स्वरूप भक्ति हो जाय तो मोक्ष साम्राज्य श्री अपने आप चरणोंमें लोटने लगती है।

"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं।
अनइच्छित आवइ बरिआईं॥"

उत्तर० ११८

भक्त तो मुक्तिकी इच्छा करता नहीं। वह तो प्रार्थना करता है—

"दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो।
नरके वा नरकान्तक प्रकामम्॥
अवधीरित शारदारविन्द।
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥"

मेरे नरकान्तक स्वामी! स्वर्गमें पृथ्वीमें या नरकमें चाहे जहाँ और चाहे जितने काल मुझे रहना हो, मुझे इसकी चिन्ता नहीं। मैं इतना ही चाहता हूँ कि मृत्युके क्षण भी आपके शारदीय विकच कमलके समान परम सुन्दर चरण कमलोंका चिन्तन करता रहूँ। आपके श्रीचरणोंका चिन्तन मुझसे कभी न छूटे।

"सो अनन्य जाकें असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त॥"

किष्कि० ३

यह स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तमका उपदेश है ! अनन्य भगवद्भक्त सदा सर्वत्र अपने प्रभुको ही देखता है ।

'जहँ तहँ देख धरें धनु बाना ।'

जब उसके आराध्य सर्वत्र उसके पास हैं तो उसे स्वर्गकी या मोक्षकी क्या इच्छा और नरकका क्या भय ।

"करम बचन मन राउर चेरा ।"

वह कर्मसे आपका दास है । आपकी तथा आपके भक्तोंकी सेवामें लगा रहता है । आपके श्रीविग्रह एवं मन्दिरकी सेवा-टहल करता रहता है । वह निकम्मा नहीं रहता और न व्यर्थ कार्य करता । उसके शरीरसे सदा आपकी सेवाका कार्य होता है । बचनसे भी वह दास है । न वह मौनी रहता और न उसकी वाणी सांसारिक-चर्चामें लगती । वह आपके नाम, रूप, लीला एवं गुणका गान करता रहता है । यह कर्म एवं बचन रूप सेवा वह बेमनसे नहीं करता । उसका मन भी आपका दास है । मन भी आपके चरणोंका ही चिन्तन करता रहता है । शरीरसे कर्म भगवान्की सेवाके लिये, वाणीसे भगवन्नाम एवं गुणका निरन्तर जप-कीर्तन और मनसे सदा भगवान्का चिन्तन—यही पूर्ण जीवन है । मनुष्य जीवनकी यही चरम सोधन स्थिति है । जो इसे प्राप्त कर चुका है, श्रीराम उसके हृदयमें निवास करते हैं । इस प्रकार इस चौपाईमें दास्य भक्तिका पूर्ण रूप, महर्षिने प्रतिपादित किया है ।

[चतुर्दश भवन]

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥
अयो० १३१

जिसे कभी कुछ चाहिये नहीं, आपसे उसका स्वाभाविक स्नेह है, उसके मनमें आप निवास करें; क्योंकि वह मन तो आपका अपना घर है ।

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥
—भागवत, ११।२।५०

जिनके मनमें विषय सुखोंको पानेकी इच्छा, उनके लिये कर्म करनेकी प्रवृत्ति तथा उनके बीज वासनाओंका उदय ही नहीं होता, एकमात्र भगवान् वासुदेवमें जिसका चित्त निवास करता है, वह श्रेष्ठ भगवद्-भक्त है।

इस अन्तिम चौदहवें भवनमें महर्षि बाल्मीकि वात्सल्य भक्तिका वर्णन कर रहे हैं। बाल्मीकीय रामायणके अनुसार अयोध्यासे निर्वासिता श्रीजनकनन्दिनीको पुत्रीकी भांति अपने आश्रममें उन्होंने रखा और वहीं लव-कुशका जन्म एवं लालन-पालन तथा शिक्षण हुआ। महाराज दशरथ एवं महाराज जनकसे भी महर्षिकी मित्रता है। इसलिये श्रीराममें महर्षिका वात्सल्य भाव है। मर्यादा पुरुषोत्तमने भी इसीलिये अपने रहने योग्य स्थान महर्षिसे ही पूछा; क्योंकि गुरु जनोंसे पूछकर उनके बताये स्थानपर ही रहना सुशील पुरुषका कर्तव्य है। प्रधान देवकी पूजा सबसे पीछे की जाती है, इसी प्रकार महर्षिके लिये जो प्रधान भाव है, जो उनका अपना भाव है, उसका वर्णन वे सबसे अन्तमें करते हैं और 'सो राउर निज गेहु' कहकर उसकी विशेषता स्पष्ट कर देते हैं।

अपने अबोध शिशुपर माता-पिताका सहज स्नेह होता है। भला वे अपने नन्हें बच्चेसे क्या इच्छा कर सकते हैं। वह सुखी रहे, सानन्द रहे बस यही उनकी कामना रहती है। उसके सुखमें ही उन्हें सुख है। पशु-पक्षी तक अपने शिशुओंसे स्वाभाविक स्नेह करते हैं। बड़े होनेपर वे बच्चे माता-पिताको पहिचानते तक नहीं; किन्तु माता-पिता बच्चेके लालन-पालनमें क्या यह बात कभी सोचते हैं? गोपियोंके पूछनेपर रास-रात्रिको श्रीकृष्णचन्द्रने पवित्र प्रेमके उदाहरण स्वरूप माता-पिताके प्रेमका उल्लेख किया—

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥
—भागवत, १०।३२।१८

भगवान्ने कहा—"सुन्दरी गोपियों। जैसे स्वभावसे ही करुणाशील सज्जन एवं माता-पिता प्रेम न करनेवालेसे प्रेम करते हैं, वैसे प्रेम करनेवालोंमें ही अपवाद (त्रुटि) रहित धर्म तथा सौहार्द है।"

'तत्सुखसुखित्व' आराध्यके सुखमें ही सुख मानना, उनकी प्र
सन्न रहना, यही भक्तिका चरम स्वरूप है और वात्सल्यमें इसकी पूरी
होती है। सेवक अपने स्वामीसे कमसे कम अनुकूलता चाहता है,
चाहता है। सखा अपने सखासे समानताका व्यवहार चाहता अ
प्रदान चाहता है। स्त्री अपने पतिसे ही जो कुछ चाहना होता है, स
चाहती है। इन तीनोंकी अनन्यता सच्ची होती है; प्रेम सच्चा हो
पर वह जन्मजात (सहज) नहीं होता। सम्बन्धके पीछे होता है।
कुछ न कुछ हेतु होता है। लेकिन माता-पिताका प्रेम सर्वथा स्वाभ
होता है।

उसमें कोई इच्छा नहीं होती। बच्चेके सुख-स्वास्थ्यमें ही उ
प्रसन्नता होती है। बच्चेसे कभी कुछ चाहनेकी बात आ ही नहीं स
उनके मन में। इस प्रकार सर्वथा निष्काम स्नेह जिनका श्रीराममें है, उ
मन तो उन श्रीकौशल्या कुमारका 'निजगेह' है।

महात्माओंने 'निज गेह' का भाव 'निजी कक्ष' अर्थात् रंग-र
करके इस दोहेको मधुर रस प्रतिपादक माना है। महात्माओंके भाव f
सत्य होते हैं। मैं अल्पज्ञ उनका विरोध करनेका साहस करूँ, यह धृष्टता
लेकिन मानस भगवत्स्वरूप है और जैसे सभी भगवान्को अपने-अपने भा
अनुसार देखते हैं, वैसे ही मैंने भी यहाँ अपने भावके अनुसार ही अर्थ दे
है। मुझे वक्ता महर्षि वाल्मीकिकी और दृष्टि रखना अधिक उपयु
लगा और "तुम्ह सन सहज सनेहु" में जो 'सनेह' है, वह भी वात्सल्य
ओर संकेत करता जान पड़ा। स्नेह माधुर्य भावमें प्रेम कहा जाता
बड़ोंका छोटोंके प्रति रागात्मकभाव ही स्नेह कहलाता है।

'सो राउर निज गेहु' का भाव जब इस दोहेमें वात्सल्यकी मुख्य
मानते हैं तो यह होगा—'दूसरे स्थान तो बसनेके उपयुक्त हैं और व
बसना चाहिये; किन्तु यह तो तुम्हारा अपना घर है। पिताका भवन जै
पुत्रका अपना घर है, वैसे ही यह तुम्हारा पैतृक भवन है। इसे छोड़
तो तुम्हारे लिये किसी प्रकार उपयुक्त नहीं। इतनी सुख-सुविधा अन्य
कहीं तुम्हें नहीं प्राप्त होगी। पूरी स्वतन्त्रतासे अपने सभी संगी-साथियों
साथ तुम यहीं रह सकते हो। यहाँ रहनेके लिये तुम्हें किसीसे पूछने, किस
से अनुमति लेनेकी आवश्यकता नहीं! और यदि यह उपयुक्त नहीं, त

भी तुम्हारा अपना घर है यह। इसे उपयुक्त बनाना भी तुम्हारा अपना ही कर्तव्य है।"

[उपसंहार]

एहि बिधि मुनिबर भवन देखाए।
बचन सप्रेम राम मन भाए॥

इस प्रकार मुनिश्रेष्ठ बाल्मीकिजीने श्रीरघुनाथजीको चौदह भवन दिखलाये। महर्षिके प्रेमपूर्ण वचन श्रीरामके चित्तको अच्छे लगे।

मर्यादापुरुषोत्तमने मर्यादाकी रक्षा करते हुए इन भवनोंके विषयमें कुछ कहा नहीं। नरलीलाको सार्थक करते हुए वे चुप रहे; किन्तु क्या महर्षिकी प्रार्थना व्यर्थ चली गई? क्या उनके दिखलाये भवन प्रभुने स्वीकार नहीं किये? अरे भाई बहुत पुरानी कहावत है—

"मौनं स्वीकारलक्षणम्।"

चुप रह जाना स्वीकार कर लेनेका चिन्ह है। इतनेपर भी आपको सन्तोष न हो तो मानसके चारों वक्ता—भगवान् शङ्कर, श्रीकाकभुशुण्डिजी, महर्षि याज्ञवल्क्य एवं गोस्वामी तुलसीदासजी तो कह ही रहे हैं—

"बचन सप्रेम राम मन भाए।"

श्रीरामके मनको पसन्द आ गये ये प्रेम पूर्ण वचन। अब भला इससे अधिक स्वीकृतिके लिए और चाहिये भी क्या।

— ◘ —

श्रीराम-गीता

जीवोंके परमाचार्य श्रीलक्ष्मणजीने प्रश्न किया और मर्यादापुरुषोत्तम प्रभुने उत्तर दिया। श्रीरामचरित-मानसके किष्किन्धाकाण्डका यह प्रसंग श्रीरामगीताके नामसे प्रसिद्ध है। राम-गीताकी श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र' जी की व्याख्यासे मानसके प्रेमियोंको लाभ एवं प्रसन्नता होगी।

—प्रकाशक

१३

श्रीराम-गीता

उपक्रम

एक बार प्रभु सुख आसीना।
लछिमन बचन कहे छलहीना॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं।
मैं पूछउँ निज प्रभुकी नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा।
सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया।
कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥
थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।
सुनहु तात मति मन चित लाई॥

अर० १३।५-१४।१

एक बार प्रभु (श्रीराघवेन्द्र) सुखपूर्वक बैठे हुए थे। (उस समय) श्रीलक्ष्मणजीने छलहीन भावसे (सरलतासे) यह बात कही—'प्रभो! आप तो देवता, मनुष्य, मुनिजन तथा सम्पूर्ण जड़-चेतन जगतके स्वामी हैं; किन्तु अपने निजी स्वामीकी भाँति मैं आपसे पूछ रहा हूँ। हे देव! मुझे समझा-कर आप वह शिक्षा दें जिससे सब कुछ छोड़कर मैं 'आपके' श्रीचरणोंकी रजकी सेवा करूँ। ज्ञान, वैराग्य और मायाका आप वर्णन करें तथा उस भक्तिका भी वर्णन करें, जिससे आप दया करते हैं। हे नाथ! ईश्वर और जीवका भेद आदि सब बातें समझाकर बतावें, जिससे आपके चरणोंमें मेरी प्रीति हो तथा शोक, मोह एवं भ्रमका नाश हो।'

श्रीलक्ष्मणजीकी बात सुनकर मर्यादा पुरुषोत्तमने कहा—'भाई! मैं थोड़ेमें ही सब बातें बतलाता हूँ। तुम मन, बुद्धि और चित्तको लगाकर (एकाग्र करके) सुनो!'

श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डकी यह श्रीराम-गीता बहुत प्रसिद्ध है। इसके वक्ता-उपदेष्टा हैं स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्र और प्रश्न

कर्त्ता-श्रोता हैं जीवोंके परमाचार्य श्रीलक्ष्मणजी। चित्रकूटसे श्री
दण्डकारण्य चले गये थे। वहां पञ्चवटीमें पर्णकुटी बनाकर वे प
समय निवास करते रहे। उस पञ्चवटी निवासके समय किसी दिन
प्रभु सुखपूर्वक बैठे थे, ये प्रश्न श्रीलक्ष्मणजी ने किये।

'नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः।'

बिना पूछे किसीको कुछ न बतावे और जो अन्यायपूर्वक पूछते है
भी कुछ न बतावें। यह वक्ताके लिये शास्त्रीय आदेश है। कोई कह
रहा है, किसी काममें व्यस्त है, चिन्तित या उत्तेजित है, उत्तर देनेकी
स्थितिमें नहीं है, ऐसे समय उससे कुछ पूछा जाय—यह अन्यायपूर्वक
हुआ। पूछनेमें धृष्टता हो, व्यंग हो, रूक्षता हो, अकड़ हो, यह भी अ
पूर्वक पूछना हुआ। ऐसे प्रश्नकर्ताओंको उत्तर नहीं देना चाहिये।
देनेवाला किसीके सम्मुख परीक्षा देने, वाद-विवादको विवश नहीं है
परीक्षा लेने, वाद-विवादके लिये पूछते हैं—वे तो अन्यायपूर्वक पूछ
हैं, उनके प्रश्नका भी उत्तर नहीं देना चाहिये। लेकिन जो सचमुच जि
हैं, उनमें भी पूछनेके समयका ज्ञान और प्रश्न करनेकी नम्रता
चाहिये। अकड़, रुक्षता, व्यंग, कठोरता पूर्वक या अनवसर वे प्रश्न
तो उनके प्रश्नका भी उत्तर नहीं देना चाहिये। प्रभु सुखपूर्वक बैठे
किसी कार्यमें नहीं लगे थे, न कुछ सोच रहे थे। वे उत्तर देनेकी स्थि
थे यह 'प्रभु सुख आसीना' से सूचित किया गया।

श्रीलक्ष्मणजी कभी श्रीरामसे छलपूर्वक कोई बात कहेंगे यह क
करना ही अपराध होगा ऐसी दशामें 'लछिमन वचन कहे छलहीना' का त
समझने योग्य है। श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके परमाचार्य हैं, ज्ञानियोंके
गुरु हैं, ऐसी कोई बात, कोई ज्ञान, कोई तत्व नहीं जो उन्हें ज्ञात न
उन्होंने शृंगबेरपुरमें निषादराज गुहको तत्वज्ञान एवं भक्तिका उ
भी किया है। जो सब कुछ जानता-समझता हुआ भी पूछे उसके वि
यह शंका स्वाभाविक होती है कि वह केवल पूछनेका छलकर रह
इसी शंकाके निवारणके लिये 'छलहीना' आया है। श्रीलक्ष्मणजीके व
में—प्रश्नमें कोई छल नहीं था। वे वाद-विवादके लिये, परीक्षाके
रुक्षतासे या कठोरतासे नहीं पूछ रहे हैं। वे इसे आगे ही स्पष्ट कर दे

कि 'मैं भले जीवोंका आचार्य होऊँ; किन्तु मुझे अपने लिये, अपने अधिकार-के अनुरूप उपदेश अपेक्षित है और मेरे स्वामीको छोड़कर वह मुझे कौन देगा।' जैसे 'सुख आसीना' से यह सूचित होता है कि प्रभु उत्तर देनेकी स्थितिमें हैं, वैसे ही 'छल हीना वचन' यह सूचित करता है कि श्रीलक्ष्मणजी उचित जिज्ञासु हैं, उत्तर पानेको उचित रीतिसे पूछ रहे हैं।

श्रीलक्ष्मणजीने कहा—'प्रभो! आप देवता, मनुष्य एवं जड़ चेतन समस्त जगतके स्वामी हैं।' इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि समस्त जड़-चेतन जगतमें—विशेषतः देवता, मनुष्य और ऋषि-मुनियोंमें जितने साधक हैं, वे भिन्न-भिन्न रुचिके हैं। सबके लिये आपने अपनी वेद-शास्त्र रूपी वाणी-के द्वारा भिन्न-भिन्न साधन-मार्गोंका निर्देश किया है। रुचि और अधिकार भेदसे भिन्न-भिन्न निष्ठाएँ हैं। उन निष्ठाओंकी दृढ़ताके लिये भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं। वे सब सत्य हैं, क्योंकि उनका विधान आपके द्वारा हुआ है—आपकी वाणी शास्त्रके द्वारा हुआ है और उन सबके परम प्राप्य आप ही हैं; क्योंकि आप ही सबके स्वामी हैं। मुझे यह सब पता है; क्योंकि आपने मुझे जीवोंका मार्गदर्शक 'परमाचार्य' बना रखा है; किन्तु मैं आपको आज सर्वेश्वर मानकर कुछ नहीं पूछ रहा हूँ, मैं तो आपको अपना निज नाथ मानकर अपने निजी प्रभुकी भांति पूछ रहा हूँ, अतः आप मेरे लिए मेरे अधिकारके अनुरूप उपदेश करें। मुझे बतावें कि इन नाना सिद्धान्तों, नाना निष्ठाओंमेंसे स्वयं मैं अपने लिये किसका आलम्बन करूँ।'

लेकिन इस प्रश्नमें भी एक आग्रह है—'हे देव' मुझे समझाकर वही मार्ग बतावें जिससे सब कुछ छोड़कर आपके चरणोंकी धूलिकी सेवा करूँ।' तात्पर्य स्पष्ट है—'आप मुझे योग, सिद्धि, अर्थ-धर्म, काम या मोक्ष-का साधन बतलानेकी कृपा न करें। कैवल्य ज्ञानसे निर्वाण मोक्ष नहीं पाना। भले मैं आपके चरणोंकी सेवाका अधिकारी न होऊँ, पर आप तो सर्वसमर्थ हैं न! मेरे अधिकारको मत देखिये। कहीं मेरी आसक्ति हो भी तो ऐसा उपदेश कीजिये कि वह आसक्ति दूर हो जाय। सबको छोड़कर आपकी चरण-रजकी सेवामें लगूँ—मुझे वही मार्ग बताइये।' इस प्रार्थनामें 'सब तजि' के द्वारा पूर्ण वैराग्य तथा 'चरण-रज-सेवा' के द्वारा पूर्ण विनम्रताकी याचना की गयी है।

इतनी प्रार्थना करके, अपना उद्देश्य स्पष्ट सूचित करके तब लक्ष्मणजी ६ प्रश्न करते हैं १—ज्ञान क्या है ? २—वैराग्य क्या है ? ३—या क्या है ? ४—वह भक्ति कौन-सी है जिससे आप दया करते हैं ? -ईश्वर और जीवमें क्या भेद है ? ६—शोक, मोह और भ्रम नष्ट हो । आपके चरणोंमें प्रीति हो वह साधन कौन-सा है ?

श्रीलक्ष्मणजीने अपने प्रश्नमें दो बार समझा कर कहनेका आग्रह ा—'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा ।' और 'सकल कहहु समुझाइ, अब र देनेके पूर्व श्रीरघुनाथजी कहते हैं 'थोरेहि महँ सब कहौं, अर्थात् मैं प्त रूपसे ही सब प्रश्नोंका उत्तर दे रहा हूँ; किन्तु 'बुझाई' समझाकर र दे रहा हूँ ।' उत्तर थोड़ेमें तो इसलिये दिया जा रहा है कि श्रोता । उत्तम अधिकारी हैं कि उनके लिये विस्तार अनावश्यक है । बहुत ार तो निकृष्ट अधिकारीके लिये अपेक्षित होता है । लेकिन थोड़ेमें ब बातें समझाकर—स्पष्ट रूपमें कही जा रही है । कोई बात अस्पष्ट रखी गई है । आगे प्रसंगानुसार स्पष्ट किया जा सकेगा कि कहां प्रकार बात थोड़ेमें सूत्र रूपसे कही गयी और कहाँ समझाकर गयी ।

लेकिन श्रीलक्ष्मणजी जैसे अधिकारीको भी प्रभुने सावधान किया— ! मन, बुद्धि और चित्त लगाकर सुनो ।' यहां प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं -'तुम मेरे भाई हो, जीवोंके परमाचार्य हो, ज्ञान स्वरूप हो, यह सब र भी मन, बुद्धि, चित्त लगाकर सुनो । क्योंकि एक तो जीवोंके र्य होनेसे तुम जिज्ञासु मात्रके आदर्श हो । सुनना कैसे चाहिये, यह जीव तुमसे सीखेंगे । दूसरे यह तत्व ऐसा है कि श्रवण, मनन, निदि- नके बिना इसका अवगम नहीं होता ।'

श्रवण मनका धर्म है । आपका मन किसी बोलने वालेकी ओर न आप कुछ दूसरी बात सोचते हों तो बोलनेवाला चाहे जो बोले, आप सुन नहीं सकेंगे । अनेक बार बात-चीतमें यह होता है कि एक व्यक्ति से कहता है—'आपने क्या कहा ? मैंने सुना नहीं, मेरा मन दूसरी चला गया था ।' किसी भी बातको हम सुन लें इसके लिये मनका रहना, मनका उसमें लगना आवश्यक है । इसीसे मन लगानेकी बात गयी ।

Scanned by CamScan

श्रवणके बाद आवश्यक है मनन और यह बुद्धिका काम है। हमने जो सुना—उसपर विचार न किया जाय तो वह तत्काल भूल जायगा। पल्ले झाड़ कथा-श्रोता इसीलिये सुनता है कि वह मन लगाता भी हो सुनता भी हो, तो भी विचार नहीं करता। हमने जो सुना वह ठीक है या नहीं, ठीक है तो कैसे ठीक है? अपनी बुद्धिसे, अपने तर्कोंसे उसपर विचार करना, इसे मनन कहते हैं। यही बुद्धिको लगाना है। मनन करनेसे सुनी बात स्मरण होती है और उसकी उपयोगिता समझमें आ जाती है। इसलिये 'मति' लगानेको कहा गया।

कोई बात सुन ली और समझ भी ली; किन्तु जब तक वह चित्तमें बैठ न जाय, उसके अनुसार अपने विचार न बन जायें, तब तक उससे क्या लाभ? श्रवण और मननकी सफलता है निदिध्यासन। सुनी, सोची बात चित्तके द्वारा ग्रहण कर ली जाय इसे निदिध्यासन कहते हैं। किसी वस्तुको मुखमें लिया जाय, गलेसे नीचे उतारा जाय और पचा लिया जाय तब शरीरमें उसका रस बनता है। तब वह हमारे शरीरका अंग बनती है; इसी प्रकार कोई बात सुन ली जाय यह तो पदार्थको मुखमें लेनेके समान है; पेटमें पहुँचा दी जाय यह मनन—समझ लेनेके समान है, किन्तु पचे नहीं तो उससे कोई लाभ नहीं। निदिध्यासन—चित्तमें उसे बैठा लेना, अपने भाव वैसे बना लेना ही उसका पचना है। तभी वह जीवनमें आती है। अतः सबसे अन्तमें चित्तको लगानेका आदेश प्रभु ने दिया।

(२)

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥ अर० १४।२

'मैं' और 'मेरा' 'तू' और 'तेरा' यही माया है, जिसने समस्त जीवों को अपने वशमें कर रखा है।

लगता ऐसा है कि श्रीरघुनाथजी उस क्रमसे उत्तर नहीं दे रहे हैं, जिस क्रमसे श्रीलक्ष्मणजीने प्रश्न किया। श्रीलक्ष्मणजी का पहिला प्रश्न है 'कहहु ग्यान, और उत्तरमें पहिले मायाका स्वरूप बताया जा रहा है। लेकिन तनिक गम्भीरतासे विचार करें तो पता लगेगा कि बात ऐसी नहीं

है। जिस क्रमसे प्रश्न किये गये, उत्तर भी उसी क्रमसे दिया जा रहा है। अपने ६ प्रश्न करनेसे पहिले श्रीलक्ष्मणजीने कहा—

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा।
सब तजि करौं चरन रज सेवा॥ अर० १३।७

इसलिये पहिले प्रभु यही बात समझा रहे हैं कि 'सब तजि' में किसका त्याग आवश्यक है। अन्ततः भोजन, जल पीना तथा जीवन धारणके अन्य आवश्यक कार्य तो छोड़े नहीं जायँगे। न सन्ध्या-तर्पण आदि वर्णाश्रम विहित शास्त्रीय कर्म ही छोड़े जायेंगे। माता-पिता स्वजन-सम्बन्धी तथा इनके साथका व्यवहार भी छोड़ना कुछ आवश्यक नहीं है। वनसे लौटनेपर श्रीलक्ष्मणजीने इन सब व्यवहारोंका यथावत पालन किया ही है। तब 'सब तजि' में किस सबको छोड़ना है ?

जब श्रीरघुनाथजी अयोध्यासे वन जानेको उद्यत हुए थे, तब उनसे श्रीलक्ष्मणजीने ही कहा था—

गुर पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥ अयो० ७१।४

× × ×

धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥ अयो० ७१।७

इस प्रकार गुरु, माता, पितादि संबंधियों तथा धर्माचरण एवं नीति-निर्वाहसे वे अपनी निरपेक्षता प्रगट कर चुके हैं। कहीं 'सब तजि' में इन सबके सर्वथा त्यागका भाव उनके मनमें रह जाय और संसारके लोग यह न समझलें कि घर-द्वार, स्वजन-सम्बन्धी छोड़ कर बाबाजी हुये बिना भगवान्‌की चरणरजकी सेवा नहीं होती, कहीं घर एवं स्वजनोंके त्यागके साथ धर्माचरण तथा नीति-व्यवहारका भी त्याग करके स्वेच्छाचारी, औघड़ ही होना अनिवार्य न मान लिया जाय, इसलिये भी स्वयं प्रभु ही सबसे पहिले यही बतलाते हैं कि 'सब तजि' का तात्पर्य क्या है। वस्तुतः किसे त्यागना है ?

'मैं' अरु 'मोर' अर्थात् 'अहम्' और 'मम' तथा 'तोर' 'तैं' और 'तव' यही माया है माया तो और भी है और उस मायाका वर्णन अगली ही अर्धालीमें होगा, किन्तु जिसने समस्त जीवोंको अपने वशमें कर रखा है, जिसके द्वारा जीव जन्म-मरणके चक्रमें अनन्त कालसे पड़ा है वह बस यही माया है।

'जीव निकाया' जीवोंका समूह—यहाँ स्पष्ट है कि जीव अनेक हैं। 'जीव अनेक एक श्रीकन्ता।' यह 'मानस' में अन्यत्र भी कहा गया है। सिद्धान्त कोई भी माना जाय, किन्तु जहाँ तक जन्म-मरण है; जहाँ तक मम और तवका भेद है—वहाँ तक जीवोंकी अनेकता तो सभी मानते हैं। अनेक जीव हैं, इसीलिये उनके विभिन्न कर्म हैं और कर्मानुसार उनका पुनंजन्म होता है। जहां तक मायाकी वश्यता है वहां तक जीवका अनेकत्व सर्वस्वीकृत है।

चेतन तत्वका चित्तमें जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, उसे चिदाभास कहा जाता है। सूक्ष्म तथा कारण शरीरमें अहं भाव सम्पन्न यह चिदाभास ही जीव है। इसका पहिला मायिक भाव है अहंकार—'मैं'। अहंकारको मायाका प्रथम कार्य कहा जाता है। हम सभी यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि घोर निद्रामें कोई स्मृति हमें नहीं रहती। लेकिन कोई हमारा नाम लेकर पुकारे तो हम जाग जाते हैं! इसका अर्थ ही है कि निन्द्रामें भी हमारा अहंकार जागृत था दूसरे सबसे पृथक हम अमुक हैं—यह बोध घोर निद्रामें भी हमें था, इसीलिये अपना नाम लेकर पुकारे जानेपर हम जागृत हुए।

मैं दूसरे सब लोगोंसे पृथक हमारी सत्ता है। इस प्रकार अहंकारके द्वारा सबसे अलग अपनी सत्ताका भाव आया तब यह भी स्वाभाविक ही भाव आया कि कुछ मेरा है और कुछ मेरा नहीं है। शरीर, वस्त्र, भवन, परिवार सम्पत्ति, जाति, धर्म, देश आदि ममत्वकी सीमामें ही हैं। मेरापन—ममत्व बहुत संकुचित सीमामें हो सकता है और बहुत बड़ी सीमा भी उसकी हो सकती है। कोई अपने शरीरको ही मेरा मानता है और कोई पूरी जाति या राष्ट्रको मेरा मानता है।

जब हम दूसरोंसे पृथक हैं तो दूसरे भी हैं। 'तैं' अर्थात् तुम इसका तात्पर्य द्वितीय या मध्यम पुरुष मात्र नहीं है। इसका तात्पर्य है मैं से भिन्न

शेष सब लोग। इसी प्रकार 'तोर' का अर्थ है 'मम' से भिन्न शेष सब। अब कुछ पदार्थ हमारे हैं, तब शेष औरोंके भी होंगे ही।

अन्योंसे भिन्न मैं हूँ और मुझसे भिन्न अन्य लोग हैं, कुछ वस्तुएँ मेरी हैं और अन्य दूसरोंकी—बस, यह भाव ही वह माया है जिसके वशमें समस्त जीव पड़े हैं।

मायाका अर्थ ही है असत्य, छल, झूठ। विचार कीजिये कि हम या हमारा क्या है? शरीर और संसारके सारे पदार्थ अनादि कालसे ज्यों-के त्यों हैं। आपने कुछ ईंट-पत्थर एकत्र करके एक मकान बनवाया या एक मकान आपका ध्वस्त हो गया, सृष्टिमें एक परमाणु भी न घटा और न बढ़ा। मकान तो दूर, आपके शरीरमें भी क्या एक कण भी ऐसा है जो आपका है? क्या स्वत्व है उसपर आपका? आपने उसे बनाया है? आप उसे मिटा या बदल सकते हैं? कुछ भी तो नहीं है। केवल अहंकार कि यह मैं हूँ, यह मेरा है। एक विन्दु कहीं रखकर बताइये तो कि 'मैं कौन हैं आप? जैसे 'मैं' या 'मेरा' कुछ नहीं केवल मनुष्यका भ्रम है, वैसे ही 'तू और तेरा' भी कुछ नहीं है।

कुछ हो चाहे न हो पर यह सत्य है न कि पूरे जगतमें प्रत्येक 'मैं' हैं यह अनुभव करता है और तब यह 'मेरा' है यह भी अनुभव करता है। 'मैं' और 'मेरा' का भेद हो गया तो 'तू' और 'तेरा' तो अपने आप हो गया। यह माया है यही जीवकी माया है इसी मायाने सारे जीवोंको वशमें कर रखा है।

अन्ततः जीवका बन्धन क्या है? किसी का पुनर्जन्म क्यों होता है? उत्तर बड़ा स्पष्ट है—राग और द्वेष यही दो रस्सियाँ हैं जिनसे जीव बँधा है। कोई कुछ कहे या कुछ करे स्पष्ट शब्दोंमें यह कि कोई सिद्धान्त माने या कोई साधन करें जब तक संसारमें कहीं उसका राग या द्वेष है, उसे जन्म लेना ही होगा। वह मायासे मुक्त नहीं होगा। यहाँ एक उदाहरण देना अनुपयुक्त नहीं होगा जड़भरतका। परमज्ञानी जड़भरतजीने न तो कोई अध्ययन किया था, न साधन किया था। अपने अन्तिम जन्ममें तो वे जड़ पागल बने रहते थे। राजा रहूगणको उन्होंने जो उपदेश किया, वह ज्ञान उनके इस जन्मका ज्ञान नहीं था, वह ज्ञान था तबका

जब वे राजा भरत थे। राजा भरत रहते समय उनको वह ज्ञान प्राप्त था और चक्रवर्तीसम्राट पद-छोड़ कर वे वनमें भगवान्‌की उपासना करने आये थे। उनका वह ज्ञान, वह वैराग्य और वह उपासना जिनकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती, उन्हें मुक्त नहीं कर सकी। एक मृग शावकमें आसक्त रहनेसे उन्हें दो जन्म लेने पड़े। भगवान्‌की आराधना व्यर्थ नहीं जाती। मृग योनिमें और फिर जड़भरतके रूपमें भी जन्म लेने-पर भी भरतको पूर्व जन्मका स्मरण उस आराधनाके प्रभावसे ही रहा, जिससे वे अन्तमें मुक्त हुए; किन्तु ध्यान देनेकी बात यहाँ यह है कि तनिक सी आसक्ति शेष रहनेसे ऐसे श्रेष्ठतम ज्ञानी एवं उच्च-भक्तको भी दो जन्म लेने पड़े।

'मैं और 'मेरा' ये रागके कारण होते हैं और 'तू' तथा 'तेरा' ये 'मैं' एवं 'मेरा' का प्रतिद्वन्दी होनेसे द्वेषके कारण। इस रागद्वेषके बन्धनसे ही जीव बँधा है। जीवकी माया इतनी ही है और जीवको इसीसे पार भी होना है।

यह सारा संसार तो भगवान्‌की रचना है। संसार और संसारके पदार्थ किसीको बाँधते नहीं। कोई ज्ञानी या मुक्त हो जाय तो भी संसार जैसा है, वैसा ही रहेगा। संसारमें असंख्य वस्तुएँ हैं जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, जिन्हें हम जानते तक नहीं, उनके द्वारा हमपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे रहें या नष्ट हो जायँ, हमारा उनसे कोई बन्धन नहीं। हमारे बदले संसार बदलेगा भी नहीं और न संसारको बदलनेकी आवश्य-कता है।

भगवान् यहाँ सूत्र रूपसे—'थोरेहि महं' बता रहे हैं कि भजन करनेके लिये न संसारको छोड़नेकी आवश्यकता है, न संसारके व्यवहार तथा सम्बन्ध को। उन्हें तो शास्त्राज्ञाके अनुसार, स्वधर्म एवं कर्तव्यका निर्वाह करते हुए चलाना ही चाहिये। 'मनलाई' भजनके लिये बस सब कहींसे 'मैं' 'मेरा' और 'तू' 'तेरा' का ही त्याग आवश्यक है। 'मेरा कुछ नहीं है, जो कुछ है सब प्रभुका है। जब सब प्रभुका है तो फिर 'तू' और 'तेरा' कैसा? सब प्रभुके ही रूप हैं। सब प्रभुकी ही प्रभुताका विस्तार है। मेरा अपना भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। मैं उनका सेवक, उनकी

इच्छाका यन्त्र मात्र है।' इस भावसे जो 'मैं' 'मेरा' और 'तू' 'तेरा' रूप मायाको छोड़ चुका उसने सब कुछ छोड़ दिया। वही मन लगाकर भजन कर सकता है। अतः श्रीरघुनाथजीने सर्वप्रथम जीवकी माया, जीवके बन्धनका कारण, 'सब तजि' में त्यागके भावमय स्वरूपको सूत्र रूपसे समझा दिया। बाहरी त्याग भजनके लिये आवश्यक नहीं हैं, भजनके लिये आवश्यक है अहंता और ममताका त्याग, क्योंकि यही जीवकी माया है, सब जीव इसीके वशमें हो रहे हैं, यह बात इस अर्धालीमें कही गयी है।

(३)

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई ॥ अर० १४।३

इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषयमें तथा मन जहाँ तक जाय, हे भाई ! उस सबको तुम माया समझना।

लक्ष्मणजीका प्रश्न 'कहहु ग्यान' यहाँसे प्रारम्भ हुआ, किन्तु ज्ञानका स्वरूप न बतला कर प्रभु तो मायाका स्वरूप बता रहे हैं। उत्तरमें यह विपर्यय क्यों? इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि 'सब तजि भंजन करउँ,' को समझानेके लिये परित्याज्य विषयके रूपमें जीवकी माया अहंता और ममताका वर्णन जब प्रारम्भ हो गया, तब जीवकी मायाके साथ ईश्वरीय मायाका वर्णन भी करके, एक विषयको पूरा करके तब दूसरेको प्रारम्भ करना ठीक है। मायाके रूपको बता कर विषयको अधूरा छोड़कर दूसरा विषय उठाना ठीक नहीं। दूसरे ज्ञानका वर्णन विधि-मुखसे 'यह ज्ञान है' इस प्रकार तो हो नहीं सकता। 'नेति-नेति' 'यह नहीं, यह नहीं' इस प्रकार निषेधके द्वारा ही ज्ञानका वर्णन शक्य है। ज्ञानके वर्णनका रूप ही यही होगा कि मायाका वर्णन करके कह दिया जाय कि जिसमें यह माया न हो वह ज्ञान है। इसलिये उत्तरमें कोई विपर्यय नहीं हुआ है। माया और ज्ञान विषयक दोनों प्रश्नोंका उत्तर एक साथ देनेके लिये प्रसंग प्राप्त विषयके अनुसार ही प्रभु समझा रहे हैं।

जहाँ तक इन्द्रियाँ जाती हैं या जा सकती हैं, किन्तु इन्द्रियां कहाँ तक जा सकती हैं ? हम नेत्रोंसे कितनी दूरकी वस्तु देख सकते हैं ? कानों-

से कितनी दूरका शब्द सुन सकते हैं ? नेत्र और कान छोड़ दें तो नासिका-की शक्ति और कम है, त्वचा और रसना तो तभी कोई अनुभव करती है, जब पदार्थका उनसे स्पर्श हो। कोई यन्त्र, कोई साधन हमें अनेक दुर्गम पर्वतोंमें, घोर वन या अगम्य मरुस्थलमें, अतल समुद्र गर्भमें या पृथ्वीके भीतर नहीं ले जा पाता, किन्तु इन सब स्थानोंमें असंख्य मायिक पदार्थ हैं, ऐसे पदार्थ हैं कि उनका इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान हो सकता है। इसलिये जहाँ तक इन्द्रियाँ जायं वहीं तक माया है—यह पर्याप्त परिभाषा नहीं है।

जहाँ तक इन्द्रियाँ जायँ और जहाँ तक इन्द्रियोंके विषय हों—'गो और गोचर' लेकिन यह भी मायाकी ठीक सीमा नहीं हुई। स्वर्ग-नरकको आप गोचर अर्थात् इन्द्रियोंसे अनुभव हो सके ऐसा लोक मान भी लें तो भी शास्त्रोंमें अनेक अतीन्द्रिय लोकोंका वर्णन है। भौतिक इन्द्रियाँ वहाँ नहीं पहुँचतीं। वहाँ कोई भौतिक विषय नहीं है। इसीलिये परिभाषाको पूरी करते हुये 'मन जाई' भी कहा गया है।

श्रीरघुनाथजी लक्ष्मणजीको यहाँ 'भाई' सम्बोधन देते हैं। इसका तात्पर्य है—'भाई ! तुम तो मेरे ही अंश हो, मुझसे अभिन्न हो, तुमसे छिपा क्या है। ऐसी कोई बात नहीं जो तुमसे छिपी हो या जो तुमसे छिपानेकी हो। यद्यपि यह बात और किसीसे कहनेकी नहीं, इसे सुनकर सामान्य जीवके मनमें बड़ा भ्रम उत्पन्न हो सकता है, किन्तु तुम तो मेरे भाई हो। तुममें भ्रम होना सम्भव नहीं है। इसी लिये तुमसे बता रहा हूँ कि जहाँ तक इन्द्रियाँ जाती हैं, जहाँ तक इन्द्रियोंके विषय हैं और जहाँ तक मन जाता है, वह सब माया समझो।

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो गच्छति।'

श्रुतिकी यह बात श्रीरामचरितमानसमें भी 'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी' आदिके द्वारा बार-बार कही गयी है। लेकिन यहाँ प्रश्न तो यह उठता है कि भगवान्‌का सगुण स्वरूप, भगवान्‌के नित्य दिव्य धाम भी क्या मायिक हैं ? इन तक मन तो जाता है। मन न जा सके तो शास्त्र नाम, रूप, लीला और धामके चिन्तनका विधान ही क्यों करें।

यह स्थूल जगत जो 'गो' का—इन्द्रियोंका विषय है। संसारमें जो

कुछ है, इन्द्रियोंसे जाना जा सकता है। इन्द्रियाँ वहाँ तक आज भले न पहुँचती हों, पहुँच तो सकती ही हैं। स्वर्ग-नरक आदि 'गोचर' के विषय हैं। वहाँ भी इन्द्रियोंके ही सुख-दुःख भोग हैं। जीवित व्यक्तिकी इन्द्रियाँ वहाँ भले न पहुँच सकें, किन्तु उनका अनुभव तो जीवको इन्द्रियोंके द्वारा ही प्राप्त होता है। लेकिन साकेत, गोलोक, वैकुण्ठ आदि अतीन्द्रिय लोक हैं। वहाँ प्राकृत इन्द्रियोंकी गति नहीं है। जीव वहाँ जब पार्षद देहसे पहुँचता है तो उसका शरीर चिन्मय होता है, उसकी इन्द्रियाँ चिन्मय होती हैं। भौतिक (मायिक) कारण तथा सूक्ष्म देह उसके यहीं छूट चुके होते हैं। लेकिन पूर्व जीवित व्यक्ति भी तो मनसे उन अतीन्द्रिय लोकोंके विषयमें कुछ सोचता ही है। भले उसका सोचना अपूर्ण हो, किन्तु उसका मन वहाँ तक जाता तो है। इसीलिये यह प्रश्न उठता है कि क्या वे लोक भी मायिक ही हैं।

दूसरे ढंगसे इस चौपाई (अर्धाली) का अर्थ करें तो यह अटपटा प्रश्न रोड़े नहीं अटकावेगा। जो कुछ इन्द्रियोंसे हम अनुभव करते हैं, उस अनुभवके जो विषय हैं और उन विषयोंमें मन जो कुछ सोचता है वह सब माया समझो। 'गो' अर्थात् इन्द्रियाँ, गोचर अर्थात् इन्द्रियोंके विषय और इन इन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयमें मन जहाँ तक जाता—जो कुछ सोचता है, वह सब माया है। इस अर्थ करनेमें 'जहँ लगि जाई' का अन्वय केवल 'मन' के साथ है। इन्द्रियां माया हैं, इन्द्रियोंके विषय माया है और इन्द्रियों के विषयमें जो कुछ सोचे वह सब माया है। मन इन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयको छोड़ कर कुछ सोचे तो वह माया नहीं कही जायगी।

लेकिन इस नवीन अर्थको न मानकर पहिले अर्थको ही मानें तो भी कोई दोष नहीं है। माया शब्दसे ही चौंकनेकी कोई बात नहीं है। मायाका अर्थ केवल अज्ञान नहीं है। भगवान्‌की योगमाया भी अन्ततः एक प्रकार की माया ही है। अतीन्द्रिय दिव्यलोक भी मायाकी—योग-मायाकी विभूति हैं। वे शाश्वत हैं, चिन्मय हैं, नित्य हैं, किन्तु उनका सम्पूर्ण गठन एवं संचालन भगवान्‌की योगमाया द्वारा ही होता है। उन परमपुरुषकी वे सन्धिनी शक्ति ही प्रभुके निर्गुण रूपसे उस सगुण रूप एवं सगुण लोकका पार्थक्य दोनोंके नित्य अभिन्न होनेपर भी बनाये रहती हैं! अतः उन दिव्य लोकोंको भी माया कहनेमें कोई दोष नहीं आता।

यह भी स्मरण रखनेकी बात है कि जीवकी मायाका वर्णन पहिले ही कर चुके। यह ईश्वरकी मायाका वर्णन है। एक पाद जगत त्रिपाद ब्रह्म दोनों ही उसी परमतत्त्वकी विभूति हैं। यह सम्पूर्ण जगत जो गोचर है इन्द्रियोंका विषय है इसको जाननेकी साधनभूता इन्द्रियाँ और इससे परे जो केवल मनके द्वारा चिन्तनकी वस्तु हैं—नित्य दिव्य-धाम, ये सब उसी परमपुरुषकी माया हैं। ईश्वरकी मायाके भी दो भेद हैं—सामान्य माया और योग माया। जगत सामान्य मायाका कार्य है, अद्वैतवादी इसी मायाको माया कहते हैं। योगमायाका वैभव नित्य दिव्यलोकोंमें है। वे भगवान्‌की अभिन्न शक्ति हैं। आगेके प्रसंगमें माया—योगमायाके इन भेदोंको प्रभु स्वयं स्पष्ट कर देंगे।

(४)

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥

अर० १५।४-६

उस (माया) के जो भेद हैं, उन्हें भी तुम सुन लो। उनमें एक विद्या है और दूसरी अविद्या है जो दो प्रकार की है। उनमें एक तो दुष्ट है और अत्यन्त दुःख रूप है, जिसके वशमें पड़कर जीव संसार रूपी कुएँमें पड़ा है, किन्तु दूसरी जिसके वशमें गुण हैं (जो त्रिगुणात्मिका है) और संसारकी रचना करती है, वह भगवान्‌से प्रेरित होती है, उसमें अपना कोई बल नहीं है।

'तेहिकर' अर्थात् उस मायाका भेद प्रभु बतला रहे हैं। 'विद्या और अविद्या' ये दो भेद उसके हैं, यह अर्थ इसलिए उपयुक्त नहीं लगता कि आगे जो वर्णन है, वह इस क्रमसे नहीं है। 'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा' यह वर्णन अविद्याका है, इसमें तो कुछ कहना नहीं है। 'विद्या-अविद्या'

ये दो भेद बतला कर पहिले क्रम प्राप्त ढंगसे विद्याका वर्णन होना चाहिये था। दूसरी बात यह है कि जगतकी रचना करनेवाली त्रिगुणात्मिका मायाको कहीं भी 'विद्या' नहीं कहा गया है उसे 'विद्या', कहनेपर मानना होगा कि श्रीरामचरितमानसमें यह 'विद्या' शब्द सर्वथा अप्रचलित अर्थमें प्रयुक्त हुआ। इसलिए उपयुक्त यही लगता है कि प्रभु विद्याको अलग बतलाते हैं और अविद्याके फिर दो भेद बतलाते हैं।

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा॥

यह अविद्याका एक भेद है। इसका विवेचन पहले हो चुका है। प्रभु पहिले ही 'मैं अरु मोर-तोर ते मायामें' इसका वर्णन कर चुके हैं और यह भी बता चुके हैं। 'जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।' यही जीवकी माया अत्यन्त दुःख रूप है। इसने समस्त जीवोंको अपने वशमें कर रखा है। इसके वशमें होकर जीव 'भवकूप' में पड़ा है। यहाँ 'भव' को 'कूप' बता कर उसमें पड़े जीवोंको कूप-मंडूक बताया गया है और बात ऐसी ही है भी। किसीसे पूछिये—'आप ज्ञानी है ?' वह अस्वीकार करेगा। उसे अपनेको अज्ञानी माननेमें कोई आपत्ति नहीं; किन्तु उसे तनिक मूर्ख कह देखिये। जैसे अज्ञानी और मूर्खमें बड़ा अन्तर हो; लेकिन यह विचारहीनता ही तो जीवका अज्ञान है। जिस घरको हम-आप अपना मानते हैं, कई छिपकलियाँ, कुछ दर्जन मकड़ियाँ, संकड़ों मक्खी-मच्छर भी उसे अपना ही मानते हैं—उतना ही अपना। जिस शरीरको हम अपना कहते हैं, अनेक जुएँ उसे अपना घर मानते हैं, सहस्त्रश: कीड़े उसे अपना समझते हैं। एक नारीके पेटसे पुत्र होता है, उसे वह अपना लड़का कहती है; किन्तु उसीके पेटसे शौच या वमन मार्गसे रोगके कारण जो केंचुए निकले-उन्हें उसके पुत्र कहिये तो आपको गाली देगी। यह विचारहीनता—यह अज्ञान ही तो कूप-मण्डूकपना है। इस अज्ञानके कारण ही जीव संसारमें उलझा है। कोई विचार करने लगे—किसीकी विचारशक्ति प्रबुद्ध हो जाय तो वह संसारमें और संसारके भोगोंमें—'मैं-मेरा' और 'तू-तेरा' की मायामें पड़ा रह नहीं सकता।

अविद्याके इस एक भेदको दार्शनिक शब्दोंमें आवरण-शक्ति कहते हैं। यह जीवको विचार-शक्तिको ढके रहती है। 'अहं और मम' में लिप्त

प्राणी उन्मुक्त विचार कर नहीं पाता। इसीसे प्रभु इसे दुष्ट कहते हैं और यह अतिशय दुःखरूप तो है ही। जन्म-मरण, रोग-शोक, अभाव-अपमान आदि सभी दुख—तीनों ताप इसी मायाके कारण जीवको भोगने पड़ते हैं।

दूसरी अविद्या वह है जिसके वशमें गुण-सत्व, रज और तम ये तीनों गुण हैं। यह ईश्वरकी माया है। इसमें अपना कोई बल नहीं, यह 'प्रभु प्रेरित' होकर जगतकी रचना, स्थिति और प्रलय करती है। इसीका नाम प्रकृति है।

"मायां तु प्रकृतिं विद्धि" श्वेतश्वतरोपनिषद् गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" ९।१०

दार्शनिक इस प्रकृतिको ही मायाकी विक्षेप-शक्ति मानते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसमें यह विक्षेप चेतनकी सान्निध्यसे ही आता है। प्रभु प्रेरित होनेपर ही वह जगतकी सृष्टि करती है।

यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि अविद्याके दोनों भेदोंकी तो व्याख्या की गयी, किन्तु विद्याका नाम लेकर ही छोड़ दिया गया, ऐसा क्यों? इसका स्पष्ट उत्तर तो यही है कि विद्याका वर्णन सम्भव नहीं है। विद्या माया अर्थात् प्रभुकी अभिनय लीला-शक्ति, योग-माया। भला उनका वर्णन कैसे किया जा सकता है। उनका तो नाम लेना ही पर्याप्त है।

यदि विद्या और अविद्या यही दो भेद मायाके मानें और ऐसा अर्थ करें कि प्रभुने इस अर्धालीमें 'विद्या अपर अविद्या दोऊ' इसके द्वारा विद्या और दूसरी अविद्या यही कहा है तो यह मानना पड़ेगा और सभी सन्त-विद्वान मानते भी हैं कि एक दुष्ट अतिसय दुःख रूपाके द्वारा अविद्याका वर्णन हुआ है और 'एक रचइ जग गुन बस जाकें' के द्वारा विद्याका वर्णन।

ऐसा माननेपर यह भी मानना होगा कि यह विद्या दर्शनशास्त्रकी त्रिगुणात्मिका प्रकृति नहीं है। त्रिगुण इसके रूप नहीं है—वे इसके वशमें है। यह प्रभु प्रेरित होकर जगतकी रचना करती है। यही योगमाया-शक्ति जगज्जननी सीता है। इनकी वन्दनामें ग्रन्थकारने कहा है—

"उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहंरावल्लभाम् ॥'

श्रीजानकीजीको विद्या माया या योगमाया मैं अपनी ओरसे नहीं कह रहा हूं। श्रीरामचरितमानसके बालकांडमें मनु शतरूपा प्रसंगमें यह बात स्पष्ट कर दी गई है—जब मनु शतरूपाके सम्मुख प्रभु प्रगट हुए हैं, तब—

बाम भाग सोभति अनुकूला।
आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी।
अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई।
राम बाम दिसि सीता सोई॥ बाल० १४७।२-४

और उन आदिशक्ति श्रीसीताके सम्बन्धमें वे परात्पर प्रभु स्वयं यहां कहते हैं—

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥ बाल० १५१।४

यहां उन आदिशक्ति योगमायाको स्पष्ट जगतको उत्पन्न करने वाली कहा गया है। श्रीराम-गीताके इस प्रसंगमें वही प्रभु जगतको उत्पन्न करने वाली उसी मायाको 'विद्या' कहकर वर्णन कर रहे हैं और यह स्पष्ट किये दे रहे हैं कि वे त्रिगुणात्मिका नहीं है, त्रिगुण उनके वशमें हैं। इस प्रकार सूत्र रूपसे 'थोरेहि महँ' प्रभुने अविद्या और योगमाया—विद्या मायाका वर्णन कर दिया।

(५)

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं॥ अर० १४।७

ज्ञान वह है जिसमें एक भी अभिमान न हो। सबमें एक समान ब्रह्मको देखें।

(अथवा)

ज्ञानवान वह है जिसमें एक भी (माया) न हो और जो सबमें समान रूपसे ब्रह्म को देखे।

अथवा करके यह दूसरा अर्थ करनेकी क्या आवश्यकता ? प्रायः सभी प्रतियोंमें 'ग्यान' और 'मान' ये शब्द अलग-अलग छपे हैं और टीकाकारोंने उन्हें अलग-अलग ही मानकर वही अर्थ किया है जो पहिला अर्थ ऊपर दिया गया है। परम्परा प्राप्त होनेसे मैंने भी वही अर्थ पहिले दिया है; किन्तु दूसरा अर्थ जो अथवा करके दिया है, वह मुझे अधिक उपयुक्त लगता है।

प्रश्न यह है कि 'देख ब्रह्म समान सब माहीं' इसमें ज्ञानका वर्णन है या ज्ञानी का। 'जिस वृतिके द्वारा (ज्ञानी) सबमें समान रूपसे ब्रह्मको देखता है, ऐसा अर्थ करें तब तो इसमें ज्ञानका वर्णन है, यह कहा जा सकेगा लेकिन ऐसा अर्थ बहुत खींचतानका अर्थ माना जायगा। किसीने ऐसा अर्थ किया भी नहीं है। सब वही अर्थ करते हैं कि 'जो सबमें समान रूपसे ब्रह्मको देखें' यह 'जो' व्यक्ति होगा और व्यक्तिका वर्णन तो ज्ञानीका वर्णन है। जब आधेमें ज्ञानीका वर्णन है, तब उसी अर्धालीके आधेमें ज्ञानका वर्णन है, यह मानना कुछ अटपटा लगता है। पूरी अर्धालीमें ही ज्ञानीका वर्णन है, यह मानकर अर्थ करनेमें उलटा-सीधा अन्वय नहीं करना पड़ता, केवल 'ग्यान मान' इस शब्दको एक मानकर उसका शुद्ध रूप 'ज्ञानवान' मान लेनेसे काम चल जाता है।

लक्ष्मणजीनें ज्ञानीका लक्षण नहीं पूछा है, ज्ञानका लक्षण पूछा है, यह शङ्का उठायी जा सकती है। लेकिन ज्ञान बोधात्मक वृत्तिका नाम है और वृत्तिका वर्णन हो नहीं सकता। जैसे 'क्रोध' क्या ? यह समझाना हो तो कहना पड़ेगा कि मारने या गाली देनेपर आपके चित्तकी जो उत्तेजनात्मक वृत्ति है उसे क्रोध कहते हैं। यहां केवल क्रोधीके द्वारा क्रोधका लक्षण बतलाया गया। क्रोध रूपी वृत्तिका सीधे लक्षण कर पाना शक्य नहीं। इसी प्रकार बोधात्मक वृत्तिको सीधे तो कैसे बतलाया जा सकता है, प्रभु ज्ञानीका वर्णन करके ज्ञानको लक्षित करा रहे हैं।

'ग्यान मान' को एक शब्द 'ज्ञानवान' माननेका एक कारण और भी है। पहिले कहा जा चुका है कि मायाका वर्णन प्रभु इसीलिये कर रहे हैं कि मायाका निषेध कर देना ही ज्ञानका लक्षण है। ज्ञानका लक्षण पृथक नहीं बतलाया जा सकता। इसलिये जब इस अर्धालीमें ज्ञानका लक्षण कहा जा रहा है तो वह लक्षण मायाका निषेध रूप लक्षण ही होना चाहिये। 'जहाँ एक भी मान नहीं', यह तो मायाका निषेध हुआ नहीं। 'जहाँ एक भी माया नहीं' यह मायाका निषेध हुआ। यह निषेध तभी सार्थक होता है, तभी अर्धालीके अर्थसे निकल सकता है, जब 'ग्यान मान' को एक शब्द 'ज्ञानवान' माना जाय। इन्हीं कारणोंसे अथवा करके दूसरा अर्थ करनेकी मैंने धृष्टता की है।

अर्थ चाहे पहिला माना जाय या दूसरा—तात्पर्यमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। दोनोंका तात्पर्य एक ही है। अर्थका भेद तो केवल 'ग्यान मान' शब्दको एक मानकर या अलग-अलग मानकर है। दोनों अर्थोंका तात्पर्य एक ही है, यही अब समझ लेना है।

'देख ब्रह्म समान सब माहीं।' इस अंशके अर्थमें तो कोई अन्तर है नहीं। 'ग्यान मान जहाँ एकउ नाहीं' इसका अर्थ जब किया जाता है 'ज्ञान वह जिसमें एक भी मान नहीं, है तब 'मान' शब्दका अर्थ है—'मैं अरु मोर तोर तें माया' जिसमें मैं—मेरा, तू-तेरा, इस प्रकार का एक भी अभिमान नहीं और जो सब कहीं समान रूपसे ब्रह्मको देखता है, वह ज्ञान (अथवा ज्ञान सम्पन्न) है।

'ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं' इसमें जब ग्यान मान' को एक शब्द मान कर अर्थ किया जाता है कि 'ज्ञानवान, वह जिसमें एक भी माया न हो, तब यह प्रश्न उठता है कि 'एक भी माया' का क्या अर्थ ? क्या उसमें विद्या माया और अविद्या माया दोनों नहीं होतीं ? लेकिन यह कैसे सम्भव है ! ज्ञानीके भी शरीर होता है, उसके भी इन्द्रियाँ होती हैं, उसे भी चीनी मीठी और नीम कड़वी लगती है। 'गो गोचर' जगतमें भले वह सर्वत्र ब्रह्मको देखे किन्तु व्यवहार तो उसे जगतमें करना ही है। उसे भूख, प्यास, लघुशङ्का तथा मल-विसर्जनकी आवश्यकता होगी ही। वह भले अघोरी बनकर गोबर तथा गन्दगी खा लें, भले योगी बनकर अग्निके अंगारे मुखमें ले लें; किन्तु अन्धा-बहिरा, लूला-लंगड़ा तो है नहीं। जगत तथा जगतके

पदार्थोंके भेद उसे दीखते हैं, समझ पड़ते हैं। इनमें भेदके अनुसार ही वह व्यवहार करता है, तब उसमें विद्या-माया नहीं है, यह कैसे कहा जा रहा है? यह प्रश्न बिना सोचे-समझे ही किया जायगा। क्योंकि तनिक विचार करनेपर ही जान पड़ेगा कि प्रश्न ही निराधार है। विद्या-माया जीवकी माया नहीं है। जीव उसको बनाने, नष्ट करने, त्यागनेमें स्वतन्त्र नहीं और न जीवका उससे बन्धन ही है। वह तो ईश्वरकी माया—उनकी लीला-शक्ति है। वह ज्ञानीमें नहीं है, या है, यह प्रश्न ही ठीक नहीं। जो जीवकी चीज नहीं, वह जीवमें न रहे, यह काम जीव कैसे करेगा। अतः ज्ञानीके सम्बन्धमें उस विद्या-मायाके निषेधकी कोई बात ही नहीं है। 'जहँ एकउ नाहीं', जिसमें एक भी माया न हो—यहाँ अविद्या मायाके ही न होनेकी बात है। जिसमें मैं, मेरा, तू, तेरा इस प्रकारकी एक भी अविद्या नहीं है, और जो सबमें समान रूपसे एक ब्रह्मको ही देखता है, वह ज्ञानी है। यही इस अर्थका भी तात्पर्य है। इस प्रकार दोनों अर्थोंका तात्पर्य एक ही निकलता है।

'मैं मेरा और तू तेरा' यह एक भी जहाँ नहीं है, वह ज्ञानी है। यह परिभाषा अधूरी है और 'जो सबमें समान रूपसे ब्रह्म देखता है वह ज्ञानी है। यह परिभाषा भी अधूरी है। इसीलिये प्रभुने दोनों लक्षण एक साथ बताये हैं। जिसमें मैं-मेरा, तू-तेराका अहंकार न हो और जो सब कहीं समान रूपसे एक ब्रह्म-व्यापक चेतन सत्ताको देखे वह ज्ञानी है।

घोर निद्रामें मेरा-तू और तेरा के भाव नहीं रहते, किन्तु 'मैं' का बोध रहता है, किन्तु मूर्छामें चाहे वह आघात जन्य मूर्छा हो, औषधिजन्य मूर्छा हो या मेस्मराइज्म आदिसे प्राप्त मूर्छा हो—उसमें 'मैं' का भाव भी नहीं रहता। पत्थर, वृक्षादिमें भी यह 'अहं' की बोध वृत्ति प्रसुप्त रहती है। लेकिन तमोगुणसे अभिभवकी यह दशा तो ज्ञान नहीं है। ज्ञानीमें तो बोधवृत्ति जागृत रहती है।

सबमें समान रूपसे ब्रह्म देखना भी ज्ञान नहीं है। बुद्धिसे—विचारसे यह समझ लिया कि सबमें एक समान ही चेतनासत्ता व्यापक है, तो केवल यह बौद्धिक ज्ञान ज्ञान नहीं कहा जायगा और न यह मुक्ति दे सकेगा। यदि अहंकार बना है, यदि शरीरमें, नाममें, शरीरसे सम्बन्धित पदार्थों

एवं व्यक्तियोंमें आसक्ति बनी है, यदि अहंता और ममता है तो कितना भी बौद्धिक ज्ञान हो, है वह अज्ञानी ही। क्योंकि 'मैं अरु मोर तोर तैं माया, के वशमें ही वह है। उलटे ऐसा बौद्धिक ज्ञान 'मैं मन नहीं', मन शरीर नहीं, शरीर एवं मनके कार्य मेरे नहीं, इस कुतर्कमें उलझा कर पापाचरण, असद् व्यवहारमें लगा देता है और नरकका हेतु बन जाता है। ऐसे बौद्धिक ज्ञानके लिये ही श्रीकागभुशुण्डिजी ने कहा—

'ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥

—उत्तर० ९९

ज्ञानी वह है जिसके मनमें, हृदयमें और बुद्धिमें भी सर्वत्र एक निर्विकार चेतन-सत्ता प्रतिष्ठित हो। यह प्रतिष्ठा है, इसका पहला लक्षण यह है कि उसमें 'मैं अरु मोर तोर तैं' यह माया—यह अभिमान नहीं है। इसके साथ दूसरा लक्षण यह है कि वह सबमें सर्वत्र एक ही चेतन सत्ताको व्यापक देखता है।

बुद्धिमें निर्विकार एक रस चेतन सत्ताकी प्रतिष्ठा, सबमें सर्वत्र उसे एक रस व्याप्त देखना और हृदयमें सर्वथा अहंता, ममताका सर्वथा अभाव—यही ज्ञानका स्वरूप है।

[६]

कहिअ तात सो परम बिरागी।
तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

अर० १४।८

हे भाई! उसे परम विरक्त कहना चाहिये जो सिद्धियों और तीनों गुणोंको तृणके समान त्याग चुका हो।

जैसे ज्ञानका सीधे निर्देश सम्भव न होनेसे प्रभुने ज्ञानीके लक्षण बतलाकर ज्ञानका निर्देश किया, वैसे ही वैराग्य भी वृत्ति-रूप होनेसे उसका सीधे निर्देश शक्य नहीं है। इसीलिये 'बिरागी' का वर्णन करके वैराग्य सूचित कर रहे हैं। श्रीलक्ष्मणजीने प्रश्नमें तो 'कहहु ग्यान बिराग' यही पूछा था! लेकिन प्रभुने ज्ञानी और वैराग्यवानका वर्णन करके ज्ञान तथा

वैराग्यको समझाया है। जिनको इससे पहिली 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं' अर्धालीमें ज्ञानीका वर्णन निकलना खटकता है, उन्हें उसके बादकी ही इस अर्धालीको देखकर अपना सन्तोष कर लेनेमें बाधा नहीं होनी चाहिये।

प्रभुने उसे परम वैराग्यवान कहने योग्य बताया जो सिद्धियों और तीनों गुणोंको तृणके समान छोड़ चुका है। यह परम वैराग्य ही समझने योग्य है। वैराग्यकी निम्न श्रेणियाँ हो सकती हैं—

१—लौकिक भोगोंकी प्राप्तिके लिये त्याग तथा तप आदि अपनाना।

२—सिद्धियों तथा स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिके लिये त्याग करना।

३—सिद्धि तथा स्वर्गादि लोकोंकी कामना भी न करके केवल मुक्तिके लिये त्याग करना।

४—भोग और मोक्ष दोनोंसे निरपेक्ष हो जाना।

इनमेंसे प्रथम नम्बरका त्याग तो त्याग ही नहीं है। वह तो व्यापार है। किसान भी अधिक अन्न उत्पन्न होनेकी आशामें खेतमें बीज डाल देता है यह कोई त्याग नहीं है। जहां अधिक लौकिक भोग पानेके लिये त्याग किया जाता है, वहाँ हृदयमें आसक्ति होती है। आसक्ति बनी है तो त्याग कैसा।

दूसरे नम्बरका त्याग भी त्याग नहीं है। हिरण्यकशिपुने इतनी उग्र तपस्या की कि उसके शरीरमें हड्डियोंको छोड़कर चमड़ा और स्नायु भी नहीं बचे थे। रावणने अपने मस्तक काट कर ही हवन कर दिये किन्तु वे त्यागी नहीं कहलाये। आसक्ति लौकिक हो या पारलौकिक—है वह आसक्ति ही।

मुक्तिकी कामना कामना नहीं है। क्योंकि समस्त कामनाओंका समूल नाश करनेवाली ही वह है। कामनाका अर्थ है कुछ चाहना—शरीर या मनकी तृप्तिके लिये कोई इच्छा करना किन्तु शरीर एवं मनको ही समाप्त कर देनेकी इच्छा तो सामान्य इच्छासे सर्वथा भिन्न है। उसे इच्छा—कामना नहीं कहा जाता। इसलिए मोक्षकी इच्छासे इस लोक तथा परलोक दोनोंमें भोगोंसे सर्वथा निस्पृह हो जाना वैराग्य कहा जाता है।

भोगार्थी और मोक्षार्थी दोनों, ही संसारमें मिलते हैं किन्तु भोग एवं मोक्षसे सर्वथा निस्पृह व्यक्ति मिलना कठिन है। ऐसे निस्पृह तो भगवद्भक्त ही हो सकते हैं। 'सरग नरक अपवरग समाना। जहँ तहँ दीख धरे धनुबाना' ऐसे स्वर्ग, नर्क तथा अपवर्गको समान माननेवाले महाभाग ही 'परम बिरागी' कहे जा सकते हैं।

मुख्य सिद्धियाँ अठारह हैं और उनमें भी आठ प्रधान हैं। वे आठ हैं। १—अणिमा, २—महिमा ३—मूर्ति ४—लघिमा ५—प्राप्ति ६—प्राकाम्य ७—ईशित्व और ८—वशित्व। शेष दस ये हैं—१—वार्धक्य विजय २—दूरश्रवण एवं दूर दर्शन ३—मनके अनुसार गति ४—काम रूपता ५—परकाय प्रवेश ६—इच्छा मृत्यु ७—देवताओंकी क्रीड़ा देखना ८—संकल्प सिद्धि ९—अप्रतिहत आज्ञा १०—त्रिकालज्ञान।

इनके अतिरिक्त भी कुछ सामान्य सिद्धियाँ मानी गई हैं, जैसे १—द्वन्दानुभव न होना २—परचित्तज्ञान ३—अग्नि, सूर्य, जल, विष आदिका स्तम्भन और उनपर विजय पाना। इन सिद्धियोंकी व्याख्या करनेका यह स्थान नहीं है। जन्मसे, औषधिसे, तपस्यासे या मन्त्रसे ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

जो वैराग्यवान है, उसमें त्याग तो है ही, इसलिये तपस्या उसका स्वभाव है। वह तपस्या करता नहीं, उससे सहज ही तप होता है। इसलिये उसे सिद्धियोंके मिलनेकी सम्भावना तो है ही। इसीसे प्रभु यहाँ कहते हैं कि 'परमबिरागी' वह है जिसने सिद्धियोंको तृणके समान त्याग दिया हो। त्याग वही सकता है जो पा चुका हो या पा सकता हो। जब कोई थोड़े-से धन, थोड़ी-सी भूमि या सुयशके लिये लालायित रहते हुए—प्रयत्न शील रहते हुए कहता है 'मुझे सिद्धियों या स्वर्गकी कामना नहीं है' तो यह उसका त्याग नहीं होता। उसका मन अभी इस योग्य नहीं कि सिद्धि या स्वर्गके वैभवका स्वप्न देख सके। उसकी बात तो उस भिखारीकी बातके समान है जो मार्गमें पैसा-पैसा माँगता है और कहता है—'मुझे राज्य नहीं लेना, मुझे लाख-दो लाख नहीं चाहिये।' राज्य या लाख 'दो लाख मिलनेकी सम्भावना ही उसके मनमें नहीं जगी, वह तो मनका भी कंगाल है और कंगालका त्याग त्याग नहीं है। त्याग तो सम्पन्नके द्वारा

होता है। जो सिद्धि पा सकता हो और फिर भी उसे तृणके समान तुच्छ मान त्याग दे—उसने सिद्धिका त्याग किया।

सिद्धियोंके त्यागकी बात तो ठीक किन्तु 'तीनिगुन त्यागी' कैसा? तमोगुणका कार्य है स्थूलत्व। सत्ता मात्र तमोगुणके आधारपर है। तमो- गुण न हो तो शरीरका एक अणु भी नहीं रहेगा। निद्रा तो तमोगुणका धर्म है ही। रजोगुणका धर्म है गति। शरीरमें रक्तकी, श्वासकी और स्वयं शरीरकी क्रिया भी रजोगुणसे प्रेरित है। सत्वगुणका कार्य है प्रकाश। ज्ञान एवं आनन्द उसके धर्म हैं। कोई शरीरधारी शरीर रहते इन तीनों गुणोंको कैसे त्याग देगा। शरीर ही त्रिगुणात्मक है और पूरा विश्व त्रिगुण- मय है। इनका त्याग तो सम्भव नही है।

'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥' गीता १४।२२

गीतामें भगवान्‌ने त्रिगुणोंके त्यागका यह रूप बतलाया है। प्रकाश ज्ञान और आनन्द—सत्वगुणके कार्य, प्रवृत्ति—रजोगुणके कार्य और मोह— तमोगुणका कार्य—ये आवें तो इनसे द्वेष नहीं करता और चले जायें तो इनकी इच्छा नहीं करता। इस प्रकार तीनों गुणोंके कार्यसे ज्ञानी या सच्चा विरक्त निरपेक्ष रहता है।

तमोगुणके सुख-भोग जो निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा तामसिक पदार्थोंके सेवनसे प्राप्त होते हैं, रजोगुणके भोग जो कर्मके द्वारा इस लोक या स्वर्गादिमें मिलते हैं, सत्वगुणके सुखभोग जो इस लोकमें धर्माचरणसे आन्तरिक तुष्टके रूपमें तथा स्वर्ग एवं ब्रह्मादि लोकोंमें प्राप्त होते हैं—इन सबको तृणके समान तुच्छ मानकर जिसने त्याग दिया, जो इनसे सर्वथा निरपेक्ष हो गया, वही परम वैराग्यवान है। इस प्रकार तीनों गुणोंके स्वरूपतः त्याग असम्भव होनेके कारण उनके भोगोंके त्यागकी बात कही गयी—यह समझना चाहिये।

[७]

माया ईस न आपु कहुँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर, माया प्रेरक सीव॥ अर० १५

जो मायाको, ईश्वरको और अपने आपको भी न जानता हो, उसे जीव कहा जाता है। और जो बन्धन तथा मोक्षका देनेवाला, सबसे परे तथा मायाका प्रेरक है, वह ईश्वर है।

अथवा जो अपनेको मायाका स्वामी न समझे वह जीव है और जो मायाका प्रेरक (होनेके कारण) बन्धन तथा मोक्षका दाता है (और यह होते हुए भी) सबसे परे है, वह ईश्वर है।

अथवा जो मायाके स्वामीको और अपनेको न जाने वह जीव कहलाता है और बन्धन तथा मोक्ष देनेवाला, सबसे परे तथा मायाका प्रेरक ईश्वर है।

पहिला अर्थ विशिष्टाद्वैत मतके अनुसार है, दूसरा अद्वैतमतके अनुसार और तीसरा द्वैतमतके अनुसार। एक दोहेमें ही सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र बता देनेका यह अद्भुत नमूना है। इतनी संक्षिप्त रीतिसे समस्त दर्शनोंको एक साथ कदाचित ही कहीं कहा गया हो। उपरोक्त तीन अर्थोंके अतिरिक्त और भी कई प्रकारके अर्थ अपने-अपने मतके अनुसार इस दोहेके किये जाते हैं।

मायाको, ईश्वरको और अपने आपको जो न जानता हो उसे जीव कहना चाहिये। इस परिभाषामें यह प्रश्न उठेगा कि जो मायाको, ईश्वरको और अपने आपको जान ले—विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके दार्शनिक ग्रंथोंका अध्ययन करके यह समझ ले कि 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी,' अथवा 'जीव अनेक एक श्रीकंता' और माया भी जगदीश्वरकी माया है, वह क्या जीव नहीं रह जायगा? इस ज्ञानके द्वारा ही उसका जीवत्व समाप्त हो जायगा? लेकिन विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय तो जीवको नित्य मानता है। जीवका जीवत्व इस मतमें कभी समाप्त नहीं होता। वह भगवद्भक्ति करके भगवद्धाम पा सकता है। इस मतमें भी जीवको ज्ञान तो होता है। ज्ञानी जीव अपने स्वरूप, मायाके स्वरूप तथा आराध्यके स्वरूपको जानता है। श्रीरामानुजाचार्य अर्थ पञ्चकका ज्ञान, आवश्यक बतलाते हैं। अर्थ पंचक है १—परस्वरूप (आराध्य स्वरूप) ज्ञान, २—स्वस्वरूप (जीवके अपने स्वरूपका अर्थात् प्रभु अंशी है और हम अंश यह) ज्ञान, ३—विरोधी (माया) स्वरूप ज्ञान, ४—उपाय (साधन) स्वरूप ज्ञान, ५—फल (भगवत सान्निध्य प्राप्ति) स्वरूप ज्ञान। इस अर्थ पंचकके ज्ञानसे जीव उपासनामें

लग कर भगवद्धाम प्राप्त करता है। लेकिन उसका जीवत्व तो नित्य है। यहाँ श्रीराघवेन्द्र कह रहे हैं कि अज्ञान ही जीवका जीवत्व है। इसलिये विशिष्टाद्वैत मतके अनुसार इस दोहेका अर्थ करना उपयुक्त नहीं लगता।

जो मायाके स्वामी और अपनेको न जाने उसे जीव कहना चाहिये। यह जो द्वैतमतके अनुसार तीसरा अर्थ है, उसमें भी यही बाधा है कि द्वैत-मत भी जीवको नित्य मानता है, किन्तु जीवके अज्ञानको नित्य नहीं मानता। अपने स्वरूप (जीव भगवान्का दास है, इस रूप) तथा मायाके स्वामी परमात्माके ज्ञानसे ही यह मत भी उपासनाका प्रारम्भ मानता है। लेकिन दोहेमें तो जीवका जीवत्व ही अज्ञानमय बताया गया है। इस-लिये द्वैतमतके अनुसार भी इस दोहेका अर्थ करना उपयुक्त नहीं लगता।

जो अपनेको मायाका स्वामी न समझे उसे जीव कहना चाहिये। यह दूसरे नम्बरका अर्थ अद्वैतवादके अनुसार है। अद्वैत मतमें तो जीवका जीवत्व अज्ञानमय ही मानते हैं। जीव जब समझ लेता है कि वह शरीरमें ही परिच्छिन्न नहीं है वह व्यापक चेतन है, माया अज्ञान रूपिणी है, जड़ा-त्मक है और वह उसे बांधे है, यह केवल भ्रम है, तब जीव जीव नहीं रह जाता। वह तो व्यापक चेतनमें परमतत्वमें एक हो जाता है श्रीराम-चरीतमानसमें यह बात स्पष्ट आई है—जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई। जो भगवत्स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह उनसे एक हो जाता है।

'न जान कहिअ सो जीव' यह बात बहुत ध्यान देनेकी है। 'माया ईस आपु कँह' का आप कोई अन्वय करें किन्तु यह तो मानना पड़ेगा कि कभी न कभी उनका ज्ञान होता है और जब उनका ज्ञान होगा जीव जीव नहीं रहेगा क्योंकि उनको न जाननेसे ही जीव-जीव कहलाता है यह बात प्रभु कह रहे हैं। जिन दार्शनिक मतोंमें जीव नित्य है उनके अनुसार इस दोहेका अर्थ करना कहाँ तक ठीक है यह बात विचारणीय है।

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी' 'जीव अनेक एक श्रीकंता' जैसे अनेक वाक्य श्रीरामचरितमानसमें हैं और वे जीवके अनेकत्वके प्रतिपादक हैं इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार 'मुधा भेद जद्यपि कृत माया। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई' आदि वाक्य भी हैं जो यह भी स्पष्ट करते हैं कि जीवका अनेकत्व नित्य नहीं है यह अनेकत्व-भेद मायिक है।

लेकिन श्रीरामचरितमानसकी वह 'मुधा भेद' को मायाकृत मान क मानता है। 'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।' 'सो माया भगवा समुझे मिथ्या सोपि' का अद्वैत सिद्धान्त मानकर भी मानसका कह 'छूट न राम कृपा बिनु।'

शास्त्रोंको सम्प्रदाय निरपेक्ष होकर देखें तो यह जान पड़ता है जीवका जीवत्व नित्य नहीं है किन्तु नित्य हो सकता है। अद्वैत मत कैवल्य मुक्ति मानता ही और 'सो कैवल्य परमपद लहई' इससे मानस भी वह स्वीकार है परन्तु भक्ति-मार्गके आचार्य भी चार प्रकारके मोक्ष एक सायुज्य मानते हैं। सायुज्यमें जीव आराध्यमें एक हो जाता है उस पृथक सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकारसे जीवका जीवत्व नित्य न रहता। लेकिन उपासनाके द्वारा जीव जब सालोक्य, सारूप्य या सामी मोक्ष पाता है तो भगवत्कृपासे उसका जीवत्व एवं उसका परिकर नित्य हो जाता है। शास्त्रोंमें तथा श्रीरामचरितमानसमें भी सालोक्या मुक्तियोंका उल्लेख है ही। जीवका जीवत्व दो प्रकार सामप्त होता है ए तो अहं ब्रह्मास्मि आदि अपरोक्षानुभवसे और दूसरे भगवत्कृपा से।

'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती—यह श्रुतिक घोषणा है। लेकिन ज्ञानके भी दो रूप हैं और श्रुति यह नहीं मना करत कि उनमेंसे एक ही ज्ञान मुक्तिका हेतु है, दूसरा नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि अद्वैतमतके अनुसार यह ज्ञान अर्थात् मैं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, प्रकृति आदिसे परे व्यापक चेतन हूँ, 'नेह नानास्ति किंचन' यह कोई कुछ भी नानात्व नहीं है, मैं ही सर्व स्वरूप हूँ—मुझसे भिन्न कुछ नही है—यह केवल बौद्धिक नहीं, अपरोक्षानुभव रूपमें प्राप्तज्ञान कैवल्य मोक्ष-का कारण है। दूसरा ज्ञान है स्वरूप ज्ञान। अर्थात् जीवके अपने 'स्वस्वरूप' का अपरोक्षानुभव और यह अनुभव सायुज्य मोक्ष देता है।

जीवका स्वस्वरुप ज्ञान क्या? अद्वैत वेदान्तीको तो 'स्वस्वरूप' शब्द सुनते ही ब्रह्मके स्वप्न दीखने लगते हैं, किन्तु भक्ति-मार्गके अनुगामी भी कदाचित इस शब्दसे चौंकें। बात यह है कि यह जगत और जगतका यह अपार नानात्व कहांसे आया? इस प्रश्नका उत्तर तो देना ही चाहिये। नानात्वकी प्रतीति अज्ञानसे है, यह कह देना तो सरल है, किन्तु यह सोचने-की बात है कि एक ही ज्ञान स्वरूप नित्य ब्रह्म जब सत्य है तो अज्ञान

किसे ? दूसरी बात यह कि अज्ञान अन्धकारधर्मा है, उसका स्वभाव अभेद दिखलाना है, भेद दिखलाना नहीं है। जो अनपढ़ है उसके लिये अक्षर एकसे, जो स्वरोंका ज्ञाता नहीं, उसके लिये सब राग समान। अक्षरों तथा रागोंके भेदका ज्ञान उनके जानकारको ही होता है। रात्रिका अन्धकार सारे रूप भेदको एकाकार कर देता है, भेदका ज्ञान तो प्रकाश कराता है। इसलिये जगतके इन नाना रूपों, असंख्य भेदोंको अज्ञानका भ्रम कहना ठीक नहीं है। ये नानात्व यद्यपि इस रूपमें मिथ्या हैं, भ्रम हैं, किन्तु उनका एक सत्य आधार है। वह आधार है भगवान्‌का नित्यधाम। भगवान्‌के नित्यधाममें तरु हैं, लताएँ हैं, सरोवर हैं, सरिताएँ हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, नर-नारी पार्षद हैं। वे चिन्मय हैं, नित्य हैं। उनकी ही प्रतिच्छाया मायिक जगतमें इन नाना रूपोंमें प्रतिभासित है। प्रतिबिम्ब या छाया सत्य नहीं वह तो मिथ्या है ही, अतः शास्त्र जगतको मिथ्या कहता है तो चौंकनेकी कोई बात नहीं। लेकिन इस मिथ्याका एक आधार है और वह सत्य है, शाश्वत है, चिन्मय है।

इतनी बात समझमें आ जाय तो यह भी समझमें आ जायगा कि जगतके प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणीका नित्य भगवद्धामके किसी पदार्थ या प्राणीसे सम्बन्ध है। जगतका प्राणी या पदार्थ नित्यधामके प्राणी या पदार्थकी छायामात्र है। अतः इस छायाका स्वस्वरूप वह है जो नित्य भगवद्धाममें है। अपने उस स्वस्वरूपका ज्ञान होनेपर जीव उस नित्य स्वरूपमें एक हो जाता है।

कोई अपनेको मान ले मैं अमुक सखी, अमुक अली या अमुक पार्षद हूँ—यह मानना ज्ञान नहीं है। वैसे तो आज अपनेको श्रीजानकीजी और श्रीराधाकी सखियाँ माननेवालोंकी संख्या बहुत बड़ी है। लोग तो अपनेको श्रीजानकी और श्रीराधाका ही अवतार मानते हैं। इससे भी आगे बढ़कर दर्जनों ऐसे भी हैं जो अपनेको—कल्कि अवतार या श्रीकृष्णका अवतार घोषित करते हैं। यह सब या तो दम्भ है या बुद्धिका उन्माद। यदि ये दोनों बातें हों तो ऐसी मान्यता उपासनाका एक साधन होती है; किन्तु मान्यता तो मान्यता है, वह न सत्य है, न ज्ञान।

स्कन्दपुराणमें श्रीमद्भागवतका माहात्म्य है। उसमें यह कथा है कि श्रीकृष्णचन्द्रके परमधाम चले जानेपर वज्रनाभ बची-खुची श्रीकृष्ण-

वज्रकी रानियोंके साथ हस्तिनापुर अर्जुन द्वारा पहुँचाये गये और पाण्डवोंके महाप्रस्थान कर जानेपर परीक्षितके साथ मथुरा आये। वहाँ उन्हें उद्धवके दर्शन हुए। उद्धवजीने उनको श्रीमद्भागवत सुनाया। अंतमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रगट हुए। वज्रनाभने देख लिया कि श्रीनन्दनन्दनके दाहिने चरणमें जो वज्रका चिह्न है वही उनका 'स्वस्वरूप' है। रानियोंको भी अपने-अपने 'स्वस्वरूप' के दर्शन हुए। इसके बाद सांसारिक लोगोंके लिये तो तुरन्त वज्रनाभ तथा वे रानियाँ अदृश्य हो गईं। क्योंकि 'स्वस्वरूप' का दर्शन और उससे सायुज्यएकत्व यह दोनों क्रिया साथ-साथ सम्पन्न हो गईं।

'स्वस्वरूप' का अपरोक्ष साक्षात्कारका अर्थ है भगवत्कृपासे भगवद-दर्शन करके यह प्रत्यक्ष देख लेना कि भगवान्के नित्यधाममें अपना क्या स्वरूप है। इस 'स्वस्वरूप दर्शन' के बाद वज्रनाभकी भांति सभी तत्काल अदृश्य हो जायें, यह आवश्यक नहीं है। प्रारब्धशेष हो तो वे संसारमें रह सकते हैं। वज्रनाभ तो थे ही भगवत्पार्षद। लेकिन भक्ति-मार्गका सच्चा ज्ञान यही है। और इस ज्ञानके बिना जीव मायाके बन्धनसे मुक्त नहीं होता। 'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः' समझनेके लिये यह समझ लेना बहुत आवश्यक है।

इसलिए दोहेका अर्थ दोनों प्रकारसे करना उपयुक्त प्रतीत होता है—'अपनेको जो मायाका स्वामी न समझे उसे जीव कहना चाहिये' यह अर्थ केवल ज्ञानसे जीवके जीवत्वकी समाप्ति मानकर मोक्ष सूचित करता है और 'मायाको, ईश्वरको तथा अपनेको न जाने उसे जीव कहना चाहिये।' यह अर्थ भगवान्को, भगवान्की नित्य लीलाको और उस नित्य लीलामें अपने नित्य रूपके ज्ञानको जानकर जीवके जीवत्वकी समाप्ति सायुज्य मोक्षके रूपमें सूचित करता है। तीसरा अर्थ या और जो भी अर्थ भक्ति परम्पराको मानकर किये जायेंगे, सभी इस सायुज्य मोक्षके सूचक ही बनेंगे। लेकिन जीवकी नित्य सत्ता मानकर कोई सिद्धान्त इस दोहेसे समर्थित हो, यह कठिन ही है।

दोहेके दूसरे चरणके अर्थ सभी एक ही प्रकारसे करते हैं—'बन्धन और मोक्षका दाता, सबसे परे और मायाका प्रेरक ईश्वर है। ईश्वर माया-

का प्रेरक है अतः बन्धन तथा मोक्ष दोनोंका दाता है और यह करते हुए भी वह सबसे परे है। किसीसे लिप्त या परिछिन्न नहीं है।

'जेहि बांध्यो सुर असुर नाग नर, प्रबल कर्मकी डोरी।'

ईश्वर बन्धन-प्रद है, उसीने समस्त सुर, असुर, नाग-नरको कर्मकी प्रबल डोरीसे बांधा है यह बात विचारणीय है। क्योंकि श्रुति-शास्त्र सृष्टिको, मायाको अनादि कहते हैं। जीवका बन्धन अनादि है। भगवान् किसी को बन्धनमें डालते नहीं। तब उन्हें बन्धन-प्रद कहा क्यों गया? केवल इसलिए कि जीवको कर्मफल पानेका विधान करते हैं। 'जो जस करइ सो तस फल चाखा।' यह विधान उनके अनुशासनमें चलता रहा है। कर्मचक्रके वे ही परम संचालक है।

ईश्वर मोक्षप्रद हैं—यह तो सोचने समझनेकी बात ही नहीं। अद्वैतवादके आद्याचार्य श्रीशंकराचार्यजी भी मानते हैं कि 'ईश्वरानुग्रहादेव पुमान द्वैत वासना।' व्यक्तिमें अद्वैतका निश्चय भगवदनुकम्पासे ही होता है।

'सो जानइ जेहि देहि जनाई।'
'मुधा भेद जद्यपि कृत माया।'
बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥'
'रामचन्द्रके भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिखान॥

श्रीरामचरितमानसकी यह घोषणा तो गीतामें भी भगवान् दुहरा रहे हैं—

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।' ७।१४

उन सर्वाधार प्रभुकी शरणागतिके बिना मोक्ष मिलता नहीं। क्योंकि वे मायाके प्रेरक हैं। वही मायाका संचालन करते हैं—

'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव............॥

लेकिन मायाके प्रेरक होकर और बन्धनके नियन्ता तथा मोक्षके

दाता होकर भी वे 'सर्वपर' सबसे परे-सबसे श्रेष्ठ हैं। वे 'प्रकृति प्रभु' हैं।

इस प्रकार यहाँ तक 'थोरेहि महँ'—सूत्र रूपसे प्रभुने माया, और वैराग्यका निरूपण कर दिया। जीव तथा ईश्वरका स्वरूप समझा ज्ञानके द्विविध स्वरूपका भी अद्‌भुत ढंगसे संकेत कर दिया।

[८]

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥ अर० १५

धर्माचरणसे वैराग्य होता है और योगसे ज्ञान होता है। ज्ञान मो दाता है, यह वेदोंने वर्णन किया है।

धर्मसे वैराग्य कैसे होता है, इस विषयमें उत्तरकाण्ड ज्ञान दीपक ये पंक्तियाँ देखना चाहिये—

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै॥
मुदिताँ मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥

उत्तर—११६।९-१६

योगसे ज्ञान कैसे होता है, इस विषयमें भी ज्ञान दीपकका यही प्रसंग आगे देखना चाहिये—

जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत, ममता मल जरि जाइ॥
तब बिग्यानरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़, समता दिअटि बनाइ॥

तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करै सुगाढ़ि॥
एहि बिधि लेसै दीप, तेज रासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब॥
उत्तर० ११७ क-ख

श्रीरामचरितमानसके द्वारा ही ऊपर दी हुई अर्धालीकी सम्पूर्ण व्याख्या हो जाती है।

मनुष्यके चार पुरुषार्थ शास्त्रने बताये हैं, अर्थात् व्यक्ति अपने पूरे श्रमसे चारमें-से ही किसी न किसी बातको पाना चाहता है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारोंमें भी अर्थ जिनके पुरुषार्थ हो ऐसे थोड़े ही लोग होते हैं। धन एकत्र करनेके लिये ही जो कमाते हैं, ऐसे कृपण और जो धर्माचरणके लिये ही धर्माचरण करते हैं, ऐसे उदार पुरुष बहुत नहीं होते। धनका उपार्जन होता है धर्म करने या सुखोपभोगके लिये। इस प्रकार अर्थ स्वयं पुरुषार्थ न रहकर धर्म या काम-पुरुषार्थका साधन बन जाता है। धर्माचरण भी या तो इस लोक या परलोकमें (स्वर्गादिमें) सुख पानेके लिये किया जाता है या मोक्षके लिये। ऐसी अवस्थामें धर्म भी स्वयं पुरुषार्थ न रहकर काम-पुरुषार्थ या मोक्ष-पुरुषार्थका साधन बन जाता है।

'धर्म तें बिरति' इसमें यह नहीं कहा जा रहा है कि कोई लौकिक सुख या स्वर्गादि पानेके लिये धर्माचरण करेगा तो उसे वैराग्य प्राप्त होगा। उसका धर्माचरण तो स्वतन्त्र धर्माचरण ही नहीं है। उसने तो धर्मको कामना पूर्तिका साधन माना—बनाया है। 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः' जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो, वह धर्म है। इसलिये सकाम भावसे धर्माचरण करनेवालेका उद्देश्य तो पूरा होगा, किन्तु वह धर्मपुरुषार्थ मान कर चलने वाला नहीं है।

'धर्म तें बिरति' इसमें धर्माचरणकी स्वतन्त्र महत्ता है जो कर्त्तव्य समझकर धर्माचरण करता है धर्म ही जिसका पुरुषार्थ—परम प्राप्तव्य है, जिसे अपने धर्माचरणके बदलेमें लोक या परलोकमें कुछ चाहिये नहीं, धर्माचरणमें जिसकी स्वाभाविक रुचि है, उसका चित्त धर्मका आचरण

करते-करते निर्मल हो जाता है। उसमें रही-सही कामनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। इस लोक तथा स्वर्गादि लोकोंमें जितने भोग हैं, उन सबसे उसे वैराग्य हो जाता है। 'प्रबटै अनल अकाम बनाई' में यही निष्काम धर्माचरण सूचित किया गया है।

'योग तें ज्ञाना' इसमें योगका क्या अर्थ ? भक्तियोग तो यहां योगका अर्थ है नहीं, क्योंकि प्रभु आगे ही भक्तिका विस्तारसे वर्णन करेंगे और वहां यह भी कहेंगे कि भक्ति स्वतन्त्र है। हठयोग, लययोग आदिके द्वारा समाधिकी प्राप्ति तो होती है, किन्तु उन्हें ज्ञानका साधन कहा नहीं जाता। इसलिये यहां 'योग' शब्द राजयोग—तत्त्वविचारका ग्रहण ही उपयुक्त है।

'योग चित्तवृत्ति निरोधः'—योगदर्शन

चित्तकी वृत्तियोंका सम्यक् निरोध योग है। महर्षि पतञ्जलिने अनेक साधन योगदर्शनमें इसके लिये बतलाये हैं। बात यह है कि प्रत्येक आध्यात्मिक साधन अन्तर्मुखताका सन्देश देता है। हृदयके अन्तरतम प्रदेशमें ही जीव सर्वव्यापी सच्चिदानन्द स्वरूप व्यापक सत्ताका अनुभव कर सकता है। जीवात्मा और परमात्माका यह मिलन ही योग है। लेकिन संसारके बाहरी विषयोंमें आसक्त होनेके कारण चित्तमें तीन दोष आ गये हैं—१—मल २—विक्षेप और ३—आवरण। जन्म-जन्मान्तरके पाप कर्मोंके अशुभ संस्कारोंके कारण चित्त भगवान्‌की ओर प्रवृत्त नहीं होता। शास्त्रमें श्रद्धा, भगवच्चर्चामें रुचि न होना तथा सांसारिक विषयोंको पानेकी कामना होना—यही चित्तका मल है। धर्माचरणसे यह मल नष्ट होता है, तब विषयोंसे वैराग्य हो जाता है। चित्तका एक स्थानपर स्थिर न रहना, क्षण-क्षणपर मनका इधर-उधर घूमते रहना—यही चंचलता विक्षेप दोष है। इस चंचलताको दूर करने—चित्त-वृत्तिके निरोधको ही योग कहते हैं। ध्यानसे तथा तत्त्व चिन्तनसे—श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे यह चंचलता दूर होती है। जब चित्त निर्मल होता है और एकाग्र हो जाता है, तब अन्तर्यामी परमात्माका उसमें प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। इसीको कहते हैं आवरण दोषका नाश। यही ज्ञान या अपरोक्षानुभूति है। इस प्रकार चित्तकी एकाग्रता रूप योगकी प्राप्ति होनेपर ज्ञान होता है।

मर्यादा पुरुषोत्तमसे लक्ष्मणजीने केवल ज्ञान और वैराग्यका स्वरूप
ा था, किन्तु प्रभुने स्वयं कृपा करके 'थोरेहि महँ' उनकी प्राप्तिके
धन भी बतला दिये।

[६]

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना।
तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥ अर० १५।२-३

हे भाई जिससे मैं शीघ्र द्रवित होता हूँ वह (साधन) तो मेरे भक्तों-
सुख देनेवाली भक्ति है। वह (भक्ति) स्वतन्त्र है, उसे किसी दूसरेका
ारा नहीं (दूसरे साधनोंसे वह साध्य नहीं होती) ज्ञान और विज्ञान
ीके आधीन हैं।

श्रीलक्ष्मणजीने पूछा था 'कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।' इसका
र श्रीराघवेन्द्र समझा कर विस्तारसे दे रहे हैं। 'बुझाई' कहनेकी जो
ा उन्होंने प्रारम्भमें कहा था उसे अब सार्थक कर रहे हैं। भाई सम्बोधन
र प्रभु यह तो सूचित ही करते हैं कि 'तुम मुझे प्रिय हो इसलिये यह
ा कह रहा हूँ' साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि 'यह मुझे बहुत प्रिय
अतः इसे सावधानीसे सुनो। इस भक्तिसे मैं शीघ्र द्रवित होता हूँ।'

'बेगि द्रवउँ' में कितना शीघ्र? यह आप पूछते हों तो उसका
र है तत्काल—उसी क्षण। प्रभुने स्वयं कहा है—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।'
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

यह मेरा व्रत है कि जो एक बार भी शरणमें आकर कह देता है
ो मैं तुम्हारा हूँ उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ।'

'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥' सुन्दर० ४३।२

'द्रवउ' यह स्पष्ट कह रहा है कि प्रभु यहाँ सगुण-साकार भग
रूपकी उपासनाकी बात कह रहे हैं। निर्गुण-निराकारमें द्रवित होने
गुण तो सम्भव नहीं है। वे किस पर द्रवित होते हैं? जो भी भक्ति क
उसीपर। जाति-पाँतिकी तो बात पूछना व्यर्थ है—

'हरिको भजै सो हरिका होई।
जाति पाँति पूछै नहिं कोई॥'

साथ ही किसी सद्गुण-सदाचारकी पूर्व माँग भी नहीं है। गीता
स्पष्ट कहा गया है—

'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ९।३

वह भक्ति भक्तोंको सुख देनेवाली है, इसमें तो कुछ कहना नहीं है
वे तो अभागे हैं जो उस भक्तिसे वञ्चित हैं क्योंकि सृष्टिकर्ताने उनके
प्रारब्धमें सुख लिखा नहीं।

'श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥' उत्तर० १२२।१४

भगवद्भक्तिके बिना सुख मिल नहीं सकता। विषयोंके द्वारा मिलने-वाले सांसारिक सुखको कोई सुख मानले तो यह मान्यता वैसी ही है; जैसे बच्चे खेलमें मिट्टीके डलोंको मिठाइयाँ, पकवान आदि मानते हैं। 'कण्डूयनेन करयोरिव दुःख दुःखम्' दद्रुको खुजलानेके समान ये सांसारिक सुख तो केवल देखनेमें सुख जान पड़ते हैं, परिणाममें तो ये महादुख रूप ही हैं। सच्चा सुख तो आत्मसुख भगवत्स्मरण रूप सुख है जो भगवद्भक्तिसे ही मिल सकता है।

'सो सुतन्त्र अवलम्ब न आना' वह भक्ति स्वतन्त्र है, उसे दूसरे किसी साधनका सहारा नहीं है। 'धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना' इसमें जैसे बता दिया कि धर्माचरणसे वैराग्य और योग—चित्त वृत्ति निरोधसे ज्ञान होता है, वैसे ही भक्ति भी किसी साधनसे होती होगी, यह भ्रम नहीं करना चाहिये। भक्ति तो स्वतंत्र है। भक्तिके जो साधन हैं, वे भी भक्ति-के स्वरूप ही हैं। सत्संग, नाम स्मरण, कीर्तन, पूजन, ध्यान आदि साधन

रूपा भक्तिके अंग हैं और इस साधन भक्तिसे साध्य भक्ति-प्रेम रूपा भक्ति-का आविर्भाव होता है! इसीलिये आगे प्रभु 'भगतिके साधन कहौं बखानी।' कहकर भक्तिके साधनोंका वर्णन करेंगे, किन्तु यहाँ बताये रहे हैं कि भक्तिके साधन भी भक्ति—भजन रूप ही है। भक्ति स्वतन्त्र है, वह स्वयं साधन एवं साध्य रूप भी है। लेकिन ज्ञान और विज्ञान उसके वशमें है। बिना भक्तिके न ज्ञान हो सकता, न वैराग्य।

'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥'

भागवत १।२।७

भगवान् वासुदेवमें भक्ति-योग करनेपर वह वैराग्य तथा अहैतुक ज्ञानको उत्पन्न करता है।

'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥"

—भागवत ११।२।४२

जैसे भोजन करते समय भोजनके प्रत्येक ग्रासके साथ चित्तका सन्तोष, शरीरका पोषण और भूखकी निवृति ये तीनों काम एक साथ तत्काल होते हैं, वैसे ही भगवान्की शरण लेनेपर भगवान्की भक्ति, परमात्मतत्त्वका ज्ञान तथा सांसारिक विषयोंसे वैराग्य ये तीनों बातें साथ ही होती हैं।

भक्ति स्वयं स्वतन्त्र है, किन्तु ज्ञान तथा वैराग्यका वह अनिवार्य साधन है। उसके बिना न विषयोंसे पूर्ण वैराग्य हो सकता, न आत्मज्ञान ही होगा। इसीलिये पद्मपुराणमें जो श्रीमद्भागवतका माहात्म्य है, उसमें ज्ञान वैराग्यको भक्तिका पुत्र बताया गया है।

भगवद्भक्तिके बिना चित्तकी पूर्णतः शुद्धि होती नहीं है और चित्त शुद्ध हुए बिना विषयोंसे पूर्ण वैराग्य तथा आत्मतत्त्वका अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता।

'तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया॥"

—भागवत ६।२।१७

तप, दान, जप आदिसे वे पाप (जिनके प्रायश्चितके लिये तपादि किये गये हों) दूर हो जाते हैं—उन पापोंसे व्यक्ति पवित्र हो जाता है, किन्तु अधर्मको जन्म देनेवाला उसका हृदय उनसे नहीं पवित्र होता, किन्तु भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवासे वे पाप तो दूर होते ही हैं, उसका हृदय भी पवित्र हो जाता है।

यहाँ बस इतनी बात ध्यानमें रखनेकी है कि प्रभुने ज्ञान तथा विज्ञान दोनोंको भक्तिके आधीन बतलाया है। ज्ञान—आत्मतत्त्वका सामान्य बौद्धिक ज्ञान तथा विज्ञान—अपरोक्षानुभव, ये दोनों भक्तिके वशमें हैं। भक्तिके बिना अपरोक्षानुभव तो होगा ही नहीं, परोक्षज्ञान भी नहीं होगा। क्योंकि उसके लिये भी बुद्धिमें धारणा शक्ति अपेक्षित है जो उपासनासे ही उपलब्ध होती है।

[१०]

भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥ अर० १५।४

हे भाई! भक्ति अनुपम सुखकी मूल है। यदि संत अनुकूल हों तो वह प्राप्त होती है।

भक्ति अनुपम सुख-मूल है। क्योंकि किसी भी प्राणीको जितने भी प्रकारके सुखका अनुभव है वे सब सांसारिक सुख हैं। उनमें न पूर्णता है, न स्थिरता है, न निर्भयता है। उन सुखोंकी प्राप्तिमें परिश्रम है, दूसरोंसे संघर्ष है, शंका है। उनके प्राप्त होनेपर उनकी रक्षाका उद्योग तथा उनके नष्ट होनेका भय लगा रहता है, इससे उनका पूरा उपभोग हो नहीं पाता। कुछ ही समयमें वे नष्ट हो जाते हैं या नीरस हो जाते हैं। आपको कोई मिठाई बहुत प्रिय है—आपने उसे पा लिया कितनी देर का है उसका सुख? जब तक पेट न भर जाय, लेकिन यह तो भूख मिटानेकी तृप्ति है। उस मिठाईको मुखमें कुछ देर रखिये देखिये कि वह कितनी देर मीठी रह पाती है। इसी प्रकार एक सुन्दर चित्र है, आपको बड़ा आकर्षक लगता है। उसे अपने कमरेमें लगानेपर कुछ दिनोंमें ही पुराना पड़ जायगा, अनाकर्षक हो जायगा। यही दशा अन्य सांसारिक सुखोंकी है। लेकिन

भक्ति तो भगवान्को देनेवाली है। उस भगवदीय आनन्दको वह देती है जो नित्य नवीन रहता है, जिसमें कोई भय नहीं, जो प्राप्त होनेके बाद न घटता न नष्ट ही होता है।

वह भक्ति मिलती है– पायी नहीं जाती। 'मिलइ' यह स्पष्ट कर रहा है कि भक्ति साधना साध्य नहीं है, कृपा साध्य है। प्रेम जब संसारमें होता है तो उसका नाम काम पड़ जाता है और वह पतनकारी होता है, किन्तु वही प्रेम भगवानमें होनेपर भक्ति कहा जाता है और परम पद देने वाला होता है। यह हमारा आपका प्रति दिनका अनुभव है कि प्रेम होता है—हो जाता है, उसे किसी साधनसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

हमने अपने भगवान्को देखा नहीं। उनसे चाहे जितना सम्बन्ध हो किन्तु उस सम्बन्धकी हमें कोई अनुभूति नहीं। ऐसी दशामें एक अन-देखे, अनजाने, अपरिचित अपनेसे सर्वथा असम्बन्धितसे लगतेके साथ प्रेम हो कैसे? यदि साधनासे प्रेम या भक्ति प्राप्त हो सकती तो बात दूसरी थी। भगवान् महान हैं, सबके स्वामी हैं, सर्वसमर्थ हैं, दयामय हैं, आनन्द स्वरूप हैं, इसलिये उनसे प्रेम करना उत्तम है, उनसे प्रेम करनेमें परम लाभ है, यह बात तो समझमें आती है। प्रेम करना अपने वशमें होता, किसी साधनासे प्रेम उत्पन्न हो सकता तो उसके लिए प्रयत्न कदाचित किया जाता। लेकिन प्रेम तो साधनोंसे उत्पन्न नहीं होता। वह तो हृदय-की एक रागात्मक वृत्ति है जो किसीके प्रति स्वतः प्रगट हो जाती है। अनजाने, अपरचितके प्रति वह कैसे उत्पन्न होगी?

अस बिचारि जोइ कर सतसंगा।
राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥ उत्तर० ११८।१८

वह प्रेम या भक्ति तो सत्संगसे प्राप्त होती है। संतकी कृपासे ही वह प्राप्त हो सकती है, उसके पानेका दूसरा उपाय नहीं है।

सब कर फल हरि भगति सुहाई।
सो बिनु सन्त न काहू पाई॥

संतकी कृपाके बिना उसे किसीने नहीं पाया है। 'प्रभु प्रसाद कोउ पाव' यह बात 'मानस' में आई तो है, किन्तु इसे 'कोउ पाव' कहकर अप-

वाद भी बता दिया गया है और 'भगति भगत भगवंत गुरु चतुर न
एक' के द्वारा संत और भगवान्‌में अभेद भी 'मानस' ने बताया ही ‍

क्यों कहा जा रहा है कि भक्ति पानेका एक मात्र उपाय सं
या सत्संग है ? यह समझनेके लिये देखना होगा कि कहीं भी प्रेम
प्रकारसे होता है। प्रेम होनेमें इतने कारण होते हैं १—जन्म, २—स
३—साहचर्य, ४—स्वार्थ, ५—संस्कार। माताका पुत्रसे, पुत्रका माता-
से, भाई-भाई और भाई-बहिनका प्रेम जन्मसे होता है। यह प्रसिद्ध
वत है कि अपना काना लड़का भी सुन्दर लगता है सम्बन्धसे प्रेम ह
बात तो समाजमें प्रत्यक्ष है। पता नहीं किसका पुत्र और किसकी
दोनों सर्वथा अपरिचित; किन्तु सगाई होते ही दोनोंमें परस्पर प्रे
जाता है। विवाहका संस्कार मात्र होते ही कन्याका पतिसे इतना प्रे
जाता है कि पिता-माता भी उतने प्रिय नहीं रह जाते। साहचर्यसे
होना मित्रता है। बहुत दिनों तक या कुछ काल तक साथ रहनेसे
परस्पर स्वभाव मिलता हो तो एक दूसरेमें अनुराग हो जाया करता
अनेक बार हमारा किसीसे स्वार्थ रहता है, उस स्वार्थके कारण ही
उसे चाहते हैं। वस्तुत: तो वह चाह प्रेम नहीं है; किन्तु अनेक बार स
सिद्ध हो जानेपर भी प्रेम बना रहता है। पहिले भले स्वार्थवश प्रेम
चाह हुई हो, परन्तु आगे चलकर वह हृदयमें आ जाती है। उसमें स
आ जाती है। ये सब कारण न हों तो भी संस्कारवश भी प्रेम हो ज
है। किसीके सम्बन्धमें बार-बार अनुकूल बात सुनी जाय। उसीको सो
जाय तो धीरे-धीरे मन उसके अनुकूल बन जाता है। उसे चाहने लगता

भगवान्‌से हमारा जन्मका सम्बन्ध है। उनके बिना सृष्टि सम्भ
नहीं है। उनसे हमारा सम्बन्ध भी है। उन अंशीके ही सब जीव अंश है
उनसे साहचर्य तो इतना प्रगाढ़ है कि वे हृदयके भीतर ही नित्य स्थित है
हमारा ऐसा कोई स्वार्थ नहीं कि जो उनकी कृपाके बिना सिद्ध हो सके
लेकिन माया मोहित जीवको इनमेंसे एकका भी अनुभव नहीं होता। ज
तक अनुभव न हो, अनुराग हो नहीं सकता। अबोधावस्थामें जो शि
माता-पितासे पृथक हो गया, माता-पिता पीछे मिले भी तो बिना पहिचा
हुए उसका उनसे प्रेम कैसे हो सकता है। जिस बालिकाका विवाह बहु
छोटी वयमें हुआ, अनजान पतिसे भेंट हो भी तो परिचयके बिना अनुरा

कैसे शक्य है। हमारे साथ रेलमें, यात्रामें तथा बड़े नगरोंमें तो एक मकानमें ही बहुतसे लोग पर्याप्त समय साथ रहे हैं; लेकिन उनसे परिचय ही नहीं हुआ तो प्रेम कैसा। स्वार्थकी भी बात ऐसी ही है, देशकी सेना, पुलिस, रेलके ड्राइवर, बिजली कम्पनी और पानी-कलके चालकोंपर हमारा स्वार्थ निर्भर है; लेकिन उस स्वार्थका तथा उसे पूरा करनेवालोंका ठीक-ठीक परिचय न होनेसे उनके प्रति हमारे मनमें कोई राग नहीं होता।

भगवान्में हमारा प्रेम नहीं, इसका मुख्य कारण यही है कि हम उनसे तथा उनके साथ अपने सम्बन्धसे अपरिचित हैं। सन्त यही करते हैं कि हमें प्रभुसे, प्रभुके साथ अपने सम्बन्धसे परिचित करा देते हैं। यह परिचय चाहे प्रत्यक्ष न हो; किन्तु सत्संगमें बार-बार इसकी आवृत्ति होती है। मनपर उनके संस्कार पड़ते रहते हैं और इससे मनमें भगवत्प्रेमकी कामना उत्पन्न होती है। भगवान्के प्रति राग उत्पन्न होता है। भगवत्प्रेम या भक्ति सत्संगसे सन्त कृपासे ही मिल सकती है। दूसरा कोई उपाय उसे पानेका नहीं है।

[११]

भगति कि साधन कहउँ बखानी।
सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।
निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।
तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ अर० १५।५-७

भक्तिके साधनोंका विस्तारसे वर्णन करता हूँ, क्योंकि इस सुगम मार्गसे प्राणी मुझे पा लेते हैं। पहिले ब्राह्मणोंके चरणोंमें अत्यन्त प्रेम होना चाहिये और वैदिक-रीतिसे अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहना चाहिये। इसका यह फल होता है कि विषयोंसे वैराग्य हो जाता है, तब मेरे धर्म-भक्तिमें प्रेम उत्पन्न होता है।

'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।' अर० ३४।८

यह बात प्रभुने ही शबरीजीको नवधा-भक्तिका उपदेश करते समय कहा था। यहाँ भी कह दिया कि—

'मिलइ जो संत होइ अनुकूला।'

यह तो मान लिया कि संत दयामय होते हैं, सदा सबपर सानुकूल ही रहते हैं, उनसे स्वयं अनुकूल होकर उनकी सेवामें लग कर, विनम्र भावसे उनसे मिला जाय तो भक्ति मिलेगी। वे चाहे सदा सानुकूल रहें, किन्तु जो उनके अनुकूल नहीं रहेगा, जो उनका विरोध करेगा, उनको उत्पीड़ित करने या उनकी निन्दामें लगा रहेगा, वह भक्ति नहीं पा सकेगा, यह भी कोई ऐसी बात नहीं कि किसी को समझानी पड़े, किन्तु प्रश्न तो यह है कि संत मिलें कैसे ?

"पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।
सतसंगति संसृति कर अंता॥" उत्तर० ४४ ६

देवर्षि नारदजीने भी अपने भक्तिसूत्रमें ये सूत्र दिये हैं—

महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥३९॥
लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥४०॥
तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥४१॥

अर्थात् महापुरुषका संग—संतका मिलना दुर्लभ है, मिलनेपर भी 'ये संत हैं' ऐसी पहिचानना कठिन है। पहिचान हो जाय तो वह व्यर्थ नहीं जाती। लेकिन संत ढूंढनेसे नहीं मिलते, वे तो भगवान्‌की कृपा होने पर अधिकारी पुरुषको स्वयं मिल जाते हैं, क्योंकि भगवान् तथा उनके भक्तोंमें भेद नहीं है। जैसे ढूंढकर भगवान्‌को नहीं पाया जा सकता— वैसे ही संतको भी नहीं पाया जा सकता।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भगवान्‌की कृपा तो सबपर समान है। वे तो अनन्त कृपा सागर हैं। तब उनकी कृपाका क्या अर्थ ? भगवान्‌की कृपा तो सबपर है, किन्तु उसका लाभ अधिकारी पुरुष ही उठा पाते हैं; जैसे सूर्यका प्रकाश सब पत्थरोंपर समान रूपसे पड़ता है, किन्तु अग्नि तो आग्नेय शीशेसे ही उस प्रकाशसे प्रगट होती है। इसी प्रकार जो अधिकारी

है, भगवत्कृपासे उसे संत मिल जाते हैं। यह अधिकार कैसे मिलता है। इसका उत्तर तो 'मानस' में ही है—

'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।'
और—पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा।
मन क्रम बचन बिप्र-पद पूजा॥ उत्तर० ४४।७

इस लिए यहाँ श्रीरघुनाथजी भक्तिके साधनोंका वर्णन करते हुए सबसे पहिला साधन-'प्रथमहिं' सबसे पहिला कार्य 'बिप्रचरन अति प्रीती।' बतलाते हैं। 'अति प्रीती' आत्यन्तिक प्रेम होना चाहिये ब्राह्मणोंके चरणों-में। केवल मर्यादा जनित नम्रता, लौकिक शिष्टाचार या सामान्य सत्कार-की बात नहीं है।

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना।
सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥ अर०।३३।२

श्रीरामचरितमानसकी इस अर्धालीपर पर्याप्त आक्षेप किया जाता है। लेकिन आक्षेप तथा शंका करनेवाले पूजा तथा आदर जैसे शब्दोंका अर्थ तक नहीं समझना चाहते। पूजा और आदर एक बात नहीं है। गुन-वान, विद्वान शीलवान शूद्रका आदर न किया जाय और शील तथा गुण रहित ब्राह्मणका आदर किया जाय यह अर्थ करना तो अनर्थ ही करना है। समाजमें आदर तो शीलवान, गुणवान, विद्वानका ही होना चाहिये चाहे वह जिस जातिका हो। लेकिन यहां बात है पूजाकी।

जो यह नहीं समझता कि हिन्दू-धर्म व्यक्ति पूजाका समर्थक नहीं वह अपनी नासमझीसे अटपटे तर्क करता है। शील, गुण, विद्या आदि होना या न होना ये व्यक्तित्वके धर्म हैं। गौकी अपेक्षा अधिक सीधा उप-योगी पशु हो सकता है पर वह अपवित्र माना जाता है और गौ दूध न दे, मारनेवाली हो, तब भी पूज्य और पवित्र है। इसी प्रकार ब्राह्मण या शूद्र-का न तो व्यक्तित्व पूज्य है न अपूज्य। पूजा तो होती है उसके सात्विक देहको प्रतीक बनाकर परमात्मा की। पूजा सात्विक पदार्थ, सात्विक देहके माध्यमसे होनी चाहिये—इसपर हिन्दू-धर्मने बहुत अधिक ध्यान दिया है। पाषाणोंमें शालिग्राम और नर्मदेश्वरसे भी मूल्यवान, गुनवान, सुन्दर

पाषाण मिल सकते हैं पर वे पूज्य नहीं, क्यों कि उनमें वह दिव्य भाव नहीं। वृक्ष तो बहुत है, बहुत उपयोगी हैं, किन्तु तुलसी और पीपल अपनी सात्विकतासे ही पूज्य हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणका शरीर पूज्य है। क्योंकि पूर्व जन्मके पवित्र कर्मोंके कारण उसे वह सात्विक ब्राह्मण देह मिला है। शूद्रके या इतर वर्णोंके देहमें वह सात्विकता नहीं है। ब्राह्मण या शूद्र अपने वर्तमान कर्मोंका स्वयं उत्तरदायी है, उसका फल वह भोगेगा। हमें उसके कर्मोंके विवेचनमें नहीं पड़ना है।

कुछ संतोंने एक उदाहरण दिया है—एक वकील वकालत पास कर चुका और कानून भूल गया, किन्तु न्यायालयमें तो उसीको वकील बनकर खड़े होनेका अधिकार है। वकालतकी तैयारी करनेवाला छात्र चाहे कानूनका जितना बड़ा ज्ञाता हो, परीक्षासे पूर्व न्यायालय उसे वकील बनकर खड़े नहीं होने देगा। इसी प्रकार ब्राह्मणने पूर्व जन्ममें उत्तम कर्म किये थे—इससे उसे ब्राह्मण देह मिला। यह देह ही पवित्र होनेसे पूज्य है। अब वह निन्द्य-कर्म करेगा तो अगले जन्ममें निन्द्य-गति पावेगा। शूद्र उत्तम कर्म करता है तो आगे उत्तम देह पावेगा, किन्तु उसका वर्तमान देह तो वर्तमान कर्मोंसे नहीं बना है, यह देह तो पूर्व जन्मके अपवित्र कर्मोंसे निर्मित है, अतः पूज्य नहीं हो सकता। यह प्राचीन मान्यता है।

पहिले ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम होना चाहिये—अत्यन्त प्रेम, सच्चा प्रेम होना चाहिये। लेकिन ब्राह्मण भी शास्त्र विरोधी कार्य बतावें तो नहीं करना चाहिये। 'निज निज धर्म निरत श्रुति रीति' जिसका जो वर्ण, जो आश्रम है और उसके अनुसार जो शास्त्रीय धर्म है उसमें भली प्रकार लगना चाहिये। गीतामें भगवान्ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। ३।३५

अपने वर्णाश्रम धर्मका पालन करते हुए मृत्यु पाना भी श्रेयष्कर है, किन्तु अन्य धर्मका अवलम्बन तो भयावह है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

—गीता १६।२३

जो शास्त्रकी विधिको छोड़कर कामनाके अनुसार (मनमाना) आचरण करता है, वह न तो सफलता पाता, न सुख पाता और न परम गति पाता है।

एहि कर फल पुनि विषय बिरागा।'

जब ब्राह्मणोंके चरणोंमें सच्चा प्रेम होगा और उनके द्वारा निदिष्ट अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुसार शास्त्रीय आचरणोंका पालन होगा, तब इसका फल यह होगा कि चित्त शुद्ध हो जायगा। चित्त शुद्ध होनेसे विषयोंमें वैराग्य हो जायगा। 'धर्म ते बिरति' यह बात प्रभु इसी प्रसंगमें कह भी चुके हैं और वहाँ इसकी व्याख्या भी हो चुकी है।

'तब' अर्थात् विषयोंसे वैराग्य हो जानेके बाद 'मम धर्म' अर्थात् भगवद्भक्तिमें 'उपज अनुरागा' प्रेम उत्पन्न होता है। क्योंकि—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँकि रहि सकहि, रबि रजनी इक ठाम॥

भला कहीं सूर्य और रात्रि एक साथ रह सकती हैं? कोई एक ही साथ पूर्व और पश्चिम दोनों ओर चलना चाहे तो यह कभी सम्भव है? हम शरीरका सुख, सम्पत्ति, परिवारकी सुविधा, समाजमें सम्मान, स्वास्थ्य आदि सांसारिक बातें भी चाहते रहें और भगवान्‌में प्रेम भी हो जाय— मन भी लगने लगे, यह तो होनेसे रहा। भगवान्‌के धर्म—भागवत-धर्ममें प्रेम तो तभी उत्पन्न होगा जब कि विषयोंसे वैराग्य हो जायगा। वैराग्य-का अर्थ बाबाजी बनना नहीं। वैराग्यका अर्थ है उनमें आसक्ति न जाना। शरीर स्वस्थ रहे या अस्वस्थ, परिवार सुखी रहे या दुःखी, रहे या नष्ट हो जाय, सम्पत्ति रहे या कंगाली आ जाय, सब प्रशंसा करें या गाली दें—इनमेंसे किसीकी इच्छा अपेक्षा न करना सांसारिक स्थिति प्रारब्धवश जैसी बने—उसे ही भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर संतुष्ट रहना—यही वैराग्य है। ऐसा वैराग्य आता है शास्त्रविहित धर्मका ठीक-ठीक आचरण करने से।

'रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥ अयो० ३२३।८

जो यहाँ भाग्यवान भगवत्प्रेम चाहता है, उसे भौतिक सुख भोगसे स्वाभाविक अरुचि होती है। मैंने वह त्याग कर दिया। यह गर्व या गौरव भाव जहाँ है—वहाँ त्याग कहाँ हुआ। वहां तो त्यागका गर्व आ बैठा। हम आप कभी वमन कर देते हैं तो क्या मन में यह आता है कि देखो वमन किये हुए पदार्थोंका हमने त्याग कर दिया?' अरे उन पदार्थोंकी ओर तो देखेंने-की इच्छा नहीं होती—उनके त्यागका प्रश्न कहाँ है। कोई उनकी ओर देखनेको कहे तो ग्लानि होती है। ऐसा स्वाभाविक त्याग, सहज अरुचि विषय भोगोंसे हो जाय तो भगवत्प्रेम प्राप्त होनेपर ही 'राम अनुरागी' को ही होता है। यह तो परवैराग्य है, किन्तु विषयोंमें अनाशक्ति तो ठीक-ठीक शास्त्र विहित धर्माचरण करनेसे ही हो जाती है और बिना यह अनासक्ति हुए भगवत्प्रेम—भजनमें रुचि उत्पन्न नहीं होती।

'सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी' जिस सुगम मार्गसे प्राणी भगवान्‌को पा लें—वह मार्ग प्रभु बतला रहे हैं। वे कहते हैं कि कुछ करना विशेष नहीं है। ब्राह्मणोंके चरणोंमें सच्चा प्रेम होना चाहिये अपने वर्णाश्रम धर्म-का ठीक-ठीक शास्त्र द्वारा बतायी विधिसे पालन करते रहना चाहिये। इसका फल यह होगा कि अपने आप विषय भोगोंसे वैराग्य हो जायगा और तब मेरे धर्म—भजनमें प्रेम उत्पन्न होगा।

[१२]

श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं।
मम लीला रति अति मन माहीं॥ अर० १५।८

श्रवण आदि नवधा-भक्ति पुष्ट होगी और मनमें मेरी लीलासे अत्यन्त प्रेम होगा।

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥''

—भागवत ७।५।२३

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन (पूजा), वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये प्रसिद्ध नवधा-भक्ति हैं। नवधाभक्ति नामसे इनके शास्त्र प्रसिद्ध होनेके कारण इनका नाम गिनाना आवश्यक नहीं था। श्रवणादि नवधा-भक्ति दृढ़ होती है इतना कह देना ही पर्याप्त था।

श्रवणमें भगवन्नामका श्रवण, भगवान्के गुणोंका श्रवण और भग-
कथाका श्रवण आता है। पुस्तक पढ़ना श्रवण नहीं है, वह तो पाठ या
ाध्याय है। श्रवण तो वही है जिसमें कोई दूसरा कहे और स्वयं सुना
य।

कीर्तन भी दो प्रकारका है। एक भगवन्नाम कीर्तन—इसे नारदीय
र्तन-पद्धति कहते हैं। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने वर्तमान युगमें इस कीर्तन
द्धतिका प्रचार-प्रसार बहुत अधिक किया। दूसरी लीला या गुण-कीर्तन—
ा वैयासकीय कीर्तन-पद्धति कहते हैं। महाराष्ट्रके संत श्रीतुकाराम,
दि इसी प्रकारका कीर्तन करते थे।

स्मरण भी दो प्रकारसे होते हैं—एक नामका और दूसरे गुण एवं
ला का। स्मरण मनका धर्म है। अतः मानसिक जपको नाम स्मरण
न सकते हैं। वाचिक या उपांशु जप एकाग्र मनसे हो तभी वे नाम
रण हैं, अन्यथा जपकी क्रिया मात्र ही हैं।

पाद-सेवनको अर्चनसे पृथक भक्ति क्यों माना जाता है? इस प्रश्न-
ा उत्तर कुछ संत यह देते हैं कि पाद-सेवन भक्तिका तात्पर्य है गुरु-चरणों-
ी सेवा। कुछ संत कहते हैं कि श्रीमद्भागतके श्लोकमें 'विष्णोः' शब्द
पष्ट आया है, अतः सभी भक्तियाँ भगवान्के प्रति ही करनेकी बात है,
रु या अन्य किसीके प्रति नहीं। कुछ भक्त भगवान्के केवल चरणोंका
ी ध्यान, चिन्तन और पूजन करते हैं। वे पूरे श्रीविग्रहका ध्यान या पूजन
हीं करते। पाद-सेवन भक्ति उन्हीं की मानी जानी चाहिये।

अर्चनका अर्थ है पूजा। भगवान्की मूर्तिका विधि-विधानसे श्रद्धा
र्वक पूजन करना ही अर्चन-भक्ति है।

वन्दन अर्थात् प्रणाम करना भी एक स्वतन्त्र भक्ति है। प्राणिमात्र-
को, जड़-चेतन सचराचर जगतको भगवान्का स्वरूप मानकर सबको
प्रणाम करना, यह उत्तम भक्ति बतायी गयी है। श्रीमद्भागवतने आदेश
दिया है— प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ आश्व चाण्डाल गो खरान्' चाण्डालसे
लेकर कुत्ते, गाय और गधे तकको भी पृथ्वीमें पड़कर दण्डवत् प्रणाम करे।
'यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः' जितने भी प्राणी-पदार्थ हैं, सबमें अनन्य
भगवद्भाव रखकर सबको प्रणाम करे।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण पादसेवन, अर्चन और वन्दन ये ६ साधन भक्ति हैं। इनका आचरण करनेसे साध्य भक्ति प्रेमरूपा भक्तिका हृदयमें प्रादुर्भाव होता है।

दास्य अर्थात् प्रभु स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ—यह भाव साधन भी है और साध्य भी। सच बात यह है कि दास्य सार्वभौम भाव है। वह व्यक्तिकी प्रत्येक दशा, भक्तिके प्रत्येक अंगमें व्यापक है। श्रवण, कीर्तनादि करते समय भी प्रभु स्वामी हैं और मैं सेवक हूँ. यह भाव रहता है और सख्य तथा आत्मनिवेदनमें भी आराध्यके प्रति सेवाका भाव तो रहता ही है। भरतादि भाई जो सख्यके आदर्श हैं अपनेको प्रभुका सेवक ही मानते हैं। इसी प्रकार आत्मनिवेदन—माधुर्य भावकी साक्षात् मूर्ति श्रीजनकनन्दिनीमें भी प्रभुकी सेवाकी लालसा, दास्यका भाव तो रहता ही है। इसीलिये दास्यको सार्वभौम भाव कहा जाता है।

सख्यका अर्थ है मित्रताका भाव। पुराना सेवक भी स्वामीसे अत्यन्त निकटता होनेके कारण मित्रके समान व्यवहार करने लगता है। उपासना-के द्वारा जब चित्त निर्मल हो जाता है, वासनाएँ सर्वथा दूर हो जाती हैं तब कुछ चाह या कुछ नष्ट होनेका भय तो रह नहीं जाता। प्रभुसे अत्यन्त समीपता, आत्मीयताका भाव जागृत होता है। 'वे अपने हैं' यह अनुभूति होने लगती है। यही सख्य भाव है।

आत्मनिवेदन अर्थात् माधुर्यभाव तो भक्तिकी चरम सीमा है। अपना कुछ नहीं रहा, सब कुछ—यहां तक कि अना 'स्व' भी उनके चरणों-में विसर्जित हो गया और उनको छोड़कर दूसरेकी सत्ता भी शेष नहीं रही। 'सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।' यह सर्वोत्तम पतिव्रताकी स्थिति प्राप्त हो गयी—यही आत्मनिवेदन है।

यहां यह ध्यान रहना चाहिये कि सख्य या आत्मनिवेदनके भाव किये नहीं जाते। जब भी इन्हें किया जायगा, केवल दम्भ होगा और दम्भका फल तो पतन—नरक है। ये भाव तो जब स्वयं प्रगट हों, तब आते हैं। जहां तक करनेकी बात है—केवल दास्य भाव किया जाता है—करणीय है। जीव परमात्माका दास है, यही परमसत्य है। उसे अपनेको सेवक मानकर भजन करना चाहिये।

'श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं।' ये नव प्रकारकी भक्ति दृढ़ होती हैं, कब ? जब विप्र-चरणमें अत्यन्त प्रेम हो तथा अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुसार आचरण किया जाय, जिसके फलसे विषयोंमें वैराग्य हो जाय। 'तब मम धर्म उपज अनुरागा।' यह बात पहिले प्रभु कह ही चुके हैं। वह 'मम धर्म' ये 'श्रवनादिक नव भक्ति' हैं। लेकिन यहाँ श्रीरघुनाथजी एक विशेष बात बतला रहे हैं 'मम लीला रति अति मन माहीं।' ब्राह्मणोंके चरणोंमें सच्चे प्रेम तथा स्वधर्माचरणसे वैराग्य उत्पन्न होनेपर भक्तिमें प्रेम तो उत्पन्न होगा; किन्तु वह प्रेम दृढ़ कैसे होगा यह बात यहाँ बतायी गयी है। वह प्रेम—श्रवणादिक नवधा-भक्तिकी दृढ़ता तभी होगी जब भगवान्‌की अवतार कथामें अत्यन्त रति—लगन हो। लीला-श्रवण, लीला-चिन्तन तथा लीलानुराग ही भक्तिको दृढ़ करनेके साधन हैं।

भगवान्‌के अवतार लेने, अवतार लेकर विविध चरित करनेका मुख्य प्रयोजन ही यह है कि उन चरितोंको सुनकर, उनका चिन्तन करके जीवोंकी भगवान्‌में प्रीति हो। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने यह बताया है—

'भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।'

प्रभु वैसे ही चरित करते हैं जिनको श्रवण करके मनुष्य उनके परायण हो।

भगवान्‌में अनुराग हो, भजन-साधनमें रुचि बढ़े उनमें मन लगे, इसका सुगम साधन श्रीरघुनाथजीने यहाँ बताया है कि उनके अवतार-चरितोंमें मनकी अत्यन्त प्रीति होनी चाहिये। लीला-श्रवण, तथा लीला चिन्तनमें अधिक समय देना चाहिये।

[१३]

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दम्भ न जाकें। तात निरन्तर बस मैं ताकें॥

अर० १५।८-१२

संतोंके चरण-कमलोंमें अत्यन्त प्रेम हो मन, वचन और कर्मसे भजनका दृढ़ नियम रहे, गुरु, पिता, माता, बन्धुजन, पति तथा देवता आदि सब मुझको ही समझ कर दृढ़ता पूर्वक मेरी सेवा करें, मेरा गुणगान करते समय शरीरमें रोमाञ्च हो जाय, बाणी गद्-गद् हो जाय और नेत्रोंसे आँसु बहने लगें, (इन सबके साथ) जिसमें कामादिदोष, गर्व और दम्भ नहीं है, भाई लक्ष्मण ! मैं तो सदा ही उसके वशमें हूँ।

'तुम्हते अधिक संत कर लेखा' यह भक्तका आदर्श है। आराध्य-की अपेक्षा भी संतका वह अधिक आदर करता है। क्योंकि संत-कृपासे ही भक्ति प्राप्त हुई और सत्संगसे ही भजनमें रुचि बढ़ती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि 'संत चरन पंकज 'में' अति प्रेमा' होनेके कारण संतको ही आराध्य मान लें और अक्षत्, चन्दन, माला लेकर उनके नश्वर देहकी उपासना तथा उन संतके ही नामके जपमें लग जाय। यह तो गुरुडम है और दुर्भाग्यसे तथा कलियुगके प्रभावसे यह आजकल बहुत फैल रहा है। लेकिन है यह सर्वथा अवांछनीय। संत मार्ग-दर्शक है प्रकाशदाता है; किन्तु वही लक्ष्य नहीं है। मार्ग दिखलानेके लिये लालटेनकी जितनी महत्ता कही जाय कम है; किन्तु जो लालटेनको ही पूजा करने लगेगा उसे सामने रख-कर—वह तो कहीं का न होगा। लालटेनका सारा महत्व इसमें है कि वह हमें लक्ष्यकी ओर ले जाती है, लक्ष्यकी ओर जानेमें सहायता देती है। कोई लालटेन जैसा चुम्बकीय पदार्थ अपने पास ही हमें रोक रखे तो वह लाल-टेन नहीं वह तो पटककर तोड़ देने योग्य है। इसी प्रकार जो भगवान्की ओर लगानेके बदले अपना ध्यान करने, अपने नामका जप करनेका आदेश करते हैं, अपनी सेवामें ही शिष्यको अटकाये रहते हैं, वे संत नहीं हैं। वे तो मायावी हैं, उन्हें सर्वथा त्याग देना चाहिये।

संतके चरणोंमें प्रेम होनेसे संतके द्वारा भगवान्के भजनकी प्रेरणा मिलेगी—यदि वह सचमुच संत है। लेकिन भजन तो करना ही पड़ेगा। सब कुछ संत अपनी कृपासे कर देगा– इस भावसे बड़ा कोई धोखा नहीं है। इसीलिये भगवान् आगे कहते हैं—

मन, क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।'

मन, कर्म और वाणीसे भजनका दृढ़ नियम होना चाहिये । उत्तम
भजन वह जो मनसे हो । मानसिक जप, मानस-पूजन, ध्यान, भगवान्के
गुणों तथा लीलाओंका चिन्तन मनसे होता है । नवधा-भक्तिमें आत्म-
निवेदन, सख्य, दास्य और स्मरण ये मनसे होने वाली भक्ति हैं । मन वशमें
नहीं है, स्मरण-चिन्तन आदिमें लगता नहीं, बार-बार चेष्टा करनेपर भी
इधर-उधर भाग जाता है तो कर्मसे दृढ नियम बनाकर भजन करना
चाहिये । तीर्थाटन, भगवान्की पूजा आदि कर्मसे भजन होता है । नवधा-भक्ति
में से वन्दन, अर्चन, पाद-सेवन और श्रवण ये कर्मसे होने वाली भक्ति हैं ।
घरमें अर्चनके लिये द्रव्य नहीं, तीर्थाटनकी सुविधा नहीं, जीवननिर्वाह एवं
परिवार-पोषणके कामोंसे समय ही नहीं मिलता कि अर्चा, पूजा, कथादि
श्रवण किया जा सके । ऐसी अवस्थामें वाणीसे दृढ़ नियम-पूर्वक भजन
करना चाहिये । नवधा-भक्तिमें कीर्तन वाणीसे होनेवाली भक्ति है । जप
और कीर्तन दोनों इसके अन्तर्गत हैं । सब समय, सब दशामें, सब काम करते
हुए सर्वदा मुखसे भगवन्नामका जप किया जा सकता है । इसमें मन लगे,
न लगे का प्रश्न ही नहीं । केवल जीभसे निरन्तर-नाम जप होता रहे—यह
अभ्यास हो जाना चाहिये । इस प्रकार 'मन क्रम वचन' में एक क्रम बत-
लाया प्रभु ने । मन, वाणी तथा कर्म तीनोंसे भजन करना चाहिये यह बात
तो मुख्य है ही ।

'गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा' गुरु अर्थात् मन्त्रदाता गुरु एवं दूसरे
अपने पूज्य वर्गके लोग, पिता, माता, बन्धु-बान्धव, पत्नी और देवता 'सब
मोहि कहँ जाने' यह सब भगवान्को ही समझे । इसमें यह नहीं कहा जा
रहा है कि गुरु, पिता, माता, बन्धु-बान्धव पति तथा देवतादिका त्याग
कर दें । कहा यह जा रहा है कि इन सबको आराध्यका ही रूप समझे,
इनकी सेवा-पूजा भी आराध्यकी पूजा समझ कर करे, किन्तु प्रेम भगवान्से
ही करें । जहाँ आराध्यके प्रेम एवं सेवामें गुरु, माता, पिता, बन्धु-बान्धव
पति या देवताओं द्वारा बाधा पड़ती हो—पड़ सकती हो, वहाँ ये लौकिक
सम्बन्ध त्याज्य हो जायँगे । वहाँ तो भगवान्—आराध्यमें ही प्रीति होनी
चाहिये । प्रभु ही मेरे गुरु, माता, पिता, भाई-बन्धु, पति तथा देवता हैं, यह

दृढ़ भाव मनमें होना चाहिये और 'दृढ़ सेवा' से दृढ़ता पूर्वक—नियम तथा निष्ठा पूर्वक सेवा होनी चाहिए। केवल मनमें मानना ही पर्याप्त नहीं है, सेवा-भजन तो दृढ़ता पूर्वक होना ही चाहिये।

बाहरी रहन-सहनका आदर्श बतलाकर प्रभु अब भक्तके मनकी क्या दशा हो जाती है या रहती है, इसका वर्णन करते हैं—

मम गुन गावत पुलक सरीरा।
गदगद गिरा नयन बह नीरा॥' अर० १५।११

बात यह है कि हृदयमें प्रेम होनेपर शरीरमें उसके चिह्न प्रगट होते हैं। उन चिह्नोंको सात्विक भाव-विकार कहा जाता है। ये भाव-विकार आठ हैं—१ स्तम्भ अर्थात् जैसेके वैसे जड़वत रह जाना २—अश्रु ३—स्वेद अर्थात् शरीरसे अकारण पसीना बहने लगना ४—रोमाञ्च अर्थात् शरीरमें सिहरन होकर रोमोंका खड़े हो जाना ५—स्वर-भेद अर्थात् कंठ गद्-गद् हो जाना ६—कम्प (शरीरका कांपना) ७—वैवर्ण्य अर्थात् शरीरका रंग पीला या सफेद हो जाना ८—प्रलय अर्थात् मूर्छित हो जाना।

लेकिन मर्यादा-पुरुषोत्तम यहाँ आठो सात्विक-भावोंकी बात नहीं कह रहे हैं। 'मम गुन गावत' की ही बात प्रभु कह रहे हैं और बता रहे हैं कि जिसके हृदयमें प्रेम है—गुण-गान करते समय उसका शरीर रोमांचित हो जाता है, वाणी गद्-गद् हो जाती है और नेत्रोंसे अश्रु प्रवाह चलने लगता है।

'काम आदि मद दम्भ न जाकें' यह पंक्ति बहुत ही महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है। काम, क्रोध लोभ, मद और दम्भ इनके द्वारा भी ये सब काम होते हैं जो ऊपर कहे गये हैं। जप, कीर्तन, पूजन, ध्यान आदि क्रियाओंमें किसी कामनावश, किसीसे बदला लेनेके लिये, लोभकी पूर्तिके लिये तथा दम्भसे हो सकती हैं। दम्भसे अश्रु बहाने, गद्-गद् स्वर हो जाने, रोमाञ्चित होनेकी बात तो दूर मूर्छा तकका अभिनय लोग करते हैं। नाटक-सिनेमामें जैसे अभिनेता अश्रु आदि दिखा लेते हैं, वैसे ही लोग कथा-कीर्तनमें भी अश्रु बहाते हैं, गद्गद् स्वर बना लेते हैं, रोमांच या कम्प दिखलाते हैं और यह दम्भ से—अपनेको भक्त दिखलानेके लिये होता है। यह दम्भ न भी हो तो भी मद हो जाता है कि मैं भक्त हूँ—मुझमें

प्रेमके इतने लक्षण हैं, दूसरे सब तो अभक्त हैं, मुझसे हीन हैं, अधम हैं। इस प्रकार का गर्व भक्तिके उत्तम भावोंको भी ले डूबता है।

मर्यादा-पुरुषोत्तम कहते हैं कि जिसमें काम, क्रोध, लोभ और दम्भ न हो तो उसके वशमें तो मैं सदा ही हूँ। श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्ने कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

भागवत ९।४।६३

[१४]

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥ अर० १६

वाणी, कर्म और मनसे जिनकी गति (लगन) मुझमें ही है और जो निष्काम भावसे भजन करते हैं, उनके हृदय-कमलमें मैं सदा विश्राम करता हूँ।

पहिले 'मन क्रम वचन भजन' प्रभुने बतलाया था। वहाँ भजन करनेकी बात थी अतः मन, क्रम तथा वाणी, यह क्रम बतलाया गया था। अब यहाँ वचन-कर्म तथा मनका क्रम बतला रहे हैं। वाणीकी गति भगवान्में ही हो अर्थात् भगवान्के नाम, गुण तथा लीलाका ही वर्णन वाणी करें। कर्मकी गति भगवानमें हो अर्थात् जितने भी कर्म किये जायँ, सब भगवत्प्रीतिके लिये ही किये जायें और मनकी गति भगवानमें हो अर्थात् मनसे भगवानके ही रूप, गुण तथा लीलाओंका चिन्तन हो।

मन, वाणी और कर्म तीनोंकी गति भगवान्में ही हो, भगवान्को छोड़कर अपने लिये जीवनमें कुछ न बचा हो न बोलना, न करना और न सोचना। जीवन भगवन्मय हो, भगवानके लिये ही हो। शरीर, मन और वाणी एक यन्त्रके समान हो चुका हो जो कि प्रभुके लिये ही प्रयुक्त हो। यह सब किसी उद्देश्यसे, किसी कामनाको लेकर न हो। 'भजन करहिं निःकाम' सर्वथा निष्काम भावसे भजन हो।

'मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥'

उत्तर० ४५।५

प्रभुने कहा है कि मेरा सेवक होकर कोई किसी अन्य मनुष्यकी यदि आशा करता है तो बतलाओ—उसे मुझपर विश्वास ही कहाँ है। लेकिन यहाँ तो आशाकी बात ही नहीं रह जाती। दूसरे किसी की या प्रभुकी ही आशा होगी तो किसी कामनाको लेकर होगी, यहाँ तो निष्काम भावके भजनकी बात है। यहाँ इसलोक, परलोक और मोक्ष तककी भी कामना नहीं है। भजन किसी अन्य उद्देश्यसे नहीं होता—वह भजनके लिए ही होता है। भजन करना प्रिय है इसलिए भजन किया जाता है भजनको छोड़कर न कुछ बोलना अच्छा लगता, न करना अच्छा लगता और न देखना ही अच्छा लगता। ऐसी स्थितिके भक्तके लिये प्रभु कहते हैं—

'तिन्ह के हृदय कमल महुँ, करउँ सदा बिश्राम।'

उसके हृदय-कमलमें मैं सदा विश्राम करता हूँ। यहाँ घंटे दो घंटे रहने, ध्यानमें आनेकी बात नहीं है उसका हृदय-कमल तो भगवान्‌का सुख-निवास बन जाता है।

भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, वे सबके ही हृदयमें सदा रहते हैं, अतः यहाँ उन्होंने विशेष बात क्या कही? इसका उत्तर एक तो यह है कि भगवान् सबके हृदयमें रहते हैं, यह बात ठीक है, किन्तु वे वहाँ रहते हैं वास या निवास करते है, विश्राम नहीं करते। विश्राम करना कहते हैं सुख पूर्वक निश्चिन्त होकर विराजमान होने को। जिस हृदयमें काम, क्रोध, लोभादिका संघर्ष चल रहा है, विषय-वासनाओंकी दुर्गन्धि जहाँ भरी है, जो हर नाना पाप संस्कारोंसे मलिन है, वहाँ प्रभुको विश्राम कैसे मिल सकता है। विश्राम तो वे सर्वथा निष्काम, भजन परिशुद्ध हृदयमें ही कर सकते हैं—करते हैं।

दूसरी बात यह है कि सबके हृदयमें तो भगवान् अन्तर्यामी रूपमें निराकार अव्यक्त रूपसे रहते हैं किन्तु यहाँ श्रीकौसल्यानन्द-वर्धन स्वयं अपने लिये 'करउँ सदा विश्राम' कहते हैं। अर्थात् उस निष्काम भक्तके हृदयमें तो वे नव-जलधर सुन्दर सगुण-साकार रूपसे विश्राम करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने निराकार अन्तर्यामी भगवान्‌से भिन्न सगुण-साकार भग-

भक्तके हृदयमें आनेकी बात बतलायी है। वे स्वयं अपने अनुभवकी बात भगवान् व्याससे कह रहे हैं—

"प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥"

—भागवत १।६।३४

देवर्षि कहते हैं—'जब मैं उन प्रियश्रवण (जिनके गुण सुननेमें बहुत प्यारे लगते हैं।) तीर्थ-चरण (जिनके श्रीचरण ही सबको परम पवित्र करने वाले हैं) का गुणगान करने लगता हूँ तो अपने गुण-पराक्रमका गान होते ही झटपट वे मेरे हृदयमें प्रगट होकर इस प्रकार दर्शन देने लगते हैं, जैसे उन्हें बुलाया गया हो।'

यहाँ स्पष्ट है कि यह हृदयमें दर्शन सगुण-साकारका होता है। इसी प्रकार श्रीमर्यादा-पुरुषोत्तम निष्काम-भावसे मन, वाणी, कर्मसे सब प्रकार भजन करनेवाले के हृदयमें सगुण साकार रूपसे सदा विश्राम करनेकी बात कह रहे हैं।

उपसंहार

भगति जोग सुनि अति सुख पावा।
लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥ अर० १६।१

भक्तियोग सुनकर लक्ष्मणजीको बड़ा सुख हुआ, उन्होंने प्रभुके चरणोंमें मस्तक झुका दिया।

'जातें होइ चरन रति' यही लक्ष्मणजी का मुख्य प्रश्न था। उन्होंने अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया था—'सब तजि करौं चरनरज सेवा' ऐसी अवस्थामें, भक्तियोग सुनकर उनको अत्यन्त सुख मिला—यह स्वाभाविक बात है। इसके बदले भला वे प्रभुको क्या दे सकते थे, उनके पास ऐसा अपना रहा ही क्या था जो पहिले ही प्रभुके श्रीचरणोंमें अर्पित न हो सका हो। इसलिये उन्होंने मस्तक झुका दिया प्रभुके श्रीचरणोंपर। इस मस्तक झुकानेका तात्पर्य है—'नाथ! मैं तो सदासे तन-मनसे इन चरणोंमें अर्पित आपका दास हूँ।'

★ ● ★

नारी-गीता

(अनुसूया-उपदेश)

श्रीरामचरित मानसमें महासती अनुसूयाजीने श्रीजानकीजी को निमित्त बनाकर जो उपदेश किया है, वह समस्त नारी-वर्गके लिये गीता है, इसमें दो, मत नहीं हो सकते ।

श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र' जी ने इसकी जो व्याख्या दी है उससे नारि-जातिका तो उपकार होगा ही पुरुष-वर्ग को भी नारीके साध्वि-जीवन समझनेमें दिशा मिलेगी ।

—प्रकाशक

नारी गीता

(अनुसूया-उपदेश)

[उपक्रम]

अनुसुइया के पद गहि सीता । मिली बहोरि सुसील बिनीता ॥
रिषिपतिनी मन सुख अधिकाई । आसिष देइ निकट बैठाई ॥
दिब्य बसन भूषन पहिराए । जे नित नूतन अमल सुहाए ॥
कह रिषिबधू सरस मृदु बानी । नारिधर्म कछु ब्याज बखानी ॥

अर० ४।१-४

अत्यन्त सुशील एवं विनम्र श्रीजनकनन्दनीजी अनुसूयाजीके चरणों-का स्पर्श करके उनसे फिर मिलीं । महर्षि अत्रिकी पत्नी अनुसूयाजीके मनमें आनन्द उमड़ पड़ा । उन्होंने श्रीजानकीजीको आशीर्वाद दिया और उन्हें अपने पास बैठाया । अनुसूयाजीने श्रीसीताजीको दिव्य वस्त्र एवं आभूषण पहिनाये । वे वस्त्र तथा आभूषण ऐसे थे जो नित्य नवीन, निर्मल और सुन्दर रहते थे । वस्त्राभूषण प्रदान करके ऋषि-पत्नी बड़ी सरस कोमल वाणीमें बोलीं । श्रीजानकीजीको निमित्त बनाकर उन्होंने (जगतकी नारियोंके लिए) स्त्री-धर्मका उपदेश किया ।

रघुपति चित्रकूट बसि नाना । चरित किए श्रुति सुधा समाना ॥
बहुरि राम अस मन अनुमाना । होइहि भीर सबहिं मोहि जाना ॥
सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई । सीता सहित चले द्वौ भाई ॥

अर० २।१-३

श्रीभरतलाल अयोध्याके समाजके साथ और महाराज जनक मिथिलाके समाजके साथ चित्रकूटमें श्रीरामसे मिलकर लौट गये । अयोध्या

और मिथिला दोनों राज्यमें तथा दोनों राज्योंके मध्यके प्रदेशोंमें भी यह ज्ञात हो गया कि श्रीराघवेन्द्र चित्रकूटमें निवास कर रहे हैं। अब जिसके भी मनमें जब आवे, वह चित्रकूट जाकर श्रीरामका दर्शन कर सकता है। चित्रकूटमें अतिथियोंकी भीड़ रहे यह सहज सम्भाव्य हो गया। इससे चित्रकूटके ऋषि-मुनियोंके सामान्य जीवनमें, साधन, भजनमें तथा श्रीरामके वनवासी-जीवनमें भी व्यति-क्रम होनेका सन्देह हो गया। क्योंकि अयोध्या तथा मिथिलाके सभी लोग तो भरतजी तथा महाराज जनकके समान विचारशील ज्ञानी हो नहीं सकते और भावुक तो इन प्रान्तोंका जन-जन है। अब कोई श्रीअवधका नागरिक आकर अपनी महारानीको कुश-साथरी पर सोते देखकर आर्तक्रन्दन करने लगे। मिथिलाका कोई वृद्ध या युवक श्रीजानकीको अपनी पुत्री या बहिन मानकर उनके लिये शय्या, वाहन आदिकी व्यवस्था करना प्रारम्भ कर दे तो ऐसे भावुक-भक्तोंको कैसे रोका जा सकेगा। परम उदार, परम संकोची मर्यादा-पुरुषोत्तम कैसे उनके हृदयोंको निराश करके भग्न कर सकेंगे और उनका आग्रह मानकर वन-वासी जीवनका निर्वाह कैसे शक्य है। अतः मार्ग ही एक रह गया कि कोई अवध या मिथिलासे आवे इससे पहिले ही चित्रकूट छोड़ दिया जाय। आश्रमके आस-पास जो ऋषि-मुनि रहते थे, उनसे विदा लेकर श्रीरामने प्रस्थान किया।

अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ। सुनत महामुनि हरषित भयऊ॥
पुलकित गात अत्रि उठि धाए। देखि रामु आतुर चलि आए॥
अर० २।४-५

करि पूजा कहि बचन सुहाए। दिए मूल फल प्रभु मन भाए॥
अर० २।८

चित्रकूटकी मुनि-मंडलीके कुलपति महर्षि अत्रि थे। चित्रकूटका परिचय देते समय महर्षि बाल्मीकिजीने 'अत्रि आदि मुनिवर बहु बसहीं' कहा था। भरतजीने जब चित्रकूटके वन, पर्वतादिके दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की तो श्रीरामने उनसे कहा—"अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू।" अब चित्रकूटसे जाते समय उस वनके अध्यक्षसे विदा लेना शिष्टता एवं मर्यादाके अनुकूल ही बात थी महर्षि अत्रिका आश्रम श्रीराम की पर्णकुटीसे आगे उसी मार्गमें था जिस मार्गसे श्रीरामको वनमें जाना था। इसलिये

श्री राघवेन्द्र आसपासके मुनियोंसे बिदा लेकर श्रीजानकी तथा लक्ष्मणजीके साथ महर्षि अत्रिके आश्रमपर आगे जानेको प्रस्तुत होकर पहुँचे।

महर्षि अत्रिको पहिले ही समाचार मिल गया दूसरे मुनियोंसे कि श्रीराम उनके आश्रमपर पधार रहे हैं। बड़ा हर्ष हुआ महर्षि को. वे श्रीराघवेन्द्रका स्वागत करने दौड़ पड़े। महर्षिको अपनी ओर दौड़ कर आते देख मर्यादा-पुरुषोत्तम भी शीघ्रतासे आगे बढ़कर महर्षिके चरणोंमें प्रणत हुए। अपने साथ श्रीराम, लक्ष्मण एवं जानकीजीको लेकर महर्षि आश्रममें आये। सबको उन्होंने आसन दिया. अर्घ्य आदिसे विधिपूर्वक सत्कार करके कन्द, मूल, फल आदि अर्पित किया। प्रभुने श्रीजानकीजी तथा लक्ष्मणजीके साथ महर्षिका आतिथ्य स्वीकार किया। आतिथ्य करके श्रीरामकी महर्षिने स्तुति की।

जब महर्षि स्तुति करके भक्तिका वरदान मांग चुके, तब श्रीजानकी-जी ऋषि-पत्नी अनुसूयाजीके पास उनको एकान्तमें प्रणाम करने मिलने गयीं। अनुसूयाजी चाहती थीं जानकीसे अलग मिलना और यह स्वाभाविक भी था। श्रीजानकीजीके लिये 'मिली बहोरि' कहा गया है। इसका तात्पर्य स्पष्ट है। जब श्रीराम-लक्ष्मण श्रीजानकीजी आश्रममें आये तब अनुसूयाजीने महर्षि अत्रिके साथ उनका स्वागत किया। वे कुटियाके भीतर बैठी नहीं रह गयीं। तीनोंने ही ऋषि-पत्नीको प्रणाम किया। श्रीजानकीको अनुसूयाजीने हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया। इस प्रकार एकबार आश्रममें आते ही श्रीजानकीजी ऋषि-पत्नीको प्रणाम करके उनसे मिल चुकी हैं। अब कुटियाके भीतर वे पुनः ऋषि-पत्नीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणत हुई और ऋषि-पत्नीने उन्हें हृदयसे लगाया। यह उनका दूसरीबार का मिलन है। अनुसूयाजीने उन्हें आशीर्वाद दिया और समीप बैठाया।

अध्यात्म-रामायणके अनुसार अयोध्यासे चलते समय श्रीरामके आदेशसे श्रीजानकीजी अपने मुख्य आभूषण महर्षि वशिष्टजीकी पत्नी अरुन्धतीजीको दे आयी थी। वनमें श्रीरामको चौदह वर्ष रहना है। वे तथा लक्ष्मणजी तो पुरुष ठहरे, बल्कल पहिनकर उनका काम चल जायगा। बल्कल मैला हो या फटे तो बनमें दूसरा बल्कल या वृक्षकी छालका अभाव नहीं, किन्तु श्रीजानकीजी बल्कल पहिन कर रहें, यह बात अनुसूयाजीका

हृदय भी सहन नहीं कर सकता। जो राजकुमारी अयोध्यासे चलते समय वल्कल पहिनना तक नहीं जानती थी वे केवल, वल्कल धारण करके कैसे रहेंगी। वस्त्र तो फटेंगे और मैले भी होंगे। लक्ष्मणलाल तो चरणोंको छोड़कर श्रीजानकीजीके शरीरकी ओर दृष्टि उठानेवाले नहीं, अतः उन्हें पता ही नहीं लगेगा कि श्रीजानकीजीके वस्त्रोंकी क्या दशा है और श्रीराम ठहरे नियम-निष्ठ, मर्यादा-पुरुषोत्तम, वे भला वस्त्र मँगानेकी व्यवस्था क्यों करने लगे। अब ये लोग चित्रकूटसे भी जा रहे हैं, यहाँ रहते तो ऋषि-पत्नी स्वयं श्रीजानकीके वस्त्रादिकी देख-रेखकर लेतीं, आगे कोई ऐसा करे या न करे, यह क्या ठिकाना। अतः श्रीविदेह-राजकुमारीका वनमें मैले या फटे वस्त्र न पहिनने पड़ें, यह प्रबन्ध तो यहीं हो जाना चाहिये।

यहीं यह जान लेना चाहिये कि श्रीराम या श्री जानकीका शरीर पांच भौतिक नहीं है और न उनके वस्त्र, आभरण आदि ही जड़ पदार्थ हैं। श्रीराम एवं श्रीजानकीजीका शरीर सच्चिदानन्द-घन है। उनके समस्त वस्त्र, आभरण, आयुधादि चिन्मय हैं, दिव्य हैं। उनके फटने, मैले होने, खो जाने, नष्ट होने की तो कल्पना ही व्यर्थ है। अनुसूयाजी अपने तप एवं पातिव्रत्यके प्रभावसे यह सब जानती हैं। महर्षि अत्रि एवं अनुसूया-जी दोनों ही श्रीसीतारामको परात्पर परमब्रह्म जानते, मानते, समझते हैं। लेकिन यह सब होकर भी महर्षि एवं अनुसूयाजीका वात्सल्य-स्नेह है, श्रीराम एवं श्रीजानकीके प्रति। प्रेमका स्वभाव ही शंकालु है। अतः अपने वात्सल्य-स्नेहवश अनुसूयाजी श्रीजानकीके लिए वस्त्र एवं आभूषण पहिलेसे प्रस्तुत रखे हुए थीं।

ये वस्त्र और आभूषण ऐसे थे जो कभी पुराने नहीं पड़ते थे। नित्य नये जैसे रहते थे। कभी मैले नहीं होते थे। सदा निर्मल रहते थे। कभी उनकी शोभा कम नहीं होती थी। सब समय, सब ऋतुओंमें सुन्दर ही रहते थे। वाल्मीकीय-रामायण तथा अध्यात्म-रामायणके अनुसार अनुसूयाजीने वस्त्र तथा आभूषणोंके साथ अंगराग भी दिया। अध्यात्म-रामायणके अनुसार वस्त्रमें दो रेशमी साड़ियाँ और आभूषणोंमें दो रत्न-कुण्डल उन्होंने दिये।

वस्त्राभूषण देकर बड़ी सरस तथा कोमल वाणीसे अनुसूयाजीने स्त्री-धर्मका उपदेश किया। श्रीजानकीजीके लिए इस उपदेशकी कोई

आवश्यकता नहीं है, यह बात तो उपदेशके अन्तमें स्वयं अनुसूयाजीने ही कह दी। लेकिन उपदेश किया गया, उसका मुख्य कारण है स्नेह। जैसे जनकपुरसे विदा होते समय माता सुनयनाने उपदेश किया था, वैसे ही वात्सल्य वश ऋषि-पत्नीने भी यह उपदेश किया। दूसरे यह सीधा उपदेश है भी नहीं। 'कुछ व्याज बखानी' अर्थात् जिसे उपदेश किया जा रहा है, उपदेश उसके लिए नहीं है। उसे तो केवल निमित्त बनाया गया है। उसको निमित्त करके विश्वकी समस्त नारियोंको यह उपदेश किया गया है।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों जिनके पातिव्रत्यसे सन्तुष्ट होकर उनके पुत्र बने, विश्वकी सती नारियोंके परम गुरुका पद उनके उपयुक्त ही है। श्रीजनककुमारीको श्रोता बनाकर उन्होंने नारीमात्रके लिए उपदेश किया है और उनका यह उपदेश नारियोंकी 'गीता' ही है।

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥

अर० ४।५-६

हे राजकुमारी सुनो! माता, पिता, भाई तथा और भी जितने हितकारी हैं, वे सब परिमित सुख ही देनेवाले हैं; किन्तु वैदेही! नारीके लिये पति अपरिमित सुख देनेवाला है। ऐसे पतिकी जो सेवा नहीं करती, वह स्त्री अधम है।

मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत्सदा॥

—शिव पुराण

अयोध्यामें माता कौसल्याके समीप स्वयं श्रीजानकीजीने श्रीरामसे जो कुछ कहा है, मानो थोड़े शब्दोंमें अनुसूयाजी श्रीवैदेहीकी उन बातोंका ही समर्थन कर रही हैं। श्रीजानकीने कहा था—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥

अयो० ६४।१-३

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चार ही पुरुषार्थ हैं। कोई यश तथा भक्तिको भी पुरुषार्थ मानते हैं। इनमेंसे धर्म, काम, मोक्ष, और भक्ति ये चार पुरुषार्थ तो नारीके केवल पतिसे ही सिद्ध होते हैं। अर्थ और यश उसे अन्यत्रसे भी मिल सकता है। लेकिन ये दोनों दूसरोंसे एक सीमा तक ही मिल सकते हैं। असीम रूपसे इनकी प्राप्ति तो पतिके द्वारा ही होती है।

धर्म तो नारीका एक ही है—पति-सेवा तथा पतिका अनुगमन। दूसरे जितने भी व्रत, दानादि धर्म वह करती है, पतिके लिये पतिके मङ्गल या पतिके प्रेम पानेके लिये करती है। माता-पिता, भाई आदिके धर्म-अधर्म में उसका कोई भाग नहीं; किन्तु पतिकी तो वह सहधर्मिणी है। पतिके धर्म-अधर्ममें उसका तथा उसके धर्म-अधर्ममें पतिका भाग होता है।

कामकी चर्चा ही व्यर्थ है। पतिके अतिरिक्त कामका सेवन तो नरक-का द्वार है। काम पुरुषार्थकी सार्थकता ही पतिके साथ है। भक्ति और मोक्षके सम्बन्धमें मतभेद उठाया जा सकता है। लेकिन स्त्रीका आराध्य एवं गुरु पति ही है—यह हमारे शास्त्रोंकी स्पष्ट आज्ञा है। नारीके लिये पति मनुष्य नहीं है, वह परमात्माका प्रतीक है। ठीक वैसा ही प्रतीक जैसे किसी भक्तके लिए उसकी आराध्य मूर्ति होती है। नारीके लिये पति ही गुरु है। पतिसे भिन्न गुरुकी उसे कोई आवश्यकता नहीं है।

यहां मतभेद होता है। लेकिन यह जान लेना चाहिये कि जिस प्रकार पुरुष तथा स्त्रीकी शारीरिक-रचनामें अन्तर है, वैसे ही दोनोंकी मानसिक रचनामें भी अन्तर है। पुरुष शरीर और मन दोनोंसे कठोर, रूक्ष अतः अहंकारी प्रकृतिका है। वह किसीको पूरा आत्म-समर्पण कदाचित ही कर पाता है। वह अपने पैरोंपर खड़ा होना, अपने विचारसे चलना चाहता है। नारी शरीर और मन दोनोंकी दृष्टिसे सुकुमार, स्नेहमयी अतः सरल है। वह प्रेममयी, समर्पण करनेवाली है। वह लताके समान है जो सदा एक व्यक्त आश्रय चाहती है। केवल कल्पना या विचारसे उसका सन्तोष नहीं होता। वह जिस व्यक्तका आश्रय लेती है, पूरा लेती है। उसका समर्पण प्रायः पूरा होता है। नारीके इस स्वभावको समझ लेनेपर मतभेद नहीं रहेगा। सर्वज्ञ शास्त्रकारोंने इस स्वभावको समझ कर ही मर्यादाएँ बनायी हैं।

समर्पण दस-पाँचको नहीं हो सकता; वह एक को ही होगा और यदि अनेकको होने लगेगा तो वह समर्पण नहीं, व्यभिचार होगा। फिर वह केवल मानसिक हो या शारीरिक। पुरुष तो पूरा समर्पण कर नहीं पाता, इसीसे उसे बार-बार समर्पणका आदेश है। कहीं तो वह झुके, कहीं तो उसका अहंकार शिथिल हो। नारीकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है वह तो है ही समर्पणमयी। अब आप बताइये कि वह पतिको पूरा समर्पण करे या नहीं? पतिसे भिन्न आराध्य हो तो उसे समर्पण करे या नहीं। कोई गुरु हो तो उसे समर्पण करे या नहीं? तीन-तीनके प्रति समर्पण क्या शक्य है? वह किससे छल करे?

आराध्यके प्रति सम्पूर्ण समर्पण होना ही चाहिये। लेकिन नारीको तो कल्पना नहीं व्यक्त आधार चाहिये। उसके लता-धर्मी स्वभावको तो प्रगट आश्रय चाहिये। इसका फल क्या होता है कि आराध्यका स्थान वह गुरुको दे देती है। भले यह बात इसी प्रकार न कही जाय, पर होता प्रायः यही है। गुरु के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण होना चाहिये, यह भी शास्त्र कहता है और समझमें आनेकी बात है। क्योंकि हम जब तक गुरुके हाथोंमें अपने को पूर्णतः सौंप न दें, गुरुका प्रभाव एव शिक्षा सफल होनेका अवकाश नहीं पाते। जहाँ जिस मार्गमें हम अन्धे हैं, वहाँ हमें अपनेको मार्गदर्शकके हाथों-में पूरी तरह छोड़ना ही होगा। नारी जब पतिसे भिन्न गुरु बनाती है तो उसका गुरु बनाना या तो व्यर्थ होगा या गुरुके प्रति उसे कम-से-कम मान-सिक पूर्ण समर्पण करना होगा। पतिके प्रति समर्पण और गुरुके प्रति समर्पण और तब यह समर्पण है या मानसिक-व्यभिचार यह कोई समझ सकता है। समर्पणकी भावना नारीकी सहज है और आजके गुरु जैसे सदा-चारी होते हैं यह भी सब जानते हैं। फलतः नब्बेसे भी अधिक प्रतिशत नारीका गुरु बनाना शारीरिक व्यभिचारमें परिणित होता है।

शरीरसे नारी भले पवित्र रहे, पर मनमें अनेक आश्रयका दोष आये बिना रह नहीं सकता, यदि वह पतिसे भिन्न गुरु बनाती है। पति ही नारीका गुरु एवं आराध्य है। इससे मोक्ष तथा भक्तिका दाता भी एक मात्र पति ही है।

कोई अमुककी पुत्री, अमुककी बहिन, अमुककी माता है, यह पतिका यश और अमुककी पत्नी है, यह यश—दोनोंमें आप तुलना करें। पतिके

द्वारा उसे जो यश मिलता है वह यश ही ऐसा है जिसमें वह समान उल्लास अनुभव कर सकती है।

अब केवल अर्थ रह जाता है। पिता, माता, भाई और पुत्र अर्थ देते हैं—पर्याप्त दे सकते हैं, यदि वे स्नेह करते हों। लेकिन जिस प्रकार पतिकी सम्पत्तिकी स्त्री स्वामिनी होती है, जिस प्रकार पतिकी सम्पत्ति उसकी अपनी सम्पत्ति है, ऐसा पूरा अधिकार कोई भी उसे अपनी सम्पत्ति पर दे सकेगा? दो क्षणको मान लें कि पिताके कोई पुत्र न हो तो पुत्री का पूरा अधिकार पिताकी सम्पत्तिपर होता है, पुत्र मातृ-भक्त हो तो घरपर माताका पूरा स्वत्व रहता है; किन्तु उस सम्पत्तिका क्या अर्थ? रुपया, मकान, आभूषण ही तो सम्पत्ति नहीं है। उस सम्पत्तिसे सुख हो, तभी सम्पत्ति सम्पत्ति है और पति न हो तो क्या यह सम्पत्ति सुख दे सकेगी? एक विधवा नारीके लिए पिता या पुत्रका सम्पत्ति कितना सुख दे पाती है, यह भी क्या बताना होगा।

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, और भक्ति इन सबमें पति ही नारीको बिना सीमाका सुख दान करता है। नारी वहाँ पतिकी अर्धांगिनी हो जाती है। वह दान या अनुग्रह नहीं पाती, वह वहाँ स्वत्व पाती है। माता, पिता, भाई तथा दूसरे हितैषी तो इनमेंसे केवल अर्थ दे सकते हैं और वह भी एक छोटी सीमा तक ही दे सकते हैं।

ऐसे 'अमितदानि' पतिकी जो सेवा न करे, वह स्त्री अधम है। उसे कृतघ्न समझना चाहिये। यहाँ 'वैदेही' सम्बोधन यह सूचित करता है कि पतिकी सेवामें स्त्रीको अपने शरीरके सुख, शृङ्गार, सुविधा श्रम आदिका ध्यान नहीं करना चाहिये।

स्त्रियोंमें प्राय: मायके (माता-पिता-भाई) का मोह होता है। नारी अनेक बार इस मोह के कारण पति-सेवासे विमुख होती है, अनेक बार वह मायके के कारण पतिका अपमान कर बैठती है। मायके का यह मोह पति-सेवा, पातिव्रत्यका बाधक है और विचार-हीनताका द्योतक भी है, यह बात इसमें अनुसूयाजीने संकेतसे सूचित कर दी है।

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपद काल परिखिअहिं चारी॥

धर्य, धर्म, मित्र और स्त्री, इन चारोंकी परीक्षा आपत्तिके समय ही होती है।

धैर्यकी परीक्षा आपत्ति आनेपर होती है। सुख, स्वास्थ्य, सम्पत्ति यश एवं स्वजनोंके आनन्दमें तो सभी प्रसन्न रहते हैं; किन्तु जब प्राण-भय उपस्थित हो, सर्प, शेर, डाकू आदि का आक्रमण हो, जल या अग्निमें प्राण जाते दीखते हों, इसी प्रकारका और कोई संकट हो और उसमें जो घबड़ा न जाय, जो अपने मस्तिष्कको स्थिर रख सके, वह सच्चा धैर्यशाली है। रोगमें, दारुण शारीरिक पीड़ामें जो हाय-हाय न करे, रोवे-चिल्लावे नहीं, वह धैर्यशाली है। निर्धनतामें, धनके नाशमें, अपमान तथा अयश प्राप्त होनेपर तथा स्वजनोंके वियोग एवं मृत्युमें भी जिसकी बुद्धि उद्भ्रान्त न हो, जिसका विचार अभिभूत न हो जाय, वह धैर्यशाली है। किसमें कितना धैर्य है, इसकी परीक्षा उसपर जब आपत्ति आती है, तभी होती है।

धर्मकी परीक्षा भी आपत्तिकालमें ही होती है। रन्तिदेव, बलि, शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र आदिका इतना महत्व इसीलिये है कि सर्वस्वकी बलि देकर भी वे धर्मपर स्थिर रहे। स्वयं भूखसे मर रहे हों तब जो रोटी का टुकड़ा पास हो—उसके द्वारा जो अतिथिका सत्कार कर सके वह सच्चा अतिथि-सेवी। एक प्रबल शत्रुके भयसे कोई शरण आ जाय, उस शत्रुके द्वारा अपने प्राण संकटमें पड़ जाँय और तब भी जो शरणागतकी रक्षाकर सके वह सच्चा शरणागत-वत्सल। इसीप्रकार प्रत्येक धर्मकी पहिचान आपत्तिमें होती है। हम कितने धर्मनिष्ठ हैं, धर्मके पालन पर कहाँ तक स्थिर रह सकते हैं, यह तभी पता लगता है, जब उस धर्मके ऊपर स्थिर रहनेमें प्राण, मान, धन एवं स्वजनोंपर आपत्ति स्पष्ट दीखती हो।

जो सबल है, स्वस्थ है, धनी है, यशस्वी है, सम्पन्न है, उसके तो सभी मित्र हैं। लेकिन निर्बल, रुग्ण, निर्धन, अपमानित एवं विपद्ग्रस्त होने-पर भी जिनकी मित्रता बनी रहे, जो उस समय भी स्नेह, सौहार्द, सहायता प्रदान करें, वे ही सच्चे मित्र हैं।

विपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

किष्कि० ६।६

नारी अर्द्धाङ्गिनी और सुख-दुःखकी संगिनी है। पतिकी विपत्तिमें उसे साथ तो देना ही पड़ता है। पति रोगी होगा तो उसे सेवा करनी पड़ेगी, पति निर्धन होगा तो उसे कष्ट भोगना होगा, पति पर विपत्ति होगी तो उस पर भी विपत्ति ही है। वह मित्रकी भांति पृथक नहीं हो सकती। लेकिन यह सब होकर भो विपत्तिमें उसकी परीक्षा हो जाती है। बेमनसे झुंझलाकर सेवा करती है, निर्धन पतिको कटुवचन कहती है, उसकी उपेक्षा करती है या सच्चे भावसे अपने सुख, अपने शरीरकी दशा भूलकर सेवा करती है। पतिको निर्धनताका कष्ट कम से कम बोध हो, इसका वह प्रयत्न कर सकती है। पतिके दुःख एवं विपत्तिको वह बहुत अंशमें स्वयं झेलकर, प्रसन्न रहकर अपनी सेवा, प्रसन्न भाव तथा मधुर वचनसे कम कर सकती है। आपत्तिमें ही पता लगता है कि नारी सचमुच पतिसे प्रेम करती है या उसका प्रेम. वस्त्र, आभूषण एवं अपनी सुख-सुविधाके लिये ही है।

श्री अनुसूयाजी 'नारी-धर्म'का उपदेश कर रही हैं। ऊपर-ऊपरसे देखनेपर ऐसा जान पड़ता है कि नारीकी धर्म-परीक्षाकी कसौटी बताते हुये वे 'धीरज=धर्म, मित्र, इनकी बात यों ही कह गईं। प्रस्तुत प्रसंगसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन अधिक गम्भीरतासे देखें तो पता लगेगा कि यहाँ प्रसङ्गसे बाहर कुछ नहीं कहा गया है। 'धीरज, धर्म, मित्रका वर्णन भी 'नारी गीता'के वर्तमान प्रकरणमें ही है।

नारी केवल नारी ही नहीं है, वह पतिके लिये मित्र एवं सलाह देनेवाली भी है। आपत्तिके समय उसे अपने पति प्रेमके अतिरिक्त अपने धैर्य, धर्मनिष्ठा एवं मैत्रीकी भावनाको भी सुरक्षित रखना पड़ता है, पति पर आपत्ति आनेपर केवल इतनी ही परीक्षा नहीं होती कि उसकी पत्नीमें पति-प्रेम कितना है। यह परीक्षा भी होती है कि उसमें धैर्य, धर्मनिष्ठा तथा मैत्रीका भाव कितना है।

पतिव्रता सुशीला नारी विपत्तिमें पति-सेवासे विमुख नहीं होती। वह अपने खाने-पीने दुःख-सुखको भूल जाती है। वह पतिके दुःखको कम करनेका प्रत्येक प्रयत्न करती है। वह भूखी रहकर भी अपनेको प्रसन्न दिखलाती है, मधुर वचन कहती है। यह सब तो सामान्य सच्चरित्रा नारी भी करती है। अनुसूयाजीको यह साधारण बात श्रीजानकीजीसे नहीं कहनी है। वे कह रही हैं कि विपत्तिमें इतना ही नारीकी परीक्षाके लिये

पर्याप्त नहीं है। उस समय उसके धैर्य, धर्म एवं मैत्री-भावकी भी परीक्षा होती है।

पति सेवामें लगी रह कर भी वह धैर्य न रख सके तो उसकी व्याकुलता पति को और व्याकुल करेगी। पतिका आतिथ्यादि धर्म उसका भी धर्म हैं। पति-सेवा के साथ उसमें धर्म-निष्ठा भी होनी चाहिये और आपत्तिमें भी वह धर्म-परायण रहे यह होना चाहिये। साथ ही उसमें सबके प्रति मैत्री-भाव होना चाहिये। किसीसे द्वेष या शत्रुताका भाव उसमें न हो। यह सब गुण उसमें कितने हैं, यह आपत्तिमें परीक्षा हो जायेगी।

द्रौपदीजीका उदाहरण दिया जा सकता है। पाण्डवों के वनवासके समय वे कितनी सेवा-रत, धैर्यशालिनी रहीं, यह महाभारतके पढ़नेसे ज्ञात होता है। वहाँ उस विपत्तिमें भी धर्म, अतिथि-सत्कार आदिमें उनको पूरी निष्ठा रही। पाण्डवोंके प्रथम वनवासके समय देवी कुन्तीने ब्राह्मण परिवारकी रक्षाके लिये एकचक्रा नगरीमें बकासुरके पास अपने पुत्र भीमसेन को ही भेज दिया।

यह उपदेश नारी मात्रके लिये है और श्रीजानकीजीको केवल निमित्त बना कर किया जा रहा है, यह ठीक होनेपर भी यह बात भूलने योग्य नहीं है कि श्रीअनुसूयाजी सर्वज्ञ हैं और आगे वनमें जो कुछ घटित होनेवाला है, उसका कुछ आभास तो उन्हें है ही। अतः वे यहां यह भी संकेत कर रही हैं कि पति की आपत्तिमें साथ देना ही पर्याप्त नहीं हुआ करता। धैर्य, धर्म एवं मैत्री-भाव के परीक्षण का भी समय आ सकता है।

आगे की घटनाओंकी मीमांसा करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है। श्रीजनक-नन्दिनीजीमें ये सब गुण एक साथ मिलते हैं। लङ्का जैसे नगर में त्रास देनेवाली राक्षसियोंसे घिरी होनेपर भी उन्होंने हनुमानजीके साथ श्रीराघवके पास लौटना स्वीकार नहीं किया।

"अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई।" सुन्दरकाण्ड १५/३

इस हनुमानजीकी बातको उन्होंने तनिक भी समर्थन नहीं दिया, यह उनका उज्ज्वल, अचल, धर्म रावण जैसे प्रतापीको भी खद्योत कहकर

तुच्छ वता देने जैसी धीरता और उनकी मैत्री-भावनाका तो कोई क्या वर्णन करेगा—वे श्राप देकर रावणको भस्म कर सकती थीं कथा तो यह भी है कि लंका-विजयके पश्चात् हनुमानजीने उनसे अनुमति मांगी कि जो राक्षसियां उन्हें त्रास दिया करती थीं, इनको दण्ड दिया जाय, किन्तु उलटे हनुमान जी-को उन जगज्जननीकी डांट सुननी पड़ी। उन राक्षसियोंके प्रति भी उनकी मित्रता जागरूक ही रही।

इस प्रकार आपत्तिकालमें जहां धैर्य, धर्म, मित्र एवं नारीके परीक्षणकी बात कही गयी, वहीं आपत्तकालमें नारीकी पति-भक्ति, धैर्य, धर्मनिष्ठा एवं मैत्री भावके परीक्षणका संकेत भी किया गया और यह संकेत इस प्रसंगके अनुरूप ही है।

वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना।
अंध बधिर क्रोधी अति दीना।।
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना।
नारि पाव जमपुर दुख नाना।। अर० ५।८-९

बुड्ढा रोगके वश, मूर्ख, निर्धन, अन्धा, बहिरा, क्रोधी और अत्यन्त दीन—(इनमेंसे एक दो, अधिक या सब दोष एक व्यक्तिमें हो) ऐसे दोषयुक्त पतिका भी अपमान करनेपर नारी यमपुरीमें नाना प्रकारकी (दारुण) यन्त्रणाएँ भोगती है।

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्नहातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी।।

पति यदि वृद्ध या रोगी हो तो स्त्रीका कामसुख नष्ट हो जाता है। पति यदि धनहीन अति दीन हो तो स्त्रीका अर्थ सुख नहीं प्राप्त होता। पति यदि मूर्ख या क्रोधी हुआ तो स्त्रीको अकारण कष्ट देता है तथा उसका अपमान किया करता है। पति यदि अन्धा हुआ तो स्त्रीका रूप एवं शृङ्गार व्यर्थ हो जाता है और यदि बहिरा हुआ तो उसका कंठ-स्वर तथा बातचीत करनेकी उमंग नष्ट हो जाती है। इस प्रकार बुढ़ापा-रोग, निर्धनता-दैन्य, मूर्खता-क्रोध अन्धापन-बहिरापन, इन आठ दोषोंमें दो-दो दोषोंका निकटका संबन्ध है। ये ऐसे दोष हैं कि इनमेंसे एक भी पतिमें हो तो स्त्रीके सौख्यमें अत्यधिक बाधा पड़ती है।

अब मान लीजिये कि एक व्यक्ति वृद्ध है, दीर्घ रोगी है, मूर्ख है, निर्धन है, अन्धा है, बहिरा है, क्रोधी स्वभावका है और अत्यन्त दीन-निर्बल तथा असमर्थता भी है। अब ऐसे व्यक्तिकी स्त्रीके लिये संसारमें कौन-सा सुख रह जाता है? लेकिन ऐसे पतिका भी अपमान करना महापाप है। उसे कष्ट देने, उसकी उपेक्षा करनेकी तो बात ही दूर अपने आचरण तथा अपनी वाणीसे किसी प्रकार उसका अपमान होनेपर नारीको यमपुरी जाना पड़ता है। वहाँ उसे नरकमें नाना प्रकारके दारुण कष्ट भोगने पड़ते हैं।

हिन्दू-धर्मने स्त्रीके प्रति बड़ा निष्ठुर विधान किया है, यह बात सहसा आपके मनमें आवेगी। लेकिन बात इससे ठीक उलटी है। हिन्दू-धर्म भोग प्रधान नहीं है। सांसारिक सुखोंको भोगना मनुष्यका उद्देश्य है, यह हिन्दू-धर्म मानता ही नहीं। अर्थ, धर्म और काम पुरुषार्थ होनेपर भी गौण हैं। मुख्य पुरुषार्थ है। भोजन, सन्तानोत्पादन आदि तो पशु-पक्षी आदि सब करते हैं। मनुष्य जीवनका उद्देश्य है जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा पाना। हिन्दू-धर्मका लक्ष्य है मोक्ष और उसी लक्ष्यको सम्मुख रखकर जो जैसा अधिकारी है, उसके लिए वैसी ही व्यवस्था की गयी है। पुरुष-के लिए ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये तीन आश्रम कठोर त्याग, तपके हैं। इन आश्रमोंमें पुरुषको कोई सांसारिक सुख भोगनेका विधान नहीं है। केवल गृहस्थाश्रम—पूरे जीवनका एक चतुर्थांश ही सांसारिक भोगोंके लिये रखा गया है। स्त्रीके लिये इनमेंसे ब्रह्मचर्य तथा संन्यासाश्रमका विधान नहीं है। वानप्रस्थमें पतिके साथ वनमें जाना या पुत्रके पास घर रह जाना, उसकी इच्छापर है। इसे देखते हुए जो विचार करेगा, उसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि पुरुष या नारीमें कोई पक्षपातपूर्ण भेद धर्मशास्त्रने नहीं किया है।

नारी पुरुषकी अर्धांगिनी है, सहधर्मिणी है। पुरुषसे पृथक होकर वह अपने सुखकी, सुविधाकी कामना करे, यह बात ही पातिव्रत्यको महान धर्म माननेवाले समाजके लिए सोचना कलंककी बात होगी। पतिके सुखमें ही उसका सुख और दुःखमें उसका दुःख होता है। वृद्ध, रोगी, मूर्ख, निर्धन, अत्यन्त दीन, अन्धे, बहिरे, क्रोधी पुरुषको ही संसारका कौन-सा सुख होता है? वह तो दुःखी, निराश्रय, पीड़ित है। अब जो उसकी सहधर्मिणी

…के लिये ऐसे सुखोंके उपभोगकी कल्पना ही क्यों, जो सुख उसका … नहीं पा सकता । ऐसे सुख तो उसके लिये सहज त्याज्य हैं । प्रश्न … ही है कि वह पति-सेवामें कितनी सावधान रहे । यही बात यहाँ … गयी है कि उसको इतना सावधान रहना चाहिये कि सेवामें कोई त्रुटि … हो । वचन या क्रियासे किसी प्रकार पतिका अपमान न हो ।

जब तक यह बात समझमें न आ जाय कि स्त्रीके लिये पति आराध्य … तब तक हिन्दू-धर्मके आदेशका औचित्य एवं उसका रहस्य समझमें … कठिन ही है । दाम्पत्य जीवनको जो कामोपभोगका अवसर मानते … वे हिन्दू-धर्मके तात्पर्यको जानते ही नहीं । [illegible] कठोर … इसलिये नहीं है कि उसके बाद विषयोंमें लीन हुआ जाय । … के लिये गृहस्थाश्रम वानप्रस्थकी तैयारी, शेष तीन (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, …) आश्रमोंकी सेवाका अवसर तथा सन्तान-परम्परा रखनेके कर्तव्य-… का एक साधन मात्र है और नारीके लिये यह उपासनाका समय है । पति … उपास्य है, उपभोग्य नहीं ।

पति जब उपास्य है, भगवान्‌का प्रतीक है, तब वह रूपवान् है या … युवा है या वृद्ध, स्वस्थ है या रोगी, धनी है या निर्धन, मूर्ख है या … आदि प्रश्न व्यर्थ हो जाते हैं । आराधक शालिग्रामजीकी बटियाके … आदि विचार नहीं करता । उसके लिये तो वह सच्चिदा-… साक्षात्स्वरूप है । उस मूर्तिका अपमान भगवदपराध … का हेतु है ।

पतिको स्त्री कैसी मिले और स्त्रीको पति कैसा मिले, यह न पुरुष-… के हाथकी बात है और न स्त्रीके वशकी बात । प्रारब्ध-कर्म जैसा होता … सम्बन्ध भी वैसा ही प्राप्त होता है । वृद्ध, रोगी, निर्धन, क्रोधी, मूर्ख, … बहिरा आदि पति अपने प्रारब्धके दोषसे ही स्त्रीको मिला है । … किसी दूसरेका तो दोष है नहीं । प्रारब्ध-कर्मका फल तो भोग कर … समाप्त होगा । यदि प्रारब्धसे छुटकारा पानेका कोई मार्ग होता तो … निर्धन-रोगी आदि होना ही नहीं चाहता । इसी प्रकार जो सुख … में नहीं है, वह प्राप्त हो नहीं सकता । अतः स्त्रीको जो … रोगी आदि होनेसे मिला, वह तो उसके पूर्वकृत कर्मोंका ही फल … जिन सुखोंका नाश हुआ, वह भी प्रारब्धके अनुसार ही हुआ ।

यदि वह पति पर झुँझलाती और पतिका अनादर करे तो यह उसका अपराध ही होगा। यदि वह पतिकी उपेक्षा करे तो कर्तव्यसे च्युत होगी।

प्रारब्धके कष्ट दूर नहीं किये जा सकते; किन्तु उन्हें पुण्यप्रद बनाया जा सकता है। जो कष्ट भोगने ही हैं, उन्हें रोकर, झुंझलाकर भोगा जाय— इससे कष्टके साथ मनकी अशान्ति, व्यथा और प्राप्त होती है। उन्हें धैर्यसे भोग लिया जाय, इससे मनकी व्यथा नहीं होती। उन्हें कर्तव्य तथा तप मान लिया जाय, इससे उनकी व्यथा तो समाप्त ही हो जाती है, वह सब-कुछ पुण्यप्रद तप हो जाता है। उस कष्टको भोगने मात्रसे तो पूर्वकृत अशुभ नष्ट हो जाते हैं और चित्त शुद्ध होता है; किन्तु उस कष्टमें तपका भाव कर लेनेसे शुद्धि होनेके साथ तपका पुण्य भी होता है। स्त्री जब वृद्ध, रोगी आदि दोष युक्त पतिकी सेवा कर्तव्य समझकर आदरपूर्वक, श्रद्धासे करती है तो वह महान् पुण्यकी भागिनी होती है। वह पतिसेवा ही उसके मोक्षका हेतु हो जाती है।

एकइ धर्म एक व्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
अर० ४।१०

स्त्रीका एकमात्र धर्म, व्रत एवं नियम यही है कि वह शरीर, वाणी तथा मनसे पतिके चरणोंमें प्रेम रखे।

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥
—स्कन्दपुराण

भर्तैव योषितां तीर्थं तपो दानं व्रतं गुरुः।
तस्मात्सर्वात्मना नारी पतिसेवां समाचरेत्॥
--महानिर्वाण तन्त्र

'वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना।' आदि में जो बात कही गई है, अब उसी बातको यहाँ कारण देकर पुष्ट किया गया है। वहाँ यह प्रश्न उठ सकता था कि स्त्री किसी, वृद्ध, रोगी, मूर्ख, क्रोधी पति की सेवा क्यों करे? उसका अपमान करने से ही उसे नरककी यन्त्रणा क्यों भोगनी पड़ती है? यह तो माना कि मनुष्य जीवनका उद्देश्य काम एवं अर्थ पुरुषार्थ नहीं है। इन्द्रियोंकी तृप्तिमें रत होना पतनका मार्ग है। इस मनुष्य-जन्मका उद्देश्य आवागमनके चक्रसे छुटकारा पाना है। लेकिन यह उद्देश्य दूसरे साधनसे

भी तो पूरा हो सकता है। धर्म पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करानेवाला होने से ही पुरुषार्थ है। स्त्री उस धर्मका ही सहारा क्यों न ले। तीर्थाटन, जप तप, व्रत, नियम आदिके द्वारा भी तो वह मोक्षको प्राप्त कर सकती है ? इसी शंका का यहाँ अनुसूयाजीने उत्तर दिया है।

परलोक, पुनर्जन्म, परमात्मा कैसे जाने जाते हैं ? कोई किसी इन्द्रिय या यन्त्रसे इन्हें देख सकता है ! इनकी सत्ता तथा इनके स्वरूपका ज्ञान शास्त्रसे ही होता है। शास्त्रको छोड़कर इनको जाननेका कोई उपाय नहीं है। इसलिये इनको पाने तथा इनके विपरीत ले जानेवाले कर्म तथा उन कर्मों के परिणाम भी शास्त्रसे ही जाने जाते हैं। जप, तप, देवाराधना तीर्थ, व्रत, दान, पूजन, आदिका कोई फल होता है—यह बात शास्त्र ही बतलाता है। यदि कोई शास्त्र को न माने तो इन कर्मोंका फल बता पानेका भी उसके पास कोई उपाय नहीं है। कौन-सा कर्म पुण्य है, कौन-सा कर्म पाप है, यह भी शास्त्रसे ही जाना जाता है। इसीप्रकार शास्त्र यह भी बतलाता है कि कौन-सा कर्म किसे करना चाहिये और कौन-सा किसे नहीं करना चाहिये। शास्त्रकी एक बात मानी जाय और एक न मानी जाय, यह तो विचारहीनताका ही सूचक है। जिस कर्मका जो फल शास्त्र बतलाता है, वह फल तभी हो सकता है, जब वह कर्मशास्त्रमें बतायी विधिसे वह व्यक्ति करे जो उस कर्मका शास्त्रमें अधिकारी बताया गया है। जो उस कर्मका अधिकारी नहीं बताया गया है, वह विधिपूर्वक भी वह कर्म करे तो उसे उस कर्मका फल तो मिलेगा नहीं, उलटे मर्यादा भंग करने का दोष होगा।

तीर्थाटन, तपस्या, दान, व्रत, पूजा आदि अन्य धर्म नारीके मुख्य धर्म नहीं है। नारी इनको करे ही, ऐसी कोई बात नहीं है। पतिके साथ या पति की आज्ञासे इन कर्मोंको नारी कर सकती है। यदि पति की प्रसन्नतापूर्वक अनुमति हो, तो इनके करनेसे उसे पुण्यकी प्राप्ति भी होती है। लेकिन यदि पतिकी अनुमति न हो, पतिको छोड़कर, पतिकी उपेक्षा करके ये कर्म किये जायें तो नारीके लिये ये पुण्य-प्रद कर्म नहीं रहते। तब ये अपकर्म (विधर्म) हो जाते हैं और विधर्मको अधर्म की शाखा माना गया है। धर्मके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति तो होती है, किन्तु विधर्म रूप अधर्मके आचरणसे मोक्ष या स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती। उससे तो नरक की ही प्राप्ति होती है। इसलिये 'वृद्ध रोगबस जड़ आदि पतिकी सेवा

छोड़कर तीर्थाटन, व्रत, नियम, जप, पूजन, दानादिमें लगकर नारी मोक्ष या सद्गति प्राप्त कर सकती है, यह धारणा ही भ्रमपूर्ण है।

नारीका एक ही धर्म है पति सेवा, पति-प्रेम। इसका यह अर्थ नहीं कि वह सत्य, शौच, अस्तेय, अहिंसादि धर्मोंका आचरण न करे। उसका मुख्य धर्म है पति-प्रेम, पति सेवा। यहाँ सेवा तथा प्रेमका अर्थ भी समझ लेना चाहिये। प्रेम या सेवाका लक्ष्य केवल शरीरकी सेवा नहीं है। वास्तविक सेवा, सच्चा प्रेम शरीरकी अपेक्षा आत्माको महत्व देता है। आत्मोन्नति उसका उद्देश्य होता है। हम चोरी करके, झूठ बोलकर किसीको कुछ पदार्थ दे सकें, किसीके शरीरको सुख पहुँचा सकें तो यह न तो उनसे प्रेम करना है, न उसकी सेवा करना। यह तो उसका अधःपतन करना; उसे हानि पहुँचाना है। अतः जो स्त्री पतिसे प्रेम करेगी, उसके द्वारा ऐसा कोई अपकर्म हो नहीं सकता, जिससे उसकी तथा उसके पतिकी आत्मोन्नति में बाधा हो। पति पापका भागी हो, ऐसा कोई काम उससे होगा ही नहीं। सत्य, अहिंसा, सदाचार, अस्तेय, शौच आदि धर्म तो उसमें स्वभावसे निवास करेंगे।

एक ही धर्मका अर्थ यहाँ तीर्थाटन, पूजनादि धर्मों से है। इन धर्मोंका भी निषेध नहीं है, किन्तु नारीके लिये ये आवश्यक नहीं है। उसका धर्म है पति-सेवा। उस पति-सेवामें बाधा पड़े, ऐसा कोई भी धर्म उसके लिये, धर्म नहीं है। ऐसा धर्म तो उसके लिये अधर्म हो जाता है। पति-सेवामें बाधा न पड़े, पतिकी अनुमति प्राप्त हो, तब वह किसी पूजनादि अन्य धर्मोंका अनुष्ठान भी कर सकती है।

पति-सेवा ही नारीका एकमात्र व्रत है। दूसरे सब व्रत वह करे या न करे, पर पति-सेवामें उससे प्रमाद नहीं होना चाहिये। यदि किसी व्रतके पालनमें पतिकी सेवामें बाधा पड़ती हो तो वह व्रत उसके लिये त्याज्य है।

नारीका अपना कोई नियम नहीं। पति-सेवाके साथ जो नियम चल सकें, वे नियम ठीक और जो उसके विपरीत पड़ें, वे सब नियम त्याज्य। नियम, व्रत, धर्ममें नारीका आग्रह नहीं होना चाहिये। उसका आग्रह होना चाहिये पतिकी सेवामें।

काय, वचन, मन, तीनों एक साथ हों, तभी प्रेम या सेवा पूर्ण होती है। कोई शरीरसे बड़ी सेवा करे, कठोर वाणी बोले तो उसकी सेवा शान्ति

…वाली नहीं होती। शरीरसे सेवा हो और मनमें सच्चा प्रेम हो, तो भी यदि वाणीमें उपेक्षा हो तो भी उस सेवासे अशान्ति ही बढ़ती है। वाणी मधुर हो; किन्तु शरीरसे सेवा की न जाय तो केवल मधुर वाणीसे तो कुछ हो नहीं सकता। वाणी मधुर हो और मनमें सेवाका भाव हो, स्नेह हो, किन्तु शरीरसे सेवा न की जाय तो परिणाम क्या। शरीरसे सेवा भी की जाय, वाणी भी मधुर हो; किन्तु मनमें स्नेह न हो; कुढ़ते ही सेवा की जाय तो मनके भावकी अज्ञात प्रतिक्रिया तो दूसरेके मनपर होती ही है। भले वह यह समझ न सके कि क्यों उसे पूरी प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती, किन्तु उसके मनमें खेदका भाव आये बिना रह नहीं सकता।

शरीरसे सेवाका अर्थ है आलस्य, प्रमादका त्याग करके तत्परता। …से सेवा या प्रेमका तात्पर्य है उदासीनता तथा रूखापनका व्यवहार छोड़कर स्नेहपूर्ण मधुर-वचन और मनसे प्रेमका तात्पर्य है असूया, घृणा, द्वेष, अहंकार, गर्व आदि त्याग कर नम्रता, स्नेहका भाव। इस प्रकार स्त्री आलस्य, प्रमाद, रूक्ष वाणी, उपेक्षा, असूया, घृणा, गर्व आदि दुर्गुणों-से सर्वथा दूर रहकर पतिसे प्रेम करे, पतिकी सेवा करे, यही उसका एक-मात्र धर्म है।

> जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
> उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
>
> अर० ४।११-१२

वेद, पुराण, सन्त सब कहते हैं कि संसारमें चार प्रकारकी पतिव्रता स्त्रियाँ होती हैं। उनमेंसे उत्तम पतिव्रता स्त्रीके मन यह दृढ़ भाव रहता है कि उनके पतिके अतिरिक्त संसारमें दूसरा पुरुष स्वप्नमें भी नहीं है।

> चतुर्विधास्ताः कथिता नार्यो देवि पतिव्रताः।
> उत्तमादि विभेदेन स्मरतां पापहारिकाः॥
>
> × × ×
>
> स्वप्नेऽपि यन्मनो नित्यं स्वपतिं पश्यति ध्रुवम्।
> नान्यं परपतिं भद्रे उत्तमा सा प्रकीर्तिता॥
>
> —शिवपुराण

नारीके लिए पति सामान्य पुरुष नहीं है। वह परमात्माका प्रतीक। पातिव्रत्य ही नारीकी आराधना है। इसलिये जैसे भगवानकी आराधना करनेवाले भक्त चार प्रकारके होते हैं, वैसे ही पतिव्रता नारियाँ भी चार प्रकारकी होती हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
—गीता, ७।१६

राम भगत जग चारि प्रकारा।
सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
—बालकाण्ड २।१६

इनमेंसे उत्तम पतिव्रता वह कही गयी, जिसके लिये स्वप्नमें भी जगतमें दूसरे पुरुषकी सत्ता ही नहीं है। ज्ञानी भक्त की भी यही स्थिति होती है। वह और उसका आराध्य—बस ये दो रह जाते हैं वहाँ। स्वयं मर्यादा-पुरुषोत्तमने हनुमानजीसे अनन्य भक्तका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त॥
—किष्कि० ३

शैव-सिद्धान्त है कि जीवमात्र पशु हैं और उनके स्वामी होनेसे ही भगवान शिव पशुपति हैं। लेकिन नारीका जो भाव पतिके प्रति होता है। आराधनाके क्षेत्रमें उसकी तुलना वैष्णव माधुर्य भावसे ही हो सकती है। मधुर-भावके सभी आचार्य एवं शास्त्र यह निर्विवाद रूपसे मानते हैं कि पुरुष—नायक तो एक ही है। अपनी निष्ठा के अनुसार उसे आप श्रीराम कहें या श्रीकृष्ण, किन्तु वह है परात्पर परम तत्त्व। वह निखिल सौन्दर्य, माधुर्यका निवास. सर्वगत, सकलाधार है। उस परम पुरुषके अतिरिक्त कोई अन्य पुरुष है ही नहीं। जीव तो प्रकृति हैं। उनका चरम साफल्य योग्य बनने में है। एकमात्र वह परमपुरुष ही भोक्ता है।

धर्म वा आराधना कोई भी हो, उसकी चरम परिणिति पूर्णतामें ही है। यह अपनी पूर्णतामें, परम-तत्त्वसे एक हो जाती है। सारे भेद उसमें

लीन हो जाते हैं। नारी जब अपने पतिव्रत्यकी पूर्णता प्राप्त करती है, उसका पति उसके लिये हड्डी, मांस, चमड़े के योगसे गठित एक नश्वर देहधारी जीव नहीं रह जाता। जैसे आराधनाकी पूर्णता होनेपर मूर्ति पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, धातु आदि पांच भौतिक तत्वोंका पदार्थ नहीं रह जाती। उसमें अर्चावतार हो जाता है, वह मूर्ति ही सच्चिदानन्द घन परमतत्त्व हो जाती है, वैसे ही पातिव्रतकी पूर्णतापर पतिका देह या पतिकी जीव संज्ञा नारीके लिये नहीं रह जाती। नारीके लिये पति एक व्यक्ति नहीं रह जाता। पतिका शरीर और व्यक्तित्व तो वही रहता है, किन्तु वह उस पतिव्रताके लिये सच्चिदानन्दघन विग्रह हो जाता है। पतिव्रताके लिये वहीं, उसी रूपमें परमपुरुषकी वहाँ अभिव्यक्ति हो जाती है। समस्त भेद वहाँ एकाकार हो जाते हैं। 'सचराचर रूप रासि भगवन्त' हो जाता है पतिव्रताके लिये पतिका वह विग्रह।

उत्तम पतिव्रता नारी अज्ञ नहीं होती। अज्ञान वहाँ ध्वस्त हो चुका होता है। वह तो ज्ञानी है। भेदकी उसके लिये जो स्थिति है, वह ज्ञानी भक्त जैसी है। उसका पति उसके लिये जागतिक देह रहा ही नहीं। वह तो सच्चिदानन्द घन परमपुरुष है। जगतके शेष पदार्थ एवं जीव तो प्रकृतिके हैं और उस प्रकृति का मूल रूप—अधिष्ठात्री रूप स्वयं वह पतिव्रता है। उसके इस अनुभवकी कल्पनामें भी ठीक-ठीक ला पाना कठिन है। क्योंकि यह वही अनुभूतिका विषय है, जिसे ज्ञानी आत्मसाक्षात्कार तथा उपासक आराध्यसे एकात्म भावकी प्राप्ति कहता है।

'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं' का यह तात्पर्य नहीं है कि उत्तम पतिव्रताके मनमें स्वप्नमें दूसरे पुरुषका चिन्तन नहीं होता। चिन्तन होने न होने का प्रश्न तो तब उठे जब दूसरा पुरुष हो। उसके मनकी तो यह स्थिति है कि जगतमें दूसरे पुरुषकी सत्ता भी है, यह बात ही स्वप्नमें भी उसके मनमें नहीं आती।

पुराणोंमें अनेक सतियोंके चरित हैं। अनुसूइयाजीकी ही अपार महिमा है। लेकिन ऐसी सतियोंने सदा अपने पतिका स्मरण करके वे प्रभाव व्यक्त किये हैं। पति यदि एक जीव हो, एक नश्वर शरीरधारी हों तो उसके शरीर या नामके स्मरणका अर्थ क्या। उसके स्मरणसे होना-जाना क्या है लेकिन मिट्टी, पत्थरका मूर्तिमें महत्त्व नहीं होता। जब कोई सच्चा

भक्त किसी मूर्तिमें दृढ़ भाव करता है तो उस भक्तके लिये वह मूर्ति परमात्मा हो जाती है। दूसरे उस मूर्तिके स्मरणसे भले लाभ न उठा सकें किन्तु जब वह भक्त उस मूर्तिका स्मरण करता है तो उसका अर्थ होता है निखिल-ब्रह्माण्ड नायकका स्मरण और उस स्मरणके साथ उस सर्वेशकी अनन्त शक्ति व्यक्त होती है। इसी प्रकार उत्तम पतिव्रताका पति दूसरोंके लिये भले जीव हो, नश्वर देह धारी हो, किन्तु पतिव्रताके लिये तो वह परात्पर परम तत्त्व है। उसका देह सच्चिदानन्द-घन है। पतिव्रता जब अपने उग पतिका स्मरण करती है तो उसका अर्थ जीव या मरण-धर्मा मनुष्यका स्मरण नहीं होता। उसका अर्थ होता है परम पुरुष सर्वशक्तिमान परमात्माका स्मरण और इसीलिये पतिव्रताके स्मरण एव संकल्पमें उस परम पुरुष परमात्माकी अनन्त शक्ति ही व्यक्त होती है। यह पतिव्रताकी अपनी निष्ठाका प्रभाव है। जहाँ तक उसके पतिके सामान्य देह एवं जीवत्वका प्रश्न है, उसमें कोई विशेषता नहीं होती और न कोई विशेषता होना आवश्यक ही है।

ऐसी उत्तम पतिव्रता कौन ? मुझे कहना हो तो भगवती उमा एवं जगज्जननी श्रीजानकीजीका नाम ही मेरे ध्यानमें आता है। जहाँ तक मानव नारीका प्रश्न है—दूसरे पुरुषकी जगतमें सत्ता ही नहीं, यह स्थिति उसमें व्यक्त हो सकेगी या नहीं, सन्दिग्ध ही है। स्वयं श्रीअनुसूयाजीके पास जब ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अतिथि रूपसे आये और उनसे अनावरण होकर भोजन देनेकी उन्होंने मांग की तो अनुसूयाजीने उन लोगोंको अपने पातिव्रतके प्रभावसे बालक बना दिया। यह घटना यह तो सूचित करती है कि त्रिदेवों तकमें भी अनुसूयाजीका पुत्र भाव था, किन्तु जगतमें दूसरे पुरुषकी स्थिति ही नहीं—यह भाव उनमें था, यह बात इस घटना से प्रगट नहीं होती। मेरा न इतना साहस है और न इतना बोध है कि मैं किसी पतिव्रताके भावका श्रेणी विभाजनकर सकूँ, फिर अनुसूयाजी की तो चर्चा ही दूर। वे तो पतिव्रताओंकी आदर्श भूता हैं। लेकिन इस प्रसंगमें उपदेष्टासे श्रोता महत्तम है—यह बात स्वयं अनुसूयाजीने भी स्वीकार की है।

मध्यम परपति देखइ कैसें।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥

अर० ४/१३

मध्यम पतिव्रता स्त्री अन्य स्त्रियोंके पतियोंको इस प्रकार देखती हैं, जैसे उसके भाई, पिता या पुत्र हों।

या पितृभ्रातृसुतवत् परं पश्यति सद्धिया।
मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता॥

शिवपुराण

जो अपने समान वयके हैं– समानका अर्थ ठीक बराबर। एक तिथि-के जन्मे नहीं समझना चाहिये, समानका अर्थ इतना ही कि जो अपनी अवस्थासे इतने मिलते-जुलते हैं कि न तो पिताके समान वृद्ध–अधिक वयके और न पुत्रके समान बालक, कम वयके हैं—वे भाई हैं। इनमें जो अपनेसे कुछ बड़ी अवस्थाके हैं, वे बड़े भाई और जो कुछ छोटी अवस्थाके हैं, वे छोटे भाई। जो अवस्थामें अपनेसे पर्याप्त बड़े हैं वे पिताके तुल्य और जो अपनेसे अवस्थामें बहुत छोटे हैं, वे पुत्रके तुल्य।

'निज जैसे' कह कर यहाँ यह बात कही गयी है कि पतिव्रताका भाव अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषोंमें उनकी अवस्थाके अनुसार सगे पिता, भाई या पुत्र जैसा होता है। ये पिताके समान हैं, ये भाईके समान हैं, ये पुत्रके समान हैं इस प्रकार सोचकर वे संयम नहीं करतीं। उनका यह सहज स्वाभाविक भाव होता है। उनके मनमें विकार आनेको स्थान ही नहीं होता। कोई कन्या अपने पिताको देखकर कभी विकृत नहीं होगी, कोई बहिन अपने सगे भाईके पास किसी विकारका अनुभव नहीं करेगी, कोई नारी अपने सगे युवा पुत्रको देख कर मनमें कोई दुर्भावना नहीं कर सकती—यदि इसमें कहीं अपवाद पाया जाय तो उसे कलियुगका घोरतम कुप्रभाव ही कहना होगा। वह किसी कुलटाकी ही बात हो सकती है, किन्तु यहाँ पतिव्रता नारीका प्रसंग है, यह नहीं भूलना चाहिये।

उत्तम पतिव्रता तो दैवी नारी हैं। दूसरे पुरुषकी जगतमें सत्ता ही नहीं, ऐसा दृढ़ भाव तो ज्ञानकी परमावस्था है। लौकिक नारीमें इस अवस्थाकी अभिव्यक्ति कठिन ही है। लौकिक पतिव्रता नारी तो अपना तथा अपने पति एवं उससे अन्य पुरुषका भेद देखती, जानती, समझती है। उसकी दृष्टिमें दूसरे पुरुष हैं; किन्तु वे सब पुरुष या तो अपने सगे भाई हैं, या पिता हैं या पुत्र हैं। उन पुरुषोंके प्रति उसमें सहज श्रद्धा, भ्रातृत्व या

SHOT ON REDMI Y3
AI DUAL CAMERA
2019/10/27 08:5

स्नेहका भाव है। किसी भी परपुरुषको देखकर उसे यह समझ कर अपने-को संयमित नहीं करना पड़ता कि यह पुरुष उसके पिता, भाई या पुत्रके समान हैं। इस प्रकार जिसे समझकर संयमित रहना पड़ता है, वह तो तीसरी कोटिकी पतिव्रता है। 'धर्म बिचारि' आदिसे उसका वर्णन आगे होगा। इस मध्यम पतिव्रताको धर्मको विचार करके संयम नहीं करना पड़ता। संयम उसका सहज स्वभाव है। उसमें बाधा पड़नेकी कोई आशंका ही नहीं। परपुरुषके प्रति उसके मनमें काम जग ही नहीं सकता। 'निज जैसे' यही प्रगट करता है कि सभीपर पुरुषोंके प्रति उसमें सगे पिता, भाई या पुत्रका भाव सहज रूपसे रहता है। यह भाव उसे सोचकर नहीं करना पड़ता।

उत्तम पतिव्रता तो आराध्या हैं। मध्यम पतिव्रता लौकिक नारी होनेपर भी नित्य पवित्र है। शरीरसे पवित्र सभी पतिव्रता होती है। मन-से सदा पवित्र उत्तम एवं मध्यम श्रेणीकी पतिव्रता हैं। लौकिक नारीकी पहुँच यहीं तक जान पड़ती है। लेकिन यह सीमा भी भुवनबन्द्य सीमा है। इस अवस्थाकी पतिव्रता भी देववन्द्या, प्रातःस्मरणीया एवं पूज्या हैं। उनके स्मरणसे ही पापोंका नाश हो जाता है।

धर्म बिचारि समुझि कुल रहई।
सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥ अर० ४।१४

जो धर्मका विचार करके तथा अपने कुलका गौरव समझ कर संयमित रहती है, श्रुति कहती है कि वे निकृष्ट नारियाँ हैं।

बुद्ध्वा स्वधर्मं मनसा व्यभिचारं करोति न।
निकृष्टा कथिता सा हि सुचरित्रा च पार्वति॥
—शिवपुराण

ये मेरे पिताके समान हैं, ये मेरे भाईके समान हैं, ये मेरे पुत्रके समान हैं, परपुरुषसे सहवास करना महापाप है इससे लोकमें अयश और परलोकमें नरक मिलता है। इस प्रकार मनमें पाप-प्रवृत्ति जगनेपर जो मनको संयमित कर लेती है। 'मैं ब्राह्मण हूँ' क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ—कुलीन हूँ। मेरा कुल पवित्र है' सम्मान्य है। मेरे पिता, श्वसुर, पति समाजमें

आदर पाते हैं। मुझे लोग सदाचारिणी, कुलीन समझते हैं। परपुरुषका सहवास मेरे लिये उचित नहीं है। इससे मेरे कुलमें दाग लग जायगा। कोई जाने या न जानेपर मेरा पवित्र कुल मेरे पापसे अपवित्र हो जायगा। इस प्रकार अपने कुलकी पवित्रता और गौरवका विचार करके जो मनमें आयी बुराईको दबा देती है—इस प्रकार धर्मका विचार या कुलके गौरवका विचार करके जो पापसे बची रहती हैं, वे पतिव्रताओंमें निकृष्ट—तृतीय कोटिकी हैं।

'निकृष्ट तिय' कहकर अनुसूयाजी सूचित करती हैं पातिव्रत तो तभी पूरा होता है, जब मन भी पूर्णतः पवित्र हो। जब मन पवित्र नहीं है, तब शरीरके द्वारा ही पवित्र रहने वाली नारी पतिव्रता कहलाने योग्य नहीं। इससे उसे पतिव्रता न कहकर केवल 'निकृष्ट तिय,' कहा गया। वैसे निकृष्ट ही सही वह पतिव्रता है और इसी से 'जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं, में ही उसकी गणना की जा रही है। शिवपुराणके श्लोक में भी उसके लिये पतिव्रता, शब्द न देकर केवल 'सुचरित्रा' कहा गया है।

इस तीसरी श्रेणीकी पतिव्रताके मनमें विकार आते हैं। मनसे वह पवित्र नहीं रह पाती। लेकिन अपना संयम वह स्वयं बनाये रखती है। वह चाहे तो उसके पास संयम नष्ट करनेका अवसर और सुविधा है। उसे भय या अवसर न होनेसे विवश होकर संयम करना पड़ता हो, ऐसी कोई बात नहीं है। लेकिन उसका केवल मन ही विकारी है उसकी बुद्धि शुद्ध है, सत्-असत्का विचार करनेमें समर्थ और मनपर बुद्धिका नियन्त्रण भी है। धर्मका विचार, कुल गौरवका विचार करके बुद्धिके द्वारा ही वह मनमें आयी बुराईको दबा लेती है। उसका मन उसके वशमें रहता है, उसका संयम उसका अपना है।

बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥

—अर० ४।१५

अवसर न मिलने या भयके कारण जो संयम बनाये रहे, उसे अधम नारी समझना चाहिए।

पत्युः कुलस्य च भयात् व्यभिचारं करोति न।
पतिव्रताऽधमा सा हि कथिता पूर्वं सूरिभिः॥

—शिवपुराण

अवसर ही नहीं की नारी व्यभिचारकर सके। अवसर न मिलनेके कई बातें हो सकती है—वह इतनी कुरूपा, विकृतांगी आदि है कि कोई आकृष्ट ही नहीं होता, वह स्थान या समय नहीं पाती आदि। अवसर होनेपर भी पतिका, परिवारका, रोगका, समाजका भय उसे बचाता है, कोई आजायगा, गर्भाधान हो गया तो दुर्गति होगी, कोई घृणित रोग हो सकता है आदिके भयसे संयम बचा रह जाता है। ऐसी नारी अधम नारी है।

यह अधम नारी केवल शरीरसे पवित्र है। उसका मन दूषित है और बुद्धि भी दूषित है। मनमें पाप करने की बात आती है और वह पाप करना चाहती भी है; किन्तु या तो उस पापवासनाको चरितार्थ करनेका अवसर नहीं मिलता या फिर कोई न कोई भय उसे अपने पापको चरितार्थ करनेसे बचा लेता है। ऐसी नारी अधम नारी है; किन्तु पापिनी नहीं है। है यह भी पतिव्रता। कलयुगका यही पुनीत प्रताप है कि 'मानस पुण्य होइ, नहि पापा।' इसलिये जो भी पाप है, इस नारी के मन तक ही रह गया है। भले यह विवशताके ही कारण हुआ हो; किन्तु बुराई मन तक ही रह जाने से वह निष्पाप हो क्रियाके रूपमें मनकी बुराई परिणित न होनेसे उसका शरीर पवित्र है, वह पवित्र है। इसीसे वह पतिव्रता नारी मानी गयी है।

पति बंचक परपति रति करई।
रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी।
दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥

—अर० ५।१६-१७

जो नारी पतिकी प्रवञ्चना करके पर-पुरुषसे सहवास करती है, वह सौ कल्प तक रौरव नरकमें रहती है। जो क्षण भरके सुखके लिये करोड़ों-अरबों जन्मोंके दुःखको न समझे, उसके समान बुरी नारी और कौन होगी।

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिद्भिगच्छति ... कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिंगयन्ति ... च पुरुषरूपया सूर्म्या ।

—भागवत ५।२६।२०

पतिके साथ छल करके, उसे धोखेमें रखकर जो स्त्री परपुरुषसे ... करती है, उसे अरबों वर्ष तक रौरव नरककी दारुण यन्त्रणा ... पड़ती है। रु-रु एक प्रकारके ऐसे नारकीय भयानक जन्तु हैं जो ... भी बहुत अधिक क्रूर होते हैं। वे रौरव नरकके प्राणीको नोचते, ... खाते रहते हैं। अरबों वर्ष तक असदाचारिणी नारीको वे नोच-... कर खाते हैं।

... यहीं स्वर्ग तथा नरककी बात समझ लेनी चाहिए। यह संसार ... लोक है। यहां मनुष्य या किसी भी प्राणीका शरीर पांच-भौतिक ... पांचभौतिक शरीरमें सुख या दुःख भोगनेकी एक सीमा ... बहुत छोटी सीमा है वह। उससे अधिक सुख या दुःख पृथ्वीके शरीरोंसे ... नहीं जा सकता। जैसे कोई जीभका स्वाद चाहता है—उत्तमसे उत्तम ... वह सेर-दो-सेर कर लेगा। घन्टे, आध घन्टेमें उसका भोजन समाप्त ... जायगा। वह न दस पाँच दिन लगातार भोजनका स्वाद लेते रह सकता ... पांच मन भोजनकर सकता। यदि वह कुछ दिन स्वादवश अधिक ... तो पेट खराब हो जायगा। वह रोगी हो जायगा। भोजन ही ... पड़ेगा। इसी प्रकार सभी इन्द्रियोंके भोग बहुत थोड़े भोगे जा ... हैं। वह इन्द्रियाँ अधिक भोगसे रोग-ग्रस्त होकर असमर्थ हो जाती ... जैसे सुख एक सीमा तक भोगे जा सकते हैं, वैसे ही दुःख भी एक ... तक ही भोगे जा सकते हैं। किसीको बहुत पीटा जाय तो मूर्छित ... जायगा, मर जायगा। गरम रेतमें रखने, ठन्डे जलमें डुबाने आदिके ... की अधिकता होनेपर भी मूर्छा होगी और मृत्यु होगी। इसलिये इस ... के सभी शरीरोंके एक सीमा तकका सुख या दुःख भोगने को ही जीव ... है।

जब जीवके इतने अधिक पुण्य होते हैं कि मृत्युलोकमें उनका सुख-... सम्भव नहीं होता तो जीव भोगदेह पाता है। इस भोगदेहसे स्वर्ग

जाकर वह अनन्त सुख भोगता है। भोगदेहमें इन्द्रियोंकी शक्ति थकती, घटती या विकृत नहीं होती। जब उसके पुण्य स्वर्गलोकके भोग भोगकर इतने कम रह जांय कि उनका फल पृथ्वीपर मिल सके, तब वह पृथ्वीपर जन्म लेता है। पृथ्वीपर अवशिष्ट सुखोंका उपभोग करनेके लिए वह उत्तम देह, कुल एवं परिस्थिति पाता है।

जब जीवके पाप इतने अधिक हों कि उनका दण्ड पृथ्वीके शरीरोंमें सम्भव न हो तो उसे यातना-देह मिलता है। इस यातनादेहसे उसे तब नरकमें रहना पड़ता है, जब तक उसके पाप कर्म इतने कम न हो जांय कि उनका कुफल भोगना पृथ्वीके किसी शरीरमें सम्भव हो। नरक-यातना भोगकर पृथ्वीपर अवशिष्ट पापोंका दण्ड भोगनेके लिये कीड़े-मकोड़े तथा दूसरी कष्टपूर्ण स्थितियोंमें वह जन्म लेता है।

यातना-देह ऐसा होता है कि उससे जीवको अग्नि या खौलते तेलमें डाला जाय तो पीड़ा वैसी ही होती है, जैसी यहाँ किसी को अग्नि या खौलते तेलमें डालनेपर हो; किन्तु वहाँ मूर्छा होती नहीं, मृत्यु होती नहीं। वह पीड़ा लाखों वर्षों तक भोगनी पड़ती है। यातना-देहको चाहे यमदूत बार-बार टुकड़े-टुकड़े काटें या रुरु नामक जीव नोच-नोचकर खायें, पर वह यातना देह फिर अपने आप ज्यों का त्यों हो जाता है। यहाँ किसीको कुत्ते नोच-नोचकर खायें या किसीको टुकड़े-टुकड़े काटा जाय, ठीक वैसी दारुण यन्त्रणा उसे होगी और मूर्छा या मृत्यु न होनेसे लाखों-करोड़ों वर्ष उस यन्त्रणाको भोगना पड़ेगा।

कुछ क्षणोंके सुखके लिये अरबों जन्म नष्ट हुए जा रहे हैं, करोड़ों वर्ष नरककी दारुण-यन्त्रणा मिलनेवाली है, जो इस बात को न समझे, इसे महत्व न देकर उस क्षणिक सुखका ही लोभ करे, उसके समान अज्ञानी तथा बुराईमें लीन और किसे कहा जाय।

'कामी भव कर पन्थ' काम है ही नरकका द्वार। भगवान्ने गीतामें कहा है—

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ १६।२१

पतिके साथ जो स्त्रीका काम सेवन है, वह तो धर्मानुकूल, शास्त्र-विहित है। उसके सम्बन्धमें तो भगवानने कहा है—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' गीता, ७।११

धर्मका जो काम विरोधी नहीं है, उस कामको यहाँ भगवानने अपना स्वरूप बतलाया। नारी पतिकी सेवासे परमपद प्राप्त कर लेती है। लेकिन धर्मके विरुद्ध कामका सेवन नरकका द्वार है। क्षणिक सुखके प्रलोभनमें अरबों वर्षकी दारुण नरक-यातना तथा उसके बाद भी अरबों जन्म तक कीड़े-मकोड़े पशु-पक्षियोंकी योनिमें भटकते रहना—यह सर्वथा ही अज्ञान, मोह एवं दुरात्मता है।

चार प्रकारकी पतिव्रताओंका वर्णन करके इसमें कुलटा नारीकी दुर्गतिका वर्णन किया गया है। इस वर्णनका तात्पर्य है कि नारीका मन पवित्र न भी रह सके तो भी उसे शरीरसे पाप नहीं करना चाहिये। उसे नरककी दारुण यातनामें अपनेको नहीं झोंकना चाहिये। अपनी बुद्धि उसे व्यवस्थित रखना चाहिये। यदि वह धर्मका तथा कुलका विचार करके संयमित रह सके, तब तो तृतीय कोटिकी पतिव्रता मानी जायगी। यदि ऐसा न हो सके, तो भी उसे ऐसी परिस्थितिमें अपनेको रखना चाहिये कि पाप करनेके लिये अवसर मिल ही न सके। पाप करनेको अवसर मिले, ऐसे एकान्तसे उसे बचना चाहिये।

भय केवल मनुष्योंका ही नहीं होता। जीवके कर्मके साक्षी हैं सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, पृथ्वी, चन्द्रमा, दोनों सन्ध्या, दिन तथा रात्रिके अधिष्ठाता देवता, दिशाएँ काल, धर्म आदि—इन सबसे छिपाकर कोई अधर्म कर सके, ऐसा सम्भव नहीं। कहीं किसी एकान्ततम स्थानमें पापका विचार आते ही यह समझना चाहिये कि यमराजके गवाह—कर्मोंके साक्षी देवता देख रहे हैं। कोई मनुष्य देख ले तो अपयश होगा, सम्बन्धी देख ले तो मारेगा, पति देख ले तो हत्या कर सकता है; किन्तु ये कर्मसाक्षी देवता तो देखकर अरबों वर्षकी रौरव नरककी दारुण यन्त्रणामें डलवा देते हैं।

इनका देखना तो सबसे बड़े भयका कारण है। नरक-भयसे भी यदि पापसे नारी बची रहती है तो वह देहसे तो पवित्र रहती ही है। पतिव्रता नारियोंकी चौथी श्रेणीमें उसकी गणना हो जाती है। अतः नरकके भयसे भी दुष्कर्मसे नारीको बचना चाहिये।

बिनु श्रम नारि परम गति लहई।
पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥ अर० ५।१८

यदि स्त्री छलका त्याग करके पतिव्रत धर्मका अवलम्बन ले तो बिना परिश्रमके ही परमगति प्राप्त कर लेती हैं।

परमगति प्राप्त करनेके लिये पुरुषको तो बहुत कुछ करना पड़ता है। तीर्थाटन, दान, यज्ञ, व्रत, जप, तप, योग, पूजा अर्चा आदि पता नहीं कितने साधन हैं। उन साधनोंमें भी यदि वह कहीं अटक न जाय, मिट्टी या वासनाके चक्करमें न पड़ जाय तब कहीं सफल होता है। लेकिन नारीको यह कुछ नहीं करना पड़ता। पुरुषके लिये जीवन निर्वाह, कुटुम्ब पालन आदि कार्योंसे पृथक, इन कार्योंको करते हुए कोई साधनपथ अपनाना पड़ता है परम गतिकी प्राप्तिके लिये, लेकिन नारीको तो परम गति बिना श्रमके प्राप्त होती है। पति-सेवा, घरके कार्य तो उसे करने ही हैं, इनके अतिरिक्त कोई काम अलगसे—कोई अन्य साधन उसको नहीं करना पड़ता।

उसे केवल बिना छलके पातिव्रत-धर्मका अवलम्बन करना चाहिये। उसके पातिव्रत पालनमें छल अर्थात् बाहर कुछ, मनमें कुछ, सामने कुछ ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिये। पतिके प्रति उसका व्यवहार सेवापूर्ण विनम्र हो और वह विनम्रता तथा सेवाभाव उसके मनमें भी हो। केवल पतिको या दूसरोंको दिखानेके लिये दम्भ पूर्वक यह आचरण न हो।

पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई।
बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥ अर० ५।१६

पतिके विपरीत आचरण करनेवाली स्त्री जहाँ भी जाकर जन्म लेती है, वहीं युवावस्थामें पहुँचकर विधवा हो जाती है।

सृष्टिका यह एक नियम है कि जो जिस शक्तिका दुरुपयोग करता उससे वह सृष्टि नियन्ता छीन लेता है। स्त्रीके लिये पति परमगति करनेका साधन है तथा लौकिक सुखका दाता है। यदि स्त्री उस के ही विपरीत आचरण करती है तो उसका यह अधिकार छिन जाता कि पुनः उसे पतिका सुख मिले। बाल्यावस्थामें तो पति सुखका उसे नहीं होता, न आवश्यकता होती। तारुण्यावस्था प्राप्त होनेपर उसे इसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है, तभी वह विधवा हो जाती है। उसने पतिके प्रतिकूलाचरणका इस रूपमें प्रायश्चित करना पड़ता है।

यहाँ प्रतिकूल आचरणका अर्थ व्यापक मानना चाहिये। पतिके सम्मुख या उसके पीछे भी मनसे उसके विपरीत सोचना, उससे छिपाकर कोई ऐसी बात करना, जो उसे पसन्द न हो, उसको वाणीसे तिरस्कृत करना। उसकी उपेक्षा करना आदि मन, वाणी तथा कर्मके परोक्ष, प्रत्यक्ष उसके विपरीत कर्म प्रतिकूलाचरण ही कहलायेंगे।

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ॥

अर० ५।क

स्त्री सहज ही अपवित्र है, किन्तु पतिसेवा करनेसे उसे शुभ गति प्राप्त हो जाती है। पति सेवाका ही यह प्रभाव है कि तुलसी अब तक भगवान्‌को प्रिय है और उसका यश चारों वेद गाते हैं।

'अधम नारि अपावन प्रभु जग पावन' इस प्रकार श्रीरामचरितमानसमें नारीकी सहज अपवित्रताकी बात कई स्थानोंपर आयी है। इसमें न तो नारीके अपमान करनेकी भावना है। न कोई नारी द्वेषकी बात है। नारी महीनेमें रजस्वला होती है। इस अवस्थामें वह अस्पृश्य मानी जाती है। यह अपवित्रावस्था उसकी नैसर्गिक है और इससे वह बच नहीं सकती। कोई व्रत, अनुष्ठानादि वह अखण्ड रूपसे इस अपवित्रावस्थाके प्रत्येक महीने होनेके कारण चला नहीं सकती इस प्रकार जिसकी अपवित्रता स्वाभाविक है, उसके लिये उत्तम गति प्राप्त करना असम्भव जैसा होना

चाहिये। क्योंकि उत्तमगति एवं अपवित्रता सर्वथा विरोधी धर्म है। लेकिन स्वाभाविक अपवित्रताग्रस्त होनेपर भी नारी पति-सेवासे परम-पद प्राप्त कर लेती है। इसमें तुलसीका उदाहरण दिया गया है। तुलसी-वृन्दाकी कथा 'मानस' में ही आयी है—

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे ॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा ॥
परम सती असुराधिप नारी। तेहिं बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥
बाल० १२२।५-७

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह ॥ बाल० १२३

बात यह है कि स्त्रीके लिये पतिके नश्वरदेहका महत्व नहीं होता। ति उसके लिये परमात्माका प्रतीक है। जैसे कोई भक्त मूर्तिका पूजन रता है, लेकिन मूर्ति मुख्य है। मुख्य हैं वे प्रभु जिनकी मूर्ति है। अब यदि प्रभु मूर्तिमें प्रगट हो जाय तो यह उपासनाका भंग या उपासनाका नाश ही है. यह तो उपासनाकी पूर्णता और प्रभुकी कृपा है। जैसे अनेक र्तियों द्वारा एक ही परमात्माकी पूजा होती है, वैसे ही समस्त जीव रूपमें उन्हीं परम प्रभुजीका अंश हैं, पतिव्रता नारी पतिको जीव नहीं, पर-त्मा मानती है। इसलिये पतियोंके शरीरके रंग या रूप चाहे जो हों, स्त पतिव्रताओं द्वारा उनके पतिरूपसे वे जगदीश्वर ही पूजे जाते हैं। यदि वे दयामय किसीके पतिरूपमें उसे प्राप्त हो तो यह उसकी उपा-नाकी पूर्णता हुई, यह प्रभुका अनुग्रह हुआ। इसमें उसके व्रतके भंग की कोई बात ही नहीं। यह तो मूर्तिमें अर्चावतार होने जैसी दिव्य ा है।

असुरराज जालन्धरकी पत्नी वृन्दा परम पतिव्रता थी। लेकिन पति-श्वर देहमें उसे मोह हो गया था। उसका यह मोह अज्ञान ही था। पति ात्माका प्रतीक न रहकर उसके मोहका आधार हो गया। हड्डी, , चमड़ेका ढांचा ही आराध्य बन गया। लेकिन वृन्दाका पातिव्रत युक्त होनेपर भी पूर्ण था, उसके व्रतमें कोई दोष नहीं था और कोई कोई व्रत जब पूर्ण होता है, तब परमात्माकी प्राप्ति कराता ही है।

परमात्मा ही पूर्ण हैं समस्त पूर्णतायें वहीं पहुँचकर पूर्ण होती है। वृन्दाको भी उसके पतिरूपमें ही प्रभु मिले, जैसे आराधकको उसके ही आराध्य रूपमें भगवान्‌के दर्शन होते हैं।

काम या मोहमें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है। वृन्दा भगवान्‌को प्राप्त कर अपवित्र होना तो दूर, परम पवित्र हो गई। पातिव्रत परमपतिको पाकर पूर्ण एवं सफल हो गया। लेकिन उसके मोहमें बाधा पड़ी, इससे उसे क्रोध हुआ। क्रोध अज्ञानका ही सूचक है। क्रोधमें उसने विष्णु भगवान्‌को जड़ होनेका शाप दिया। सर्वसमर्थ होते हुए भी भगवान्‌ने पतिव्रता के शापको स्वीकार कर लिया। शालिग्राम रूपमें भगवान् उस शापका सम्मान करके ही धरा पर व्यक्त हुए।

वृन्दा अपने मोहवश जालन्धरकी देहके साथ सती हो गई। लेकिन उसे तो भगवान्‌ने अपना लिया था। वह जहाँ भस्म हुई, उस चिताकी भस्मसे तुलसीके पौधेकी उत्पत्ति हुई। इस तुलसी रूपमें प्रगट उस वृन्दाको प्रभुने अपनाया। अपने पातिव्रतसे वृन्दा तुलसी होकर भगवान्‌को इतनी प्रिय हो गई कि उसके बिना भगवान् शालिग्रामकी पूजा ही नहीं होती। पातिव्रतका इतना महान प्रभाव है।

उपसंहार

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित ॥ अर० ५ ख

जानकी! तुम्हारे तो नामका स्मरण करके नारियाँ पातिव्रत-धर्मका पालन करेगीं। श्रीराम तुम्हें प्राणोंके समान प्रिय हैं। यह उपदेश तो मैंने संसारकी भलाईके लिये किया है।

'तव नाम सुमिर नारि पतिव्रत करहिं' के दो भाव है एक भाव तो यह सामान्य ही है कि श्रीजनकराजनन्दिनी पति सेवाके लिये समस्त राज सुखका त्याग करके वन-वन भटकती और नाना प्रकारके कष्ट उठाती रहीं, यह स्मरण करके, इस चरितसे नारियाँ पातिव्रत-धर्मकी प्रेरणा प्राप्त करेंगी। यह मंगल-चरित उन्हें पातिव्रत धर्मपर दृढ़ करेगा। लेकिन यहां 'तव कथा' स्मरणकी बात नहीं है। यहाँ तो 'तव नाम' स्मरणकी बात

है। इसलिए दूसरा और मुख्य भाव यह है कि 'सीता' इस नामके स्मरणसे नारियोंके मनकी दुर्भावना दूर होती है यह नाम ऐसा दिव्य प्रभावमय है कि उसके स्मरणसे नारियोंमें पातिव्रतका भाव जागृत होता है। पातिव्रत-की शक्ति उन्हें मिलती है अनुसूयाजी श्रीजानकीजीको उपदेश करनेके बहाने जगतकी नारियोंको यह गुप्त मन्त्र बतला रही हैं। कहेंउं कथा संसार हित में उन्होंने यह बात ध्वनित कर दी है।

'तोहि प्रान प्रिय राम' "तुम्हें तो श्रीराम प्राणके समान प्यारे हैं। तुम्हारे लिये पति सेवा, पतिका अनुगमन, पातिव्रत-धर्मका उपदेश न किया गया है, न इसको करनेकी आवश्यकता है। यह तो तुम्हारा स्वरूप है, स्वभाव है। अर्थात् तुम तो उत्तम पतिव्रताओंमें भी परमश्रेष्ठ हो। यह उपदेश संसारकी अन्य नारियोंके लिये किया गया है। लोकमङ्गलके लिये तुम्हें निमित्त बनाकर मैंने यह उपदेश किया है। इस प्रकार अनुसूयाजीने अपना उपदेश समाप्त किया।

सुनि जानकी परम सुखु पावा। सादर तासु चरन सिरु नावा॥

अर० ५।१

— □ —

मा कहा जाय, वही माता

मातरित्येव शब्देन यां चं संभाषते नरः।
सा मातृतुल्या सत्येन धर्मसाक्षी सतामपि॥
तथा हि संगतोयः स्याद् कालसूत्रं प्रयाति सः।
तत्र घोरे वसत्येव यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

(ब्रह्म० ब्रह्मखण्ड १०।५०,५१)

मनुष्य वचन मात्रसे जिसको 'मा !' संबोधित करके बातचीत करता है, वह सत्यके अनुसार माताके ही तुल्य है। इसमें धर्म साक्षी है। सत्पुरुषों-का भी यही मत है। जो उसके साथ समागम करता है, वह कालसूत्र नामक नरकमें जाता है और उस भयङ्कर नरकमें उसे तब तक रहना पड़ता है, जब तक कि सूर्य और चन्द्रमाकी स्थिति रहती है।

सार्वभौम-गीता

प्रस्तावना—

श्रीरघुनाथजी राज्याभिषेकके पश्चात् त्रिभुवन-सम्राट्
और सम्राट् तो वे सर्वेश्वरेश्वर सदा-सबके हैं। उन्होंने अपने
-प्रजाजनके लिये जो उपदेश किया है, वह सार्वभौम
का उपदेश सर्वदा, सर्वत्र, सबके लिये ही हैं। श्रीराम-
मानसके उत्तरकाण्डके इस प्रसंगका नाम व्याख्याकारने
सार्वभौम-गीता रखा है।

मानस-गीताओंकी यह अन्तिम पांचवीं कड़ी है।

—प्रकाशक

सार्वभौम-गीता

उपक्रम

बार रघुनाथ बोलाए। गुर द्विज पुरबासी सब आए।।
गुर मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भव भंजन।।
सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी।।
अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई।।
सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई।।
अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।।

उत्तर० ४२।१-६

र्थ—एक बार श्रीरघुनाथजीके बुलवानेपर गुरु (वशिष्ठ) ब्राह्मण-
ा सब (अयोध्या) नगर निवासी (राज-सभामें) एकत्र हुए। (जब)
शिष्ठ) मुनिगण, ब्राह्मणवृन्द तथा (अन्य) सज्जन बैठ गये (तब)
(आवागमन रूपी) संसार-चक्रको नष्ट करनेवाले (प्रभु) सार्थक
कहने लगे—'समस्त नगरवासी मेरी बात सुनें ! (मैं आप लोगोंके
दयमें कुछ ममता लाकर (आपको मेरी प्रजा होनेके कारण मेरी
ननी चाहिये इस भावसे) कुछ नहीं कहता हूँ। इसमें कुछ अन्याय
कुछ प्रभुत्व (प्रगट करना) भी नहीं है। आप सब सुन लें और
च्छा लगे तो इसका आचरण करें। वही (मेरा) सेवक है, वही मुझे
प्रिय है जो मेरे (इस) आदेशको माने। (किन्तु) भाइयो। यदि मैं
न्यायकी बात कहूँ तो भय भूलकर (निर्भय होकर) मुझे रोक देना।

नामकरण—उत्तरकांडमें श्रीराघवेन्द्रने प्रजाको जो उपदेश दिया है,
नाम बहुतसे विद्वान 'राम गीता' रखनेके पक्षमें हैं लेकिन अरण्य-
ा श्रीरामगीता प्रसिद्ध है। उससे इसका पार्थक्य रखनेके लिये कुछ

सज्जन इसका नाम 'पुरजन-गीता' रखना चाहते हैं। पहिले वर्गके विद्वानों-का इससे मतभेद है। उनका तर्क है—'गीताका नामकरण सदा वक्ताके नामपर होता है, श्रोता या श्रोताओंके नामपर नहीं हुआ करता। पुरजन यहाँ श्रोतामात्र हैं।' यह तर्क सर्वथा उचित एवं बुद्धि गम्य है।

बहुत सीधा समाधान है दोनों मतोंके मध्य कि इसका नाम 'रघुनाथ गीता' या 'राघवेन्द्र गीता' रख दिया जाय। अरण्य कांडमें तो श्रीराम केवल श्रीराम हैं। अतः वहाँ का उपदेश 'राम गीता' है, किन्तु अयोध्याके सिंहासनपर अभिषिक्त होनेके पश्चात् वे श्रीरघुनाथ हो गये हैं। अब वे श्रीराघवेन्द्र हैं। अतः रघुनाथ-गीता या राघवेन्द्र-गीता ये दोनों नाम यहाँ उपयुक्त हैं।

'मुरारेस्तृतीयः पन्था' यह न्याय सार्थक करके मैंने एक भिन्न नाम इस स्थलको 'सार्वभौम-गीता' क्यों दिया ? जो लोग वक्ताके नामपर गीता-का नाम-करण करनेके पक्षमें हैं, उनसे मेरा निवेदन है कि श्रीराम केवल रघुकुलके नाथ नहीं हैं। वे तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके सार्वभौम सम्राट हैं। यह उनका उस सम्राट-पदसे दिया गया उपदेश है। इसलिये सार्वभौम-गीता' नाममें आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

जितनी गीता हैं, वे किसी विशिष्ट पुरुष द्वारा अधिकारी विशेषके लिये कही गई हैं। लेकिन यह गीता अधिकारी विशेषके लिये नहीं है। अनादिकालसे अनन्तकाल तक जितने भी मनुष्य हुए हैं, या होंगे, सबके लिये है। क्योंकि श्रीराम एक कालिक नरेश नहीं हैं। वे तो निखिल ब्रह्माण्डोंके नित्य सार्वभौम सम्राट सर्वेश्वरेश्वर हैं। सदा सर्वकालमें मानव उनकी प्रजा है। उन सार्वभौम सम्राटने अपनी प्रजामात्रको यह उपदेश दिया है। अतः यह सबके लिये सर्वकालमें आचरणीय उनका अनुशासन है। गीताओंमें भी इसीलिये यह 'सार्वभौम' है। इस उपदेशका 'सार्वभौम-गीता' नामकरणका मेरा तात्पर्य यही है।

'गुर मुनि अरु द्विज' वर्गको श्रीरघुनाथजी सम्बोधित नहीं कर रहे हैं। इस वर्गसे कुछ कह नहीं रहे हैं। तब इस वर्गको बुलवाया क्यों ? यह वर्ग भी तो बुलवानेसे ही आया है। बहुत स्पष्ट कारण है—आज प्रजाको 'अनुशासन' उपदेश करना है। वह उपदेश श्रुति, स्मृति, पुराण तथा सना-

तन मर्यादानुसार होना चाहिये। इसका निर्णय कौन करेगा कि वह इस श्रुतिस्मृत्यादिकी परम्परामें ही है ? राजा प्रजाको सन्मार्ग दिखा सकता है किन्तु वह मुनिगणों, ब्राह्मणवृन्द द्वारा अनुमोदित शास्त्रीय सन्मार्ग होना चाहिये। जिस उपदेशको मुनिगण तथा शास्त्रज्ञ-विद्वानोंका अनुमोदन प्राप्त न हो, उसकी कोई महत्ता नहीं है। अतः यह 'गुर मुनि अरु द्विज' वर्ग तो आजके अनुशासनका साक्षी रहनेके लिये आमन्त्रित किया गया है।

'नहिं अनीति कछु·····' प्रभु कह रहे हैं कि मैं जो कहने जा रहा हूँ, उसमें कुछ अन्याय नहीं है। वह श्रुति स्मृत्यादि सम्मत न्यायपथ है। उसमें मेरा कुछ प्रभुता प्रदर्शनका भाव भी नहीं। इस अनुशासनका पालन करना ही पड़ेगा, ऐसी बात नहीं है। जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। परमात्माने उसे इच्छानुसार शुभाशुभ कर्म करनेकी जो स्वतन्त्रता प्रदान की है, उसे छीन लेना 'अनीति' होगी। प्रभु कह रहे हैं—'आप सब मेरी बात सुन लें। इसे माननेके लिये आप सब स्वतन्त्र हैं। अच्छा लगे तो इसका आचरण करें।' वही गीताका 'यथेच्छसि तथा कुरु।'

लेकिन एक बात श्रीराघवेन्द्र स्पष्ट कह रहे हैं—'सब लोग मेरे इस उपदेशको माननेको स्वतन्त्र तो हैं; किन्तु मेरा सेवक वह है और वही मुझे अत्यन्त प्रिय है जो मेरे अनुशासनको माने। इसका अर्थ है कि 'जिसे मेरा सेवक रहना है, जिसे मेरा प्रिय बनना है, उसे तो मेरा अनुशासन मानना ही चाहिये।'

यह साधारण उपदेश नहीं है। श्रीराघवेन्द्रने इसे अपना 'अनुशासन' कहा है। मनुष्योंके लिये यह परम प्रभुका नित्यआदेश है। शास्त्र जो भगवदीय-वाणी हैं, उनके आदेशोंकी 'अनुशासन' संज्ञा होती है। उसी प्रकार का यह अनुशासन है, यह संकेत दिया है श्रीरघुनाथजी ने।

यह सब होनेपर भी शिष्टता, सौजन्य, शीलकी सीमा है—'जौं अनीति कछु भाखौं भाई·····' प्रभु यहाँ 'भाई' सम्बोधन करके सबको कह रहे हैं आप सब अपनेको मुझसे भिन्न न मानें। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नके समान आप सब मेरे भाई हैं। आप मेरा प्रतिवाद कर सकते हैं, मुझे रोक सकते हैं। 'भय बिसराई' सम्राटसे भय करना चाहिये, इस बातको भूल जाइये। यदि मैं कोई अनीति—अनुचित बात कहूँ तो मुझे रोक दीजिये।'

'गुरु मुनि द्विज' तो बैठे ही हैं उपदेशके साक्षी होकर। वे न भय संकोच करेंगे, न अनुचितका अनुमोदन। ऐसी अवस्थामें सामान्य प्रजावर्ग-को शीलके कारण ही यह 'बरजेहु' की बात कही जा रही है। 'गुर मुनि द्विज' अत्यन्त सदय, सहनशील हैं। वे किसी छोटी-मोटी बातपर अयोध्या-के चक्रवर्ती सम्राटको न रोकें-टोकें यह सम्भव है। यह भी हो सकता है कि जो बात 'गुर मुनि द्विज' वर्गको 'अनीति' न लगे, वह पुरजनोंमें से किसीको भ्रम, प्रमाद, विचारवैभिन्य या कुलाचार भेद से वैसी लगे। इसलिये सबको पूरी छुट्टी है कि अपना विरोध प्रगट करके अपना समाधान प्राप्त कर लें।

इसका यह भी स्पष्टार्थ है कि मर्यादा पुरुषोत्तमका यह अनुशासन अयोध्याके गुरु वशिष्ट मुनिगण, दिजवृन्द, सम्मान्य नागरिक तथा समस्त पुरजनों द्वारा अनुमोदित है। उसे सबका समर्थन प्राप्त है।

विशेषार्थ--

'एक बार रघुनाथ बोलाए' गुरु द्विज पुरवासी वृन्द स्वयं नहीं आये थे। उनको कुछ निवेदन नहीं करना था। उन्हें कहना था। उन्हें कदाचित पता भी नहीं था कि उन्हें क्यों बुलाया गया है। श्रीरघुनाथजीने उन्हें बुलाया था, श्रीरघुनाथजी उनके सम्राट थे, सम्मान्य थे, श्रद्धेय थे और परमप्रिय थे, इसलिये वे एकत्र हो गये।

गुरुदेव वशिष्ठ थे आगतोंमें, मुनिगण थे, ब्राह्मण समूह था, नगरके सम्मानित सज्जन थे तथा नगरवासी थे। वह राज-सभा थी। वहाँ मर्यादानुसार सबके बैठने या खड़े रहनेके स्थान निश्चित थे। 'गुरु मुनि अरु द्विज सज्जन' वर्ग अपने निश्चित स्थानोंपर बैठ गये।

राजाका कर्तव्य है प्रजाको सन्मार्ग दर्शन। श्रीरघुनाथजी केवल राजा नहीं हैं वे तो अनन्त दयार्णव भक्तवत्सल हैं। उनकी समस्त प्रजा उनकी परम भक्त है। अयोध्याके बालक शुकसारिकाओं तकको सिखलाते हैं—'कहहु राम रघुपति जन पालक।' ऐसे परम भक्तोंका आवागमन चक्र रूपी संसार प्रभु स्वयं नष्ट कर दिया करते हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे ऐसे भक्तोंको मोक्ष नहीं प्राप्त करना पड़ता। आज वे प्रभु अपने भक्तोंके संसारको नष्ट करनेवाला उपदेश स्वयं देने लगे हैं।

तनिक सोचनेकी बात है—आज श्रीराम 'भगत भव भंजन' उपदेश देने जा रहे हैं। स्वभावतः प्रश्न उठेगा किसे ? उत्तर तो वही है। प्रभु स्वयं कह रहे हैं 'सुनहु सकल पुरजन मम बानी।' लेकिन यहाँ 'पुरजन' बहुत व्यापक अर्थ लेकर आया है। अयोध्यावासी तो इस उपदेशका पहिले-से पालन कर रहे हैं। उन्हें इस उपदेशकी आवश्यकता क्या है ? उनके पास 'भव' है कहाँ ? श्रीराम स्वयं उनके मध्यमें हैं। अब क्या 'भव भंजन' के लिये उन्हें किसी विशेष उपदेश, आचरण या ज्ञानकी आवश्यकता शेष रह गई है ?

'सप्तकोष्टा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या।'

इस नियम-वचनको यहाँ स्मरणकर लेना चाहिये। यह मनुष्य शरीर अयोध्या है। समस्त मानव वे किसी भी कालमें हों 'पुरजन' हैं और इसी-लिये जगतके परात्पर प्रभु कह रहे हैं 'सुनहु सकल पुरजन मम बानी।' वे समस्त पुरजनोंको सम्बोधित कर रहे हैं। परन्तु वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, इसलिये अयोध्याके पुरजनोंको बुलाकर उन्हें उपदेशका निमित्त बना लिया है उन करुणावरुणालय ने।

'कहहुँ न कछु ममता उर आनी।' इसमें रघुनाथ जी ने बहुत स्पष्ट कर दिया है कि वर्तमान अयोध्या-वासियोंके ममत्वके कारण इस समय कुछ वे नहीं कह रहे हैं। अयोध्या-वासी प्रभुको परमप्रिय हैं। 'अति प्रिय मोहि इहाँके बासी' यह वे स्वयं कह चुके हैं। ऐसी अवस्थामें उनके प्रति प्रभुका 'ममत्व' तो है ही। वे श्रीराघवेन्द्रके निज जन हैं। तब 'ममत्व' से तटस्थ होकर यह 'अनुशासन' क्यों ? इसलिये कि यह उपदेश केवल उन ममतास्पद लोगोंके लिये ही नहीं है। यह मनुष्यमात्रके लिये है। अयोध्या-के पुरजन तो निमित्तमात्र हैं इस उपदेश-जाह्नवीके प्राकट्य में।

'सुनहु सकल पुरजन' प्रभु केवल पुरजनोंको सम्बोन्धित कर रहे हैं। यह उन मर्यादापुरुषोत्तमकी मर्यादा है। राजसभामें 'गुर मुनि अरु द्विज' भी हैं। यह वर्ग 'पुरजन' नहीं है। महर्षि वशिष्ठ, मुनिगण तथा ब्राह्मण समुदाय नगरमें नहीं रहता। यह तो अरण्यवासी वर्ग है। भारतमें जब तक समाजका अधःपात नहीं हुआ था, ब्राह्मणका नगरमें भवन नहीं बना था। नगर निवास तो ब्राह्मणने अपने ब्राह्मणत्वका अपमान

माना। उसकी कुटिया सदा बनमें रही। इस पूज्य वर्गको उपदेश करनेकी आवश्यकता नहीं है। भारतका सम्राट सदासे विप्रोंका शासन सिरपर लेता रहा है। उसे अनुशासित करनेकी धृष्टता कोई उद्धतनरेश भी नहीं करता। फिर क्यों क्या उपदेश देगा इन तपस्या, त्याग, तितिक्षा और ज्ञानकी सजीव साकार मूर्तियों को। ज्ञान इनके चरण-नखकी किरणों-का स्वयं निःसृत प्रवाह है।

बड़ें भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।
पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
उत्तर० ४२।७-४३

अर्थ—बड़े सौभाग्यसे मनुष्य देह प्राप्त हुआ। (यह) देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। (ऐसा) सभी (वेद-स्मृति-इतिहास-पुराणादि) ग्रन्थ कहते हैं। (यह समस्त) साधनाका धाम (तथा) मोक्षका द्वार है। (इसे) पाकर भी जिसने परलोक बना नहीं लिये, वह परलोक और इहलोकमें भी दुःख पाता है, काल, कर्म और ईश्वरको दोष लगाकर बार-बार सिर पीट कर पश्चाताप करता है।

'दुर्लभं मानुषं जन्म······················। —भागवत ७।६।१

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ उत्तर० ४३।६

चौरासी-लक्ष योनियोमें केवल मनुष्य योनि ही कर्मयोनि है। शेष सभी भोग-योनियाँ हैं। उन योनियोंमें किये कर्मोंका फल नहीं होता। जैसे सिंह जो हिंसा करता है, उससे उसे पाप नहीं होता। इसी प्रकार देवता अनेक बार यज्ञ, पूजन तथा भगवान्के दर्शन तक करते हैं। भगवान्का अवतार होनेपर तो देवता भगवद्दर्शन करते ही हैं, अनेक बार देवताओं-पर संकट आनेपर भगवान् उनके मध्य प्रगट होते हैं, किन्तु इस सबसे देव-

ताओंको मोक्ष नहीं मिलता। उन्हें पुण्य भी नहीं होता कि अधिक दिन स्वर्गमें रह सकें।

'कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः सन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥'
—भागवत ५।१९।२३

जहाँ पहुँच कर भी फिर जन्म लेना पड़ता है उस एक कल्पकी आयु वाले देवताओंके स्थानको प्राप्त करनेके बदले तो एक क्षणकी आयु भारत भूमिमें प्राप्त करना श्रेष्ठ है, जहाँ मनस्वी पुरुष एक क्षणमें समस्त आसक्ति-को त्याग कर श्रीहरिके अभयपदको चले जाते हैं।

एक भवनमें तो क्या एक कटोरे जलमें जितने कीड़े हैं, पूरी पृथ्वीपर उतने मनुष्य नहीं हैं। कितने संख्यातीत प्राणी हैं विश्व में। उनमें कितनी अल्प संख्या है मनुष्यकी यह सब सोचनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जीवनका कितना सौभाग्य है कि वह मनुष्य है।

मैं स्वस्थ, सबल सम्पन्न मनुष्यकी बात नहीं करता हूँ। एक मनुष्य है जो कोढ़से सर्वांग गलित है। कोई उसका स्वजन सहायक नहीं। सड़कके फुटपाथपर भी उसे रहने नहीं दिया जाता। उसके शरीरसे घोर दुर्गन्धि आती है। सम्पूर्ण शरीरमें कीड़े बिलबिलाते हैं। उसे नगरके बाहर कूड़ेके ढेरपर फेंक दिया गया है। कौवे उसे जीवित ही नोचने लगे हैं। कई दिनसे उसे अन्न नहीं मिला। जलके न मिलनेसे उसके कंठ सूख चुके हैं। प्यास और पीड़ाके कारण वह अब क्षणभरमें मर जायगा। इससे अधिक दुर्दशा-ग्रस्त, दयनीय मनुष्य तो नहीं सोचा जा सकता? ऐसा मनुष्य भी कम-से-कम एक बार'राम' कह सकता है और यदि वह ऐसा करता है तो देवताओं-को भी अलभ्य भगवद्धामका वह अधिकारी बन जाता है। मनुष्य जीवनका इतना दुर्दशाग्रस्त क्षण भी देवपदसे श्रेष्ठ है।

अब इस प्रकाशमें सोचिये कि मनुष्य शरीरकी प्राप्ति कितना बड़ा सौभाग्य है। जो लोग आतमहत्या करनेकी बात भी सोचते हैं—वे चाहे जितने अभावग्रस्त, क्लेशाक्रान्त हों, कितनी बड़ी भूल करते हैं। कितनी विवेक हीनताका परिचय देते हैं। कितना महान सुअवसर नष्ट करते हैं। वेद,

पुराण, इतिहास, स्मृतियाँ आदि सभी ग्रन्थ इस मनुष्य देहको—भले वह है कैसा ही कुरूप हो, कैसा ही दुर्दशाग्रस्त हो, देवताओंके लिये भी दुर्लभ बतलाते हैं।

ऐसा क्यों ? इसलिये कि यह 'साधन-धाम' है। सभी शुभाशुभ साधन इस मनुष्य शरीरके ही आश्रित हैं। एकमात्र यही कर्मयोनि है। इसी शरीरसे किये कर्म शुभाशुभ फल देते हैं। यह सुविधा अन्य किसी शरीरमें नहीं है। 'मोच्छ कर द्वारा' इस शरीरको पाकर जीव मोक्षका द्वार पा जाता है। उस द्वारमें प्रवेश करना, न करना उसकी इच्छा एवं प्रयत्नपर निर्भर है; किन्तु द्वार उसे मिल गया है। वह चाहे तो साधन करके मायाके बन्धनोंसे त्राण पा ले। आवागमनके चक्रसे छूट जाय। दूसरे किसी देहसे मुक्ति नहीं पायी जा सकती।

मनुष्य शरीर पाकर परलोक सुधारना चाहिये। 'पाइ न जेहि परलोक सवाँरा' यह बात सोद्देश्य कही गई है। इह लोक सँवारनेका तो प्रश्न है ही नहीं। क्योंकि यहाँ तो 'हानि-लाभ, 'जीवन-मरन, जस-अपजस विधि हाथ' है। 'जन्मायुभोग' ये प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होते हैं। मोह वश ही मनुष्य इनकी प्राप्तिके उद्योगमें लगा रहता है। अन्यथा प्रारब्धमें जैसा जितना धन, स्वजन संयोग, स्वास्थ्य या यश है, उतना मिलकर रहेगा तथा निर्धनता, स्वजन-वियोग, रोग, अयश भी भाग्यके अनुसार प्राप्त होंगे ही। इन्हें (अपवादोंको छोड़कर) बदला नहीं जा सकता।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' —गीता, २।४७

कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार—स्वतन्त्रता है। फल पानेमें कभी नहीं है। ऐसी अवस्थामें सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिके लिये व्यर्थ उद्योग करना—करते ही रहना अविवेक तो है ही। इस कर्म स्वातन्त्र्यका उपयोग है पारलौकिक अभ्युदय प्राप्त करने में। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। वह चाहे तो परलोक सुधार सकता है। जो ऐसा नहीं करता, वह दुर्लभ मनुष्य जन्म व्यर्थ नष्ट करता है।

'सो परम दुःख पावइ' जो परलोक 'सँवारने का प्रयत्न नहीं करता वह परलोकमें दुःख पावेगा, यह तो सीधी बात है। लेकिन 'अत्र' इस लोकमें भी दुःख पता है, यह बात समझने योग्य है।

जो परलोक बनाने का यत्न नहीं करता, वह मुक्त होगा नहीं और उससे शुभ कर्म भी नहीं होंगे। फलतः अपने अशुभ कर्मोंके परिणाम स्वरूप उसे बार-बार जन्म लेना पड़ेगा और उन जन्मोंमें उसे यही संसारमें नानाप्रकारके क्लेश भोगने होंगे। यह तो उसके लिये जन्मान्तरमें यहाँ—इस लोकमें दुःख पानेकी बात हुई। वह इस जन्ममें भी यहाँ दुःख पाता है।

कोई परलोक सुधारनेका यत्न करे या न करे, दोनों दशामें उसे सुख-दुःख तो प्रारब्धके अनुसार ही मिलेगा। ऐसी अवस्थामें जो परलोक बनानेका यत्न नहीं करता उसे यहाँ—इस जन्ममें दुःख मिलता है, यह बात कहनेका क्या अर्थ ?

जो परलोक बनानेका यत्न करता है, मानना पड़ेगा कि उसके चित्तमें परलोक प्रारब्ध तथा परमात्मापर विश्वास है। वह जानता है कि सभी अभाव, दुःख, स्वजन-वियोग, अस्वास्थ्य, अयश आदि प्रारब्धसे प्राप्त होते हैं। यह प्रारब्धका विधान कोई जड़-प्रकृतिका विधान नहीं और न किसी निर्दय न्यायाधीश का ही विधान है। यह तो दयासागर, करुणा-वरुणालय, नित्य मंगलमय भगवानका विधान है। यह उस अनन्त क्षमा-सिन्धुका मंगल विधान है जिसे दंड देना आता ही नहीं। परमात्मा पापका दण्ड नहीं दिया करता। जो क्लेशको दण्ड मानते हैं, वे तो परमात्माको जानते ही नहीं। वह अनन्त करुणार्णव कठोर होना क्या जाने। बच्चा जब गन्दे कीचड़में लथपथ हो जाता है, तब वह रोगी न हो जाय इसलिये दयामयी माता उसे पकड़ लेती है, उसके खेलनेके आग्रहकी उपेक्षा करके उसे भलीप्रकार स्नान कराती है। इसे स्नान करानेमें बच्चेको क्लेश बोध होता है। वह रोता है; किन्तु है यह माताका वात्सल्य-विधान। पाप-कर्म भी कीचड़ है। वे जीवके अन्तःकरणको मलिनकर देते हैं। क्लेश उस मलको दूर करता है दुःखादिके भोगसे जीव अपने पूर्वकृत पापोंके मलसे छूटकर शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार समस्त क्लेश, जीवको शुद्ध करनेके मंगल विधान हैं। यह बात परलोकका पथिक समझता है।

पीड़ा और दुःख ये कष्टके दो भाग होते हैं। एक बच्चेको ज्वर आता है या चोट लगती है। जबतक ज्वरकी या चोट की पीड़ा है, वह

रोता छटपटाता है। उस पीड़ाके दूर होनेपर वह खेलने लगता है। ज्वर गया नहीं, घाव पक जायगा, इसकी उसे चिन्ता नहीं। लेकिन एक वयस्क व्यक्ति ज्वर उतर जानेपर भी चिन्तित रहता है कि अभी भीतर ज्वर है। घाव पक न जाय, यह उसे चिन्ता है। यह चिन्ता पीड़ा नहीं है, पीड़ा का दुःख है।

एक बालकका फोड़ा चीरा जाता है, वह बहुत रोता-छटपटाता है। एक समझदार व्यक्तिका फोड़ा चीरा जाता है, वह प्रसन्न होता है कि सफल आपरेशन हुआ। फोड़ेको चीरनेकी वेदना दोनोंको हुई। वही पीड़ा थी। एक के मनको दुःख हुआ, वह दुःख था जो समझदार व्यक्तिको नहीं हुआ। फांसीकी आज्ञा सुना देनेपर अभियुक्तको दुःख होता है, पीड़ा नहीं होती। खुदीरामबोस को फांसीकी आज्ञा सुनाई गई तो देशपर बलिदान होनेकी इतनी प्रसन्नता उन्हें हुई कि एक सप्ताहमें उनके शरीरका वजन पाँच सेर बढ़ गया।

जो परलोक सुधारनेका प्रयत्न कर रहा है, उसे भी प्रारब्धानुसार अपयश, रोग, अभावादि प्राप्त होते हैं। शारीरिक पीड़ा उसे होती है। लेकिन उसे दुःख नहीं होता। वह प्रत्येक अवस्थाको भगवानका मंगल विधान मानकर प्रसन्न रहता है। लेकिन जो परलोक सुधारनेमें नहीं लगता, वह इस लोकके भोगोंकी प्राप्तिका बार-बार प्रयत्न करता है। उसके प्रयत्न प्रारब्धके विपरीत तो सफल हो नहीं सकते। अतः उसे विफलताका दुःख, उद्योगका श्रम, निराशा और प्रारब्ध-प्राप्त रोग, अभावादिमें मानसिक उद्वेग रूप दुःख मिलता है। उसे यहाँ इस लोकमें भी प्रारब्ध प्राप्त पीड़ाके अतिरिक्त दुःख ही दुःख मिलता रहता है।

ऐसी अवस्थामें वह बार-बार पश्चाताप करता है। 'समय ही प्रतिकूल है, मेरे प्रारब्ध कर्म बुरे हैं, ईश्वर मुझसे रूठ गया है।' आदि झूठे दोष वह काल, कर्म तथा ईश्वरपर लगाता है। उसके लगाये ये दोष सर्वथा झूठे हैं।

समय प्रतिकूलका कुछ अर्थ नहीं है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, फल भोगनेमें नहीं है। यह बात स्पष्ट शास्त्रोंने कह दी है। ऐसी अवस्थामें

फलासक्तिसे कर्म करना अपने अधिकार क्षेत्रसे बाहर प्रयत्न करना है। जब विफलता होती है, इसमें समयका क्या दोष है।

प्रारब्ध-कर्म बुरे हैं तो उन्हें बुरा किसने बनाया? वे भी तो उसी व्यक्तिके पूर्व जन्मके कर्म हैं। आज जो शुभ-कर्म नहीं करता, वह प्रारब्धको क्यों कोसता है। आजके अशुभ-कर्म आगे प्रारब्ध बनकर पीड़ा देंगे, इसपर उसे ध्यान देना चाहिये। फिर प्रारब्धसे केवल अभाव, पीड़ा आदि होते हैं। मानसिक दुःख तो व्यक्ति स्वयं बढ़ाता है। चिन्ता करनेसे तो प्रारब्धके अभावादि मिटेंगे नहीं, अपने मनको तो व्यक्ति निश्चिन्त एवं प्रसन्न बनाये रख ही सकता है।

ईश्वर न किसीसे रूठता, न किसीपर प्रसन्न होता, न किसीकी उपेक्षा करता। लेकिन यदि कोई दुराग्रही बालक बार-बार गंदे कीचड़में लेटता है तो दयामयी माता उसे बार-बार स्नान कराके स्वच्छ करेगी। ईश्वरका प्रत्येक विधान इसीप्रकार जीवके परम-मंगलका विधान है। अपने अज्ञानके कारण हम तात्कालिक सुख-दुःख ही देख पाते हैं, अपना लाभ किसमें है, यह जान नहीं पाते। इसीसे भ्रमवश ईश्वरको मिथ्या दोष देते हैं।

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

• उत्तर० ४४।१-३

अर्थ—भाइयो! इस (मनुष्य) शरीरका फल (सांसारिक) विषय भोग नहीं है। स्वर्ग (सुख) भी थोड़े समयका होता है और अन्तमें दुःख देनेवाला है (जो) मनुष्य शरीर पाकर विषय भोगोंमें मन लगाते हैं, वे मूर्ख अमृत देकर बदलेमें विष लेते हैं। उसे कभी कोई अच्छा नहीं कहेगा जो पारसमणि खोकर बदले में गुंजा उठा ले।

मर्यादा-पुरुषोत्तम बड़ी आत्मीयतासे पुरजनोंको भाई कहकर सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि इस मनुष्य शरीरका फल विषय-भोग नहीं है। मनुष्य सृष्टिकर्ताकी सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। यदि विषय भोग ही मनुष्य-शरीरका परम फल होता तो सृष्टिकर्ताने मनुष्यको विवेक

श्रोतनेकी पर्याप्त क्षमता दी होती। लेकिन मनुष्यकी कोई इन्द्रिय पशु-पक्षियोंकी उन्हीं इन्द्रियोंसे बहुत दुर्बल है। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि सृष्टिकर्तानि मनुष्यको वे इन्द्रियाँ विषय सेवनके लिये नहीं, केवल जीवनकी आवश्यकताके निर्वाह मात्रको दी हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय हैं। इनका सेवन श्रोत्र (कान) त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिकासे होता है। जहाँ तक विषय-सेवनकी बात है, उपस्थको भी इनमें ले लेना चाहिये। क्योंकि स्पर्शज विषय होनेपर भी उसकी एक मौलिकता एवं सर्वोपरि महत्ता है। अब देखिये कि कुत्ते, सिंह, गैंडे आदि की अपेक्षा मनुष्यका का कान कितना असमर्थ है शब्द ग्रहणकरने में। अफ्रीकाका गैंडा तो हाथीकी पद चाप भी दूरसे सुन लेता है। वह मनुष्य, हाथी, मृग आदिकी पदचापका भेद भलीप्रकार समझ लेता है। हमारी त्वचा स्पर्शका बहुत स्थूल अनुभव ही कर पाती है। मकड़ी-जोंक आदिको वर्षा, आँधी आदिका पता दो तीन दिन पहले लग जाता है। उनकी त्वचा उसी समय नमी या तीव्र वायुका अनुभव करती है और उसके भेद भी सूचितकर देती है। हमारे नेत्र गीध, कपोत आदि पक्षियोंकी अपेक्षा अत्यन्त दुर्बल हैं, यह सभी जानते हैं। इसी प्रकार हमारी रसनेन्द्रिय न हंसकी जीभकी तुलनाकर सकती, न अन्य अनेक छुद्र कीटोंकी रसनेन्द्रिय की। चींटी अपनी रसनेन्द्रियकी प्रबलताके कारण दूरसे मिश्री या मीठे पदार्थका अनुभवकर लेती है और वहाँ पहुँच जाती है। नासिकाकी बात तो कहने ही योग नहीं। कुत्ते तथा सभी वन्य पशु इस सम्बन्धमें मनुष्यसे बहुत सम्पन्न हैं। अब स्त्री उपस्थकी बात, सो वृषभका, शूकरराजका स्वास्थ्य देख लीजिये और सोचिये कि यदि कोई बलवान् मनुष्य भी उसीप्रकार रति लोलुप हो जाय तो क्या दशा होगी उसके शरीर की। ये उदाहरण स्पष्ट कर देते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ जीवन की आवश्यकता निर्वाह मात्रके लिये हमें मिली हैं।

स्वर्गमें निर्बाध सुख भोगा जा सकता है, यह बात ठीक है। वहाँ इन्द्रिय शक्ति अपरिमेय होती है और थकान नहीं आती। लेकिन—

'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

गीता, ९।२१

कितने दिनका है स्वर्ग सुख ? पुण्य समाप्त हुआ और स्वर्गसे पतन निश्चित है। कोई महान पुण्यात्मा हो तो भी क्या। स्वर्ग स्वयं 'स्वल्प' है। एक कल्पसे अधिक वह रह नहीं सकता। प्रलयमें स्वर्ग नष्ट हो जाता है। जीव नित्य है, उसके अनन्त-अनन्त आयु कालमें एक कल्प किस गणनामें है। कोई अंश भी तो उसे नहीं कह सकते।

'अन्त दुखदाई' कितना बुरा होता है सुख भोगनेके पश्चात् दुख भोगना। कड़वा खाकर मीठा खाना तो ठीक; किन्तु मीठा खाकर कड़वा खाना पड़े तो कड़वाहट दुगुनी जान पड़ी है। जो सुख-सम्पत्तिमें रहे हैं, सहसा उनपर विपत्ति पड़े तो कितनी व्यथा होती है उन्हें। स्वर्गमें सदा रहना हो नहीं सकता। पुण्य समाप्त होनेपर उस अपार सुखमय लोकसे आना पड़ता है इस दुःख, अभाव एवं आपत्तिग्रस्त संसारमें। स्वर्गका सुख भी इस दुखद अवसानको देखते हेय है। जिसे दुःख अभावमें ही आना है, वह कुछ काल सुख-समृद्धिमें रहकर अपनी पीड़ा द्विगुणकर ले, यह समझदारी तो नहीं है।

इसलिये वे शठ हैं—मूर्ख हैं जो मनुष्य शरीर पाकर विषय-भोगोंमें मनको लगाते हैं। यह मनको लगाना ही अमृत है। मन प्रभु में लग जाय तो नित्य अमरत्व प्राप्त हो जाय। जन्म-मरणका चक्र समाप्त ही हो जाय। इस अमृतको बदलकर वे मूर्ख विष लेते हैं। विषयोंमें मन लगाना तो विष है। इसके फल से तो बार-बार जन्म लेकर मरण होगा।

'विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
—गीता, १८।३८

इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे संयोग होनेपर जो सुख प्राप्त होता है वह राजस सुख कहा जाता है। वह प्रथम तो अमृत जैसा जान पड़ता है; किन्तु परिणाममें विषकी भाँति है।

मनको प्रभुसे लगाना अमृत है। मन प्रभुमें लगानेके प्रयत्नमें ही सन्तोष तथा आनन्द उपलब्ध होता है। अशान्ति, उद्विग्नता, मनस्ताप दूर हो जाते हैं। 'भोगमें रोग' तो प्रसिद्ध है। जो नेत्रोंके विषय रूपमें पड़ेगा, थोड़े दिनोंमें उसकी नेत्र-ज्योति क्षीण हो जायगी। जिह्वा लोलुप

अजीर्णके रोगी होकर भोजनमें असमर्थ हो जाते हैं, यह सब जानते हैं। इसीप्रकार अति कामुक व्यक्ति प्रमेहादि अनेक रोगोंसे ग्रस्त होकर नपुंसक होते देखे जाते हैं। नासिकसे गन्ध ग्रहणके लोलुपोंकी नासिका सामान्य गन्धग्रहणमें असमर्थ हो जाती है। यही दशा श्रवणेन्द्रिय एवं त्वगेन्द्रियकी है। विषय-भोग तो विष है। उन्हें अत्यन्त अल्प मात्रामें, शास्त्रानुमोदित रूपमें जीवनकी आवश्यकता मात्रके लिये ग्रहण किया जायगा। तो वे औषधिका काम देंगे। अन्यथा वे शक्तिका, जीवनका और सुख-शान्तिका विनाश करेंगे।

'गुंजा गहइ परस मनि खोई' में यही बात फिर कही गई है। गुंजा ऊपरसे बहुत सुन्दर दीखती है। उसमें रंग है, रूप है, आकर्षण है। लेकिन वह है विष। उसे खा लेनेपर बड़ा कष्ट होता है। संसारके विषय गुंजाके समान बाहरी आकर्षण रखते हैं। 'यत्तदग्रेऽमृतोपमम्' गीताके शब्दोंमें वे पहिले अमृतसे जान पड़ते हैं। उनमें रंग, रूप तथा आकर्षण होता है। लेकिन वे 'परिणामे विषमिव' हैं। उनका सेवन यहाँ भी रोग, शोक, अशान्तिदायी है और मरणान्तर भी नरकादिका देनेवाला है। लेकिन भगवत्स्मरण तो पारस है। उसके स्पर्शसे जीव परम शुद्ध हो जाता है। उस पारसको छोड़कर जो गुंजा रूप विषयभोगोंमें लगे, उसे अच्छा कोई भी कह कैसे सकता है।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

उत्तर० ४३।४-६

अर्थ—यह अविनासी जीव चार वर्गोंकी चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकता रहता है। काल, कर्म, स्वभाव तथा गुणोंसे घिरा हुआ माया द्वारा प्रेरित यह सदा घूमता ही रहता है। कभी दया करके अकारण प्रेम करने वाले भगवान कृपा करके (इसे) मनुष्य शरीर दे देते हैं।

संसारमें जीवोंके चार वर्ग हैं—उद्भिज, स्वेदज, अंडज, और जरायुज और इन चारोंकी चौरासी लक्ष योनियाँ हैं। घास, लता, वृक्षादि उद्भिज वर्गके हैं। इनमें जीव तो है; किन्तु अन्तःसंज्ञा इनमें रहती है। स्वेदसे उत्पन्न होनेवाले खटमल जैसे प्राणी स्वेदज हैं। जो अंडेसे निकलते

हैं वे अंडज और जो माताके पेटसे जरायु वेष्टित निकलते हैं वे जरायुज माने जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—जीव तो स्वर्ग-नरक आदि भी जाता है। वह देव, दानव, यक्षगन्धर्व, प्रेत-पिशाच, स्थावर-जंगम सभी बन सकता है। मर्यादापुरुषोत्तमने जीवके इन योनियोंमें जानेकी चर्चा क्यों नहीं की? इससे तो पृथ्वीपर ही स्वर्ग-नरक है, यह कहने वालोंका पक्ष ही पुष्ट होता है।

यदि श्रीराघवेन्द्रको उद्भिज, स्वेदज, अंडज और जरायुज ये पृथ्वीके प्राणी ही बतलाने थे तो 'आकर चारि' कहने के बाद 'लच्छ चौरासी' कहने को आवश्यकता नहीं थी। यदि प्राणियोंकी चौरासी लक्ष योनियोंका निर्देश अभीष्ट था तो भी 'आकर चारि' अनावश्यक हो जाता है। क्योंकि यह प्राणियोंके वर्गीकरणका प्रसंग नहीं है। इसलिए लगता है कि 'आकर चारि' यहाँ भिन्न अर्थमें आया है।

प्राणियोंके दो वर्ग पृथ्वीमें हैं स्थावर एवं जंगम और दो वर्ग अन्य लोकोंमें हैं देव तथा प्रेत। स्थावरमें पर्वतादि तथा तृण वृक्षादि सब आ जाते हैं। जंगममें स्वेदज, अंडज एवं जरायुज सभी प्राणी आते हैं। देव-वर्गके भीतर ही यज्ञ, किन्नर, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राक्षस आदि सब हैं। क्योंकि दानवादिको अनेक स्थानोंपर शास्त्रने उपदेव वर्गमें ही माना है। दैत्य-दानव देवताओंके बड़े भाई हैं भी। नरक पितृलोक तथा प्रेतलोकके सभी प्राणी प्रेत वर्गमें आ जाते हैं। इसप्रकार 'आकर चारि' का अर्थ स्थावर, जंगम एवं देव-प्रेत ये चार वर्ग मानलें तो वह सम्पूर्ण क्षेत्र आ जाता है, जहाँ जीव जन्म लेता या ले सकता है। इन चार वर्गोंमें चौरासी लक्ष योनियोंमें यह अविनाशी जीव भटकता रहता है।

जीव अविनाशी है। शरीरोंके जन्म-मरणसे वह जन्मता या मरता नहीं। इसलिये अनादिकालसे वह 'आकर चारि लक्ष चौरासी जोनि' में भटक रहा है। इस भटकनेसे उसे सहज छुटकारा नहीं मिलता न मिल सकता।

'भ्रमत' यह स्पष्टकर रहा है कि जीव इन योनियोंमें कोई योजना-पूर्वक नहीं घूमता। ऐसा नहीं है कि वह मनुष्य या किसी एक योनिसे निश्चित क्रमसे एक के पश्चात दूसरी योनियोंमें होता पूरी चौरासी लक्ष

योनियोंमें जन्म लेगा और तब फिर उसी योनिमें आवेगा। ऐसा होता त
तो यह निश्चित होता कि मनुष्य चौरासी लक्ष बार विभिन्न योनियों
जन्म लेनेके पश्चात मनुष्य हो ही जावेगा किन्तु जीव कोई ठीक याद
नहीं करता। वह तो भटकता है और आप जानते हैं कि भटकने का को
नियम नहीं हुआ करता। भटकनेवाला आगे-पीछे इधर-उधर चाहे जितन
बार भटक सकता है। यह भी हो सकता है कि कोई दस-बीस योनियों
ही बार-बार जन्म लेता रहे, कोई सैकड़ों सहस्रोंबार चौरासी लक्ष
योनियोंमें जन्म ले, किन्तु मनुष्य न हो सके अथवा कोई मनुष्य दूसरे जन्ममें
भी मनुष्य हो जाय। जीव भटकता है और भटकनेका कोई क्रम नहीं हो
सकता।

क्यों भटकता है जीव ? 'काल, कर्म, सुभाउ गुन घेरा' जीव काल,
कर्म स्वभाव तथा गुणसे घिरा—आवृत्त है, इसलिये भटकता है। यों तो
जीव ईश्वरका अंश है। उसका निज स्वरूप शुद्ध है। लेकिन अनादिकालसे
वह काल, कर्मादिसे आवृत्त हो रहा है। माया इसीलिये उसे भटका पाती
है। मायासे प्रेरित होकर वह सदा घूमता रहता है। मायाका स्वभाव ही
चंचल है। अतः जब तक जीव मायाके क्षेत्रमें है, सदा घूमता रहता है।
उसे कहीं विश्राम नहीं है।

माया त्रिगुणात्मिका है। सत्व, रज एवं तम उसके ये तीन गुण हैं।
समयके अनुसार इन गुणोंका ह्रास-विकास होकर सृष्टि-प्रलयादि होती है।
यह मायाका स्वभाव ही है। जीव भी अपने कर्मानुसार माया प्रेरित इस
जन्म-मरण चक्रमें सदा भटकता है।

प्रलयके समय जीवोंके कर्म सुप्त रहते हैं। उस समय कालके प्रभावसे
सब जीव हिरण्यगर्भमें सुप्तावस्थामें निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। यह दीर्घ-
कालीन सुप्तावस्था उनसे कर्मका नहीं कालका परिणाम है। सृष्टिके
समय वे प्रलयके पूर्वके अपने कर्मोंके अनुसार जन्म लेते हैं 'जन्मायुर्भोग'
ये कर्मके अनुसार जीवको प्राप्त होते हैं। कर्मके अनुसार जन्म प्राप्त
होनेपर जीव मनुष्य योनिके अतिरिक्त अन्य सभी योनियोमें स्वभावके पर-
तन्त्र होता है। जिस योनिके जीवका जो नैसर्गिक स्वभाव है, उसके अनु-
सार ही वह व्यवहार करेगा। सिंहमें हिंसक वृत्ति, कपिमें चपलता आदि
स्वाभाविक गुण हैं। पक्षी बिना सिखाये अपने वर्गके पक्षियोंके समान

घोंसले बना लेता है। मनुष्य यद्यपि कर्मयोनिका प्राणी है, फिर भी उसमें अपने कुल तथा माता-पिताके स्वभावके संस्कार आते हैं। उस स्वभावका उसपर कुछ न कुछ प्रभाव रहता ही है प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। अतः सभी जीवोंके शरीर त्रिगुणात्मक हैं। हमारी सब क्रिया त्रिगुणोंसे प्रेरित ही होती हैं।

इसप्रकार जीव काल, कर्म स्वभाव तथा गुण (त्रिगुण) से घिरा है। इनके द्वारा वह आवृत है। उनके साथ तीन शरीर सदा रहते हैं। लिंग शरीर (कारण शरीर) और सूक्ष्म शरीर तो जीवके साथ सभी योनियोंमें जाते हैं। तीसरा शरीर उसे प्राप्त होता रहता है। जब वह पृथ्वीपर जन्म लेता है तो तीसरे शरीरके रूपमें उसे स्थूल शरीर मिलता है। यह शरीर पंचभूतात्मक है और त्रिगुणात्मक तो है ही। स्थूलशरीर जब मृत्युके समय छूटने लगता है तो प्रकृति या मायाके स्वभावके अनुसार एक देह मिलता है जिसे आतिवाहिक देह कहते हैं। आतिवाहिक देहका आश्रय लेकर जीव स्थूल देह छोड़ता है। आतिवाहिक देहसे नरक गया तो वहाँ आतिवाहिक देह छोड़कर यातना देह पाता है और स्वर्ग या गन्धर्वादि लोकोंमें गया तो वहाँ उस लोकके अनुरूप भोग देह पाता है। ये यातना देह या भोग देह कर्मानुसार मिलते हैं।

प्रलयमें हिरण्यगर्भमें प्रसुप्त रहना और सृष्टिके समय जन्म लेना यह जीवकी काल परतन्त्रता है। स्वर्ग, नरक या पृथ्वीमें जन्म लेकर नाना-प्रकारके सुख-दुःख भोगना कर्म परतन्त्रता है। आतिवाहिक देह ग्रहण करना, अपने स्थूल देहकी विशेषताके अनुसार व्यवहार करना यह स्वभाव-जन्य परतन्त्रता है और यह सब त्रिगुणात्मक है। गुणोंसे तो वह सब कहीं, सब अवस्थाओंमें घिरा है।

जब तक जीव गुणोंसे घिरा काल, कर्म तथा स्वभावके परतन्त्र है, तब तक वह बन्धनमें है। तब तक मायाके क्षेत्रमें है। तब तक मायासे प्रेरित वह भटकता रहता है। अनादिकालसे जीव इसीप्रकार भटक रहा है।

इस भटकते हुए जीवपर कृपा करके भगवान उसे मनुष्य शरीर देते हैं। इसलिये देते हैं कि 'बिनु हेतु सनेही' हैं। बिना कारणके वे जीवसे

स्नेह करते हैं। स्नेह करना उनका स्वभाव है। उनके स्नेहका कोई कार नहीं हुआ करता।

'कबहुँक' यही एक विचारणीय शब्द यहां है। भगवान्का स्वभा है जीवसे स्नेह करना। वे अत्यन्त करुणार्णव हैं। सर्वज्ञ हैं और सर्व सम हैं। ऐसी अवस्थामें वे कभी कृपा क्यों करते हैं ? क्या वे सदा कृपा नह करते ? क्या उनकी कृपा भी कभी-कभी और किसी-किसी पर होती है उनमें ऐसा पक्षपात क्यों है कि जब कुछ जीवोंपर कृपा करके उन्हें मनुष्य शरीर देते हैं तो शेषको अन्य योनियोंमें पड़े रहने देते हैं ?

भगवान् अनन्त कृपासागर हैं। उनकी कृपा सदा सर्वदा अजस धाराके रूपमें प्रवाहित हो रही है और सबके लिये हो रही है। शास्त्र औ संत यह पुकार-पुकार कर कहते हैं। ऐसी अवस्थामें 'कबहुँक' का अ क्या ?

'कबहुँक' कभी मनुष्य शरीर दे दिया जाय—ऐसा भगवान्क विधान है। यह विधान सब जीवोंके लिये समान रूपसे है। यह उस 'बिन् हेत सनेही' प्रभुकी कृपाका विधान है। इसे समझनेके लिये पुनर्जन्मका नियम समझना आवश्यक है।

मनुष्य ही कर्मयोनिका प्राणी है। मनुष्य योनिमें हुए (किये) कर्म ही जीवको नाना योनियोंमें भोगने पड़ते हैं। भगवान्ने गीतामें स्पष्ट बत दिया है कि ममुष्य जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ेगा, उसी भावके अनुरूप उसका जन्म होगा।

मनुष्य जब शरीर छोड़ता है तब उसके कर्माशयमें अनन्त कर्म संस्कार होते हैं। ये संस्कार केवल इसी मनुष्य जन्म के नहीं होते, पिछले सैकड़ों—सहस्रों मनुष्य जन्मके वे कर्म सस्कार भी होते हैं, जो अब तक भोगे नहीं जा सके हैं। उस पूरी कर्म राशिमें-से मनुष्य शरीर छूटते समय जो अन्तिम भाव था, उस भावके अनुसार शरीर मिले—ऐसे संस्कार पृथक होकर एक प्रारब्ध बना लेते हैं। फिर उस प्रारब्धसे समन्वय करते संस्कार दूसरा प्रारब्ध बनाते हैं। इस प्रकार प्रारब्धोंकी एक शृङ्खला उसी समय कर्म नियन्ताकी प्रेरणासे बन जाती है। यह प्रारब्ध शृङ्खला तब तक बनती जाती है, जब तक मनुष्य-योनि देनेका प्रारब्ध न बन जाय। इसी

प्रारब्ध शृङ्खलाके अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेता हुआ जीव अन्तमें मनुष्य देह पाता है।

भगवान्का यह दयामय विधान है कि जीव की प्रारब्ध छोटी-से-छोटी बने। जीवके प्रारब्ध उसके संचित कर्मोंमें-से इस प्रकार छाँटकर बनें कि वह यथा सम्भव शीघ्र मनुष्य बन सके और इस प्रकार उसे अवसर मिले कि भजन-साधन कर अवशेष संचित कर्मोंकी अपार राशिको भस्म कर सके। मनुष्य कब फिर मनुष्य होगा? इसका उत्तर है कि उसके कर्म जितनी शीघ्र उसे ऐसा अवसर देने योग्य हों—तभी। कभी भी दया करके वह अकारण कृपालु उसे मनुष्य जन्म दे देता है, यह बात इसी उदार विधानको सूचित करती है।

नर तनु भव-बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

उत्तर० ४३।७-४४

अर्थ—मनुष्य शरीर संसार रूपी समुद्रके लिये बेड़ा (नौका) है। मेरी (भगवान्की) कृपा सम्मुख चलती (अनुकूल) वायु है। (इस) दृढ़ नौका के सद्गुरु कर्णधार हैं। (इस प्रकार) दुर्लभ साधन सुलभ कर पाया है। जो मनुष्य ऐसा साधन पाकर भी संसारको पार न कर जाय, वह मंद बुद्धि कृतघ्न (उपकारीकी निन्दा करनेवाला) है, आत्मघातीकी गति प्राप्त करता है।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

—भागवत ११।२०।१७

इस श्लोकका अर्थ करना अनावश्यक है। मानसके ऊपर दी गई चौपाई और दोहे तथा श्लोकके अर्थ सर्वथा एक हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि श्रीमद्भागवतमें भी यह भगवान श्रीकृष्णचन्द्रका श्रीमुख-वचन ही है।

नरःतनु' इसमें ऐसी कोई शर्त नहीं कि मनुष्य किसी वर्ण विशेष का हो या आश्रम विशेष स्वीकार करे। किसी भी वर्णका, किसी भी आश्रम का कोई भी मनुष्य हो। वह किस देशमें उत्पन्न हुआ, किस धर्मको मानने वाला है, इससे भी कोई सम्बन्ध नहीं। स्त्री है या पुरुष, बालक है या वृद्ध, युवा है या तरुण, रोगी है या स्वस्थ, सबल है या दुर्बल, धनी है या कंगाल—ये बातें व्यर्थ हैं। मनुष्य है—मनुष्यका शरीर मिला है, बस। कैसा भी कुरूप, असमर्थ, रोगग्रस्त देह मिला हो, कोई भी स्थिति प्राप्त हुई हो, लेकिन है वह मनुष्य-शरीर संसार-सागरसे पार होनेके लिये बेड़ा—दृढ़ नौकाओंका समुदाय है। 'दृढ़ नावा' कहकर बेड़ेका स्वरूप प्रगट कर दिया है आगे। मनुष्य भगवान्का नाम मरण-शय्यापर पड़े-पड़े भी ले सकता है। गूंगा, कोढ़ी, महारोगी भी मन से भगवान्का स्मरण कर सकता है। सच्चे मनसे प्रभुका एक क्षणका स्मरण मनुष्यको संसार-सागर से पार कर देता है।

संसार-सागर है। इस 'भव वारिधि' से पार होनेके लिये मनुष्य-देह रूपी दृढ़ नौका का बेड़ा प्राप्त हुआ। उस बेड़ेकी उपयोगिता नहीं, यदि वायु अनुकूल न हो। लेकिन 'सनमुख मरुत' अर्थात् अनुकूल वायु तो भगवान्का अनुग्रह है जो सब जीवोंको नित्य प्राप्त है। प्रभु नित्य सानुकूल रहते हैं। वे जीवको अपनानेको सदा प्रस्तुत हैं। उनके अनुग्रहका हम अनुभव नहीं करते, इसलिये उससे लाभ नहीं उठा पाते। पवनका लाभ वही नौकारोही कर पाता है जो उसकी दिशा ठीक अनुभव करके उसके अनुसार अपने पाल लगाये रख सके।

नौका और अनुकूल वायु ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यक है कर्णधार जो नौकाको ठीक दिशामें ले जाय। ठीक मार्ग-दर्शन मिलनेसे चलनेकी इच्छा होनेपर और चलनेपर भी यात्री अपना लक्ष्य नहीं पाता। वह प्रायः भटक जाता है। यह भी सम्भव है कि वह लक्ष्यसे सर्वथा विपरीत दिशामें चला जावे। इस मनुष्य-शरीर रूपी नौकाके कर्णधार सद्गुरु हैं। यहाँ मर्यादापुरुषोत्तमने केवल गुरु न कहकर सद्गुरु कहा है। कानमें मन्त्र देने-वाले गुरु होते हैं। यह साधारण समझकी बात है कि केवल मन्त्र दीक्षा लेनेसे कोई संसार-सागरसे नहीं तर जायगा। जो स्वयं संसार-सागरसे पार नहीं हुआ, वह दूसरेको कैसे पार करेगा। इसलिये सद्गुरु आवश्यक है।

'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं' यहाँ सद्गुरुका लक्षण बताया
ा है। सबसे पहिली शर्त है कि गुरु श्रोत्रिय—शास्त्रोंका मर्मज्ञ हो। वह
ाह या शास्त्र-ज्ञान शून्य न हो। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी या भगवद्दर्शन प्राप्त
ापुरुष यदि शास्त्र-ज्ञान रहित हुआ तो वह जिस मार्ग का साधक है,
ल उसी का उपदेश सबको करेगा। वह अधिकारीका निर्णय नहीं कर
ेगा। आज देशमें अनेक सम्प्रदाय ऐसे हैं जो सन्तों द्वारा चलाये गये हैं।
के प्रवर्तक महापुरुष थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन शास्त्रज्ञ न
ेसे शास्त्रोंके अनेक रहस्य उन्हें अज्ञात रहे। मूर्ति-पूजा, अवतार-वाद
ादिका खण्डन उनके द्वारा भगवण हुआ क्योंकि वे इनको अपनाकर
ाका लाभालाभ नहीं देख सके थे। इस प्रकार महापुरुष होनेपर भी उन्होंने
ाचार्य पद स्वीकार किया तो समाजका लाभ नहीं हुआ। उलटे समाजमें
ान्ति ही फैली।

जो शास्त्रज्ञ नहीं, उसे गुरु आचार्य नहीं बनना चाहिये। उसे गुरु
नाना भी नहीं चाहिये। भले वह आत्म-साक्षात्कार कर चुका हो या
गवद्दर्शन प्राप्त हो। क्योंकि कौन किस मार्गका अधिकारी है, इसका
ार्णय करनेमें वह असमर्थ होता है। वस्तुतः तो ऐसे महापुरुषको गुरु
नना ही नहीं चाहिये।

'ब्रह्मनिष्ठं' जो आत्मसाक्षात्कार या भगवद्दर्शन नहीं प्राप्त कर
ाका, किन्तु शास्त्रज्ञ विद्वान् है, वह गुरु हो सकता है, लेकिन सद्गुरु वह
ी नहीं है। वह किसीका गुरु बन जायगा तो कोई अनर्थ नहीं होगा। वह
शिष्यको शास्त्र प्रतिपादित मार्ग ही बतावेगा। लेकिन संसार-सागरसे
ार होनेके लिये वह अपनी अनुभूति जन्य सहायता नहीं दे सकेगा।

शास्त्र-ज्ञान रहित महापुरुषोंको ऐसे वैद्यकी उपमा दी जा सकती
है जो चिकित्सा शास्त्रसे अनभिज्ञ हैं, किन्तु उन्हें किसी एक रोगकी औषधि
हाथ लग गयी है। रोगीकी प्रकृतिका निर्णय तो वे कर नहीं सकते, उस रोग
के सभी रोगियोंको वही औषधि देते रहते हैं। वस्तुतः उन्हें चिकित्सा नहीं
करना चाहिये। केवल शास्त्रज्ञ-गुरु ऐसे वैद्य हैं जिसने वैद्यक-शास्त्र कंठस्थ
कर लिया हो, किन्तु चिकित्साका अनुभव न हो। ऐसे वैद्यसे भी भूल सम्भव
है। जैसे शास्त्रज्ञ एवं अनुभवी चिकित्सक ही ठीक वैद्य है; वैसे ही जिन्हें

शास्त्रज्ञान और भगवद्दर्शन दोनों प्राप्त हैं, वही सद्गुरू हैं । वे ही गुरू बनने—बनाने योग्य हैं ।

यावत्यर्णानिमन्त्रादेः स्त्रीशूद्रावि भ्योदापयेतः ।
तावत्यो ब्रह्महत्यांहः स्वयमाह प्रजापतिः ॥

—शातातप स्मृति

स्त्री तथा शूद्रको यदि कोई मन्त्र-दीक्षा देता है तो मन्त्रमें जितने अक्षर होते हैं, उतनी ब्रह्म हत्या का पाप दीक्षा देनेवाले को होता है, यह बात स्वयं प्रजापति ब्रह्माजी ने कही है ।

यद्यपि तन्त्र ग्रन्थोंमें तथा एकाध अन्य ग्रन्थोंमें स्त्रीको दीक्षा देनेके कुछ गिने चुने थोड़े वाक्य मिल जाते हैं; किन्तु स्मृतिका वचन तन्त्र एवं पुराणसे प्रबल प्रमाण होता है और श्रुति तथा स्मृतिमें दीक्षाकी आज्ञाके जो वचन हैं, उनमें केवल पुरुष को दीक्षाकी बात है । स्त्री को दीक्षा देने-का निर्देश कहीं मिलता नहीं ।

अब प्रश्न उठता है कि स्त्री-शूद्र भी तो मनुष्य हैं । तब वे संसार-सागरसे पार करनेवाले सद्गुरु रूपी कर्णधारसे वंचित क्यों रखे जावें ? इसका समाधान तो सरल है । सद्गुरुसे वंचित रखनेकी कहीं कोई बात नहीं है । उन्हें मन्त्र दीक्षा नहीं दी जा सकती, लेकिन केवल मन्त्र दीक्षा लेकर ही गुरु मिलते हैं, ऐसी कोई बात नहीं है । दीक्षा-गुरु ये प्रसिद्ध हैं । स्त्री-शूद्रादि के भी शिक्षा गुरु—उपदेष्टा तो हो ही सकते हैं । उन्हें कोई भगवद्-भजन या परमार्थ साधनका उपदेश ही न करें, ऐसी आज्ञा न शास्त्र देता है न ऐसे दुराग्रहका कोई साहस कर सकता है ।

गुरु चाहे दीक्षा लेकर बनाये जावें या शिक्षा मात्र से; किन्तु सद्गुरु हों । अर्थात् शास्त्रज्ञान तथा भगवद्दर्शन प्राप्त हों । ऐसे सद्गुरु मिलें कहाँ ? इसका सीधा उत्तर है कि जिसमें श्रद्धा-विश्वास है, उसके लिये ऐसे सद्गुरु आज भी दुर्लभ नहीं । लेकिन जिसे ऐसे गुरु न मिलें, श्रीराम-चरितमानस, गीता या श्रीमद्भागवत उसका साक्षात् शिक्षा-गुरु है । वे इन भगवत्स्वरूप ग्रन्थोंको अपना गुरु मानकर उनमें बताये मार्ग पर चलें । ये ग्रन्थ उनके कर्णधार बनकर मार्ग-निर्देश करते रहेंगे ।

'दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।' यह साधन सामग्री दुर्लभ है जो

सुलभ हो गई है। 'बड़े भाग मानुष तन पावा।' की व्याख्यामें ही बताया जा चुका है कि मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है।

ऐसा 'दुर्लभ साज' सुलभ हो जानेपर भी जो संसार-सागर से पार न हो जाय, वह 'मन्द मति' है। उसकी बुद्धि मूढ़ है। वह इतना भी नहीं समझ पाता कि मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है और उसका ठीक उपयोग क्या है।

'कृत निन्दक' ऐसा व्यक्ति कृतघ्न है। वह अपने पर उपकार करने वालेकी निन्दा करनेवाला है। यद्यपि वह मुखसे निंदा नहीं करता; किन्तु उसके व्यवहार ऐसे हैं कि उसपर उपकार करनेवाले की निंदा होती है। उसपर 'बिनु हेतु सनेही' परमात्माने 'कबहुँक करुना' करके जो उसे मनुष्य शरीर दिया, इतना महान् उपकार किया, उसके बदले कहा यह जाता है कि ऐसे मूर्खको इतना दुर्लभ अवसर देकर भगवान्‌ने कौन-सी समझदारी की। इस प्रकार उसके आचरणसे उसके महत्तम उपकारी प्रभुकी निंदा होती है।

'आत्माहन गति जाइ।' आत्मघातीकी गति वह पाता है। जैसे आत्म-हत्या करनेवाला अंधकार-पूर्ण नरकोंमें जाता है, वैसे ही मनुष्य शरीर पाकर भवसागरसे पार न होनेवाला भी नरकोंमें जाता है। आत्म-हत्यामें जैसे भगवान्‌के दिये मानवदेहको नष्ट करनेका घोर पाप है, वैसे ही मानव-देहका उचित उपयोग न करके उसे व्यर्थ खो देनेका पाप है।

वैसे शास्त्रकी दृष्टिसे आत्म-हत्या सबसे बड़ा पाप है। आत्म-हत्या करनेवाले घोर नरकोंमें कोटि-कोटि वर्ष दारुण यन्त्रणा भोगकर फिर विष्ठा, गन्दी नालीके कीट, घावसे सड़ते पशु-पक्षी आदि, मनुष्य भी होते हैं तो कोढ़ी, पंगु आदि रूप पाते हैं। लेकिन पहिले बताया जा चुका है कि जीवके कर्माशयमें अनन्त जन्मोंके संचित हैं। संचितमें प्रायः घोर अशुभ कर्मोंके ही संस्कार अधिक रहते हैं। भगवान्‌ने कृपा करके मनुष्य जन्म रूपी अवसर दिया कि साधन-भजन करके ज्ञान या भगवत्प्राप्तिके द्वारा उस संचित कर्मराशिको जीव भस्म कर दे। जो इस अवसरको खो देगा, उसे मरणके पश्चात् संचितके उन अशुभ कर्मोंके संस्कारोंका फल मिलेगा ही। उनके फलस्वरूप आत्मघातीके समान वह नरकादिमें भटकता हुआ दारुण यन्त्रणा भोगेगा।

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई॥ भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥

उत्तर० ४४।१-२

अर्थ—यदि (आप सब) परलोकमें और यहाँ (भी) सुख चाहते हैं (तो) मेरी बातोंको सुनकर दृढ़तासे हृदयमें धारण कर लें। भाइयो! यह मार्ग सुलभ है और सुखदायक है। (यह) पुराणों तथा श्रुतियोंमें वर्णित मेरी भक्ति है।

परलोक का नाम श्रीराघवेन्द्रने पहिले लिया है। जीव अविनाशी है, उसके अनन्त जीवनमें वर्तमान एक जीवनका काल एक क्षण जितना भी महत्व नहीं रखता। इसलिये महत्व परलोकका ही है। इस जीवनमें ऐसा ही कर्म करना चाहिये कि उससे परलोकमें सुख प्राप्त हो। केवल हिन्दू धर्म ही नहीं, सभी धर्म परलोकको इस लोकसे अधिक महत्ता देते हैं। इस लोकके वे ही सुख वाञ्छनीय हैं जो परलोकके अविरोधी हों। पारलौकिक उन्नतिमें बाधा देनेवाले इस लोकके सुख तो त्याज्य माने जाते हैं। शास्त्र और सत्पुरुष उन्हें पाप कहते हैं।

बहुतसे साधन होते हैं जो केवल परलोकमें सुख देते हैं, जैसे तप, यज्ञ, जप, प्राणायामादि (यदि वे सकाम न हों।) कुछ साधन केवल इसी लोकमें सुख देते हैं। ऐसे साधनोंमें जो परलोकको हानि करनेवाले हैं, वे तो पाप हैं, त्याज्य हैं। लेकिन बहुतसे ऐसे साधन हैं जो परलोकको हानि-लाभ कुछ नहीं करते; किन्तु इस लोकमें सुख देते हैं, जैसे धर्म पूर्वक धनोपार्जन करके उसके द्वारा भवन बनवाना, उचित भोजन वस्त्रादिका सेवन। मर्यादा-पुरुषोत्तम कह रहे हैं कि मैं ऐसा साधन बतला रहा हूँ जो परलोकके लिये तो परम सुखदायक है ही, इस लोकमें भी सुख देनेवाला है।

उसे करने न करनेको सब स्वतंत्र हैं। किसी को विवश नहीं किया जा रहा है। यदि परलोक और इस लोकमें भी सुख पानेकी इच्छा हो तो सुनकर उन वचनोंको दृढ़तासे हृदयमें धारण कर लेना चाहिये।

'हृदय दृढ़ गहहू' यह बात सकारण कही गई है। उपदेश दो प्रकार से धारण किये जाते हैं—(१) बुद्धि से, (२) हृदय से। बुद्धिसे धारण किया

उपदेश स्मरण रहता है। भूलता नहीं है। बुद्धि उसे दृढ़तासे धारण कर ले तो उसके सब सूक्ष्म-रहस्य बुद्धिमें आ जाते हैं। इसीको शास्त्रीय परिभाषामें मनन कहते हैं। श्रवण तो सब करते हैं और विद्वान, बुद्धिमान व्यक्ति मनन भी करते हैं। उसे बुद्धिमें धारण कर लेते हैं। अधिकांश उत्तम बातें हम आप सबने बुद्धिमें धारण कर रखी हैं। सत्य बोलना, किसीका जी न दुखाना, क्रोध न करना, संयम-सदाचारसे रहना, भगवानका भजन करना श्रेष्ठ है, कल्याणकारी है, इसीमें जीवका परम हित है। ये बातें हममें-से बहुतसे लोग जानते हैं, समझते हैं। इन्हें इतनी अच्छी प्रकार समझते हैं कि दूसरोंको नाना युक्ति-तर्क देकर समझाते हैं। इनके सम्बन्धमें मनमें कोई शंका-सन्देह नहीं। इतना होनेपर भी आचरण इनके अनुसार नहीं कर पाते। आचरण इनके विपरीत होता है अपने आचरणके लिये उन्हें स्वयं खेद होता है। ऐसा इसलिये होता है कि ये उपदेशकी बातें केवल बुद्धिने धारण की हैं। इनका मनन मात्र है। हृदयमें ये नहीं आयी हैं।

मननके पश्चात् निदिध्यासन होता है। निदिध्यासनका अर्थ है मनन किये तत्त्वमें स्थित हो जाना। उस तत्त्वको हृदयमें धारण कर लेना। हृदयमें जो बात दृढ़तापूर्वक स्थित है, वही हमारा स्वभाव है। प्रत्येक प्राणी अपने हृदयस्थ भावके अनुसार ही आचरण करता है, हृदयस्थ भावका नाम ही स्वभाव है। सुना एवं मनन किया—समझा तत्त्व जब हृदयमें धारण कर लिया जाय, तब श्रवण सार्थक होता है। प्रभु कह रहे हैं—'मेरी बात सुन लेना पर्याप्त नहीं। उसे बुद्धिसे समझ लेना भी पर्याप्त नहीं। उसे हृदयमें दृढ़तासे धारण कर लो। उसे स्वभाव बना लो—जीवनका अंग बनालो।'

उसे हृदयमें धारण करना क्या सबके लिये सरल है? इसीका उत्तर है 'सुलभ सुखद मारग यह' यहाँ 'भाई' सम्बोधन द्वारा प्रभु आत्मीयता सूचित करते हैं। 'आप सब तो मेरे भाई हैं। आपको मैं ऐसा साधन बता रहा हूँ जो सबसे सरल एवं सबसे महत्तम है।' उसे प्राप्त करनेके लिये कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता और न कहीं भटकना पड़ता। वह

तो सबको, सब स्थानोंमें, सब दशामें सहज प्राप्त है। वह 'सुलभ' है। सचमुच जीभ अपनी है और भगवानका नाम लेनेमें देश, काल, अवस्था तथा अधिकारीका कोई नियम है नहीं। सब कोई, प्रत्येक दशामें, प्रत्येक स्थानमें किसी भी समय भगवानका नाम ले सकते हैं।

'सुखद' यह मार्ग है सही; किन्तु इसमें चलने का श्रम नहीं है। यह तो मार्ग भी सुखदायक है। साधन करके अन्तमें सुखदायक परिणाम मिलेगा, साधनकालमें तो कष्ट एवं श्रम उठाना ही पड़ेगा, ऐसे मार्ग दूसरे हैं। इस मार्गका अन्त तो परमानन्द दायक है ही, मार्ग भी सुखद है। प्रारम्भसे ही इसमें सुख मिलता है। अपना कोई सांसारिक कार्य छोड़ना नहीं पड़ता। न शरीरको कष्ट देना पड़ता। नाक पकड़ने, श्वास रोकने, टेढ़े-सीधे बैठनेकी आवश्यकता नहीं। जो कार्य कर रहे हैं, उसे करते हुए ही जिह्वासे 'राम-राम' करते रहिये। यह नाम-जप प्रारम्भसे सुख देना प्रारम्भ कर देगा। थोड़े समयमें ही हृदयमें शान्तिका अनुभव होने लगेगा।

मीठो अरु कठवत भरो, रौताई अरु छेम।
स्वारथ परमारथ सुलभ, राम नाम के प्रेम॥ दोहावली

सब बात ठीक; किन्तु हिन्दू-धर्मकी एक अद्‌भुत मान्यता है—यहाँ सबसे बड़ा शास्त्र माना जाता है। ईश्वरको न माननेवाला, ईश्वरकी निन्दा करनेवाला भी यदि परलोक और शास्त्रको मानता है तो नास्तिक नहीं है। लेकिन शास्त्रको न माननेवाला तो नास्तिक माना जाता है। 'नास्तिको वेद निन्दकः।' हिन्दू-धर्म व्यक्तित्वका जारी तो है, किन्तु अनुगामी केवल शास्त्रका है। सच्चा हिन्दू सभी सन्तोंका आदर करेगा, उनकी पूजा करेगा, उनका सम्मान करेगा; किन्तु उनके उन आचरणों एवं उन बातोंको कभी स्वीकार नहीं करेगा, जो शास्त्र सम्मत न हों। वह उन्हें नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देगा। हिन्दू-धर्मने बुद्धको भगवान स्वीकार किया, उन्हें अवतार माना; किन्तु उनकी जो बातें शास्त्रीय मर्यादाके प्रतिकूल थीं, उन्हें त्याज्य ही माना। साक्षात् भगवान भी शास्त्रीय मर्यादाके विपरीत कुछ कहें तो वह हिन्दूके लिये स्वीकार करने योग्य बात नहीं है। आज हिन्दू इसीलिये भ्रान्त होता है, पाखण्ड-प्रवञ्चना द्वारा ठगा जाता है कि उसने शास्त्रका अभय आश्रय त्याग दिया है। श्रीराम साक्षात् परमब्रह्म हैं। वे स्वयं उपदेश कर रहे हैं; किन्तु उनका उपदेश शास्त्र सम्मत न

हो तो स्वीकार करने योग्य नहीं होगा। इसीलिये वे आगे कहते हैं—'भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।'

'मेरी भक्ति कोई नवीन साधन नहीं है। वह पुराण एवं श्रुतियों द्वारा वर्णित नित्य-साधन है। शास्त्र सम्मत साधन होनेसे उसे अपनाना सर्वथा श्रेयस्कर है। किसी स्वकल्पित साधनका मैं उपदेश नहीं कर रहा हूँ।

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
उत्तर० ४४।३।४

अर्थ—ज्ञान कठिन है। (उसकी प्राप्तिमें) अनेक विघ्न हैं। (उसका) साधन कठिन है। (उसमें) मनके लिये कोई आधार नहीं। बहुत कष्ट उठाकर (यदि) कोई (उसे) पा भी जाय (तो भी) भक्तिहीन होनेसे वह मुझे प्रिय नहीं होता।

ज्ञान कहते किसे हैं? ज्ञानका स्वरूप समझमें आ जाय तो यह समझना सरल होगा कि उसे कठिन क्यों कहा गया है। 'सोहऽमस्मि इति वृत्ति अखण्डा। ग्यान सिखा सोइ परम प्रचंडा॥' यह बात 'मानस' में ही स्पष्ट कर दी गई है। प्रज्ञानमानन्द ब्रह्म 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' ये चार श्रुतियाँ अद्वैत मतमें महावाक्य मानी गई हैं। ज्ञान स्वरूप एवं आनन्द स्वरूप ब्रह्म है, यह आत्मा ही ब्रह्म है, वह ब्रह्म तुम्हीं हो, मैं ब्रह्म हूँ। यह सामान्यार्थ है इन श्रुतियों का। 'सोऽहं' वह ब्रह्म मैं हूँ, यह वृत्ति मानसमें ज्ञान बतायी गई है। इस प्रकार मानसमें ज्ञानका स्वरूप वही माना गया है जो उक्त महावाक्योंका तात्पर्य है।

लेकिन 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'सोऽहं' कहने, बोलने या इसपर प्रवचन देनेका नाम ज्ञान नहीं है। यदि बौद्धिक ज्ञानको ज्ञान मान लें तो दर्शन शास्त्रके सभी अध्यापक ज्ञानी माने जायेंगे। बुद्धिमें कोई तत्त्व ठीक जम गया, वह सत्य है, इसमें कोई शंका सन्देह नहीं रहा, यह मननका परिणाम है। लेकिन शंका रहित यह बौद्धिक-ज्ञान सचमुच ज्ञान नहीं है। ज्ञानकी वास्तविक स्थितिसे इसका भेद करनेके लिये इसे परोक्ष ज्ञान कहते है। परोक्ष ज्ञान वैसा ही ज्ञान है जैसा ज्ञान वायुयानके सम्बन्धमें उन सब

लोगोंका है जो उसपर बैठे नहीं हैं। वायुयानके अस्तित्व एवं उसकी गगन यात्रामें उन्हें कोई सन्देह नहीं है।

अपरोक्ष ज्ञान या वास्तविक ज्ञान बौद्धिक-ज्ञान नहीं है। वह है एकात्म वृत्ति। इसीलिये 'मानसमें 'सोहमऽस्मि इति वृत्ति' कहा गया है। जो कुछ देखा जाता है, सुना जाता है, मनमें आता है और उससे भी परे है, वह सब अपना स्वरूप है। यह भाव बुद्धिमें ही नहीं, हृदयमें आ जाय। इसप्रकार आ जाय कि चूल्हेमें जलती लकड़ी और अपने शरीरके हाथ-पैरमें अन्तर न जान पड़े। लकड़ीके स्थान पर हाथ-पैर चूल्हेमें पड़ जायें तो कोई विशेषताका भान न हो। इस एकात्म वृत्ति का नाम अपरोक्ष ज्ञान है।

जैसे भगवद्दर्शन एक क्षणको ही हो तो भी जीव मुक्त हो जाता है, वैसे ही अपरोक्ष ज्ञान की स्थिति एक या आधे क्षणको हो तो भी वह कर्म राशिको भस्म करके जीवको मुक्त कर देती है। जैसे आवश्यक नहीं कि सभी भक्तोंको नित्य भगवत्साक्षात्कार प्राप्त रहे, वैसे ही ज्ञानीके लिये भी आवश्यक नहीं कि उसमें सदा वह एकात्मक वृत्ति बनी रहे। लेकिन एकबार वह वृत्ति बनी न हो तो कोई ज्ञानी नहीं होता, भले उसका बौद्धिक ज्ञान कितना भी परिमार्जित हो।

अपने 'अहं'को भगवानको अर्पित कर देना ही भक्ति है और अपने 'अहं' में ही समस्त ब्राह्मणोंको अन्तर्हित कर लेना ज्ञान है। लेकिन 'अहं' का यह विशदीकरण कितना अगम्य है। अपने शरीरको मारनेवाले तथा उसके हाथके शस्त्रमें भी यह भाव कि 'मैं हूँ' कितना कठिन है। जिसने आपको गाली दी, आपको मारा, उसकी कोई प्रशंसा कर रहा है और आपमें यह भाव होना चाहिये कि मेरी प्रशंसा हो रही है। यह स्थिति दुर्गम है, यह माननेमें किसीको आपत्ति नहीं होगी।

'प्रत्यूह अनेका' की बात और सहज समझमें आने योग्य है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष आदि दोष कितने प्रबल हैं, यह बताना अनावश्यक है। शरीरकी 'आसक्ति' नामका मोह आदि सैकड़ों प्रबल विघ्न हैं, अध्यात्म मार्गमें। ये विघ्न सभीके मार्गमें हैं; किन्तु भक्तको तो विघ्नोंकी चिन्ता करनी नहीं पड़ती। उसकी रक्षा करनेवाला तो एक सर्व समर्थ है। इसलिये भक्तकी दृष्टिमें विघ्नोंका होना न होना बराबर है।

'अपिचेत सुदुराचार' को भी केवल 'भजते माम अनन्यभाक'के कारण 'साधुरेव समन्तव्य' उद्घोष करनेवाला जब विद्यमान है, भक्त क्यों विघ्नोंकी चिन्ता करे। लेकिन ज्ञानके पथिकको तो कोई सहारा नहीं। ये सब घोर विघ्न हैं उसके मार्गमें और इनसे उसे स्वयं जूझना है।

'साधन कठिन' ज्ञानका साधन कठिन है। क्योंकि ज्ञानका साधन है मनको मनन किये तत्त्वमें स्थिर करना। मन स्वभावसे चंचल है। भक्तके लिये तो केवल जीभसे नाम-जप भी अत्युच्च साधन है; किन्तु ज्ञानके पथिकको तो मनको बलपूर्वक एकाग्र करना है। मनकी चंचलता ऐसी है कि भगवान श्रीकृष्ण तक ने स्वीकार किया।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
—गीता, ६।३५

निःसन्देह मनका रोकना अत्यन्त कठिन है, ऐसा चंचल है मन। ऐसे मनको निगृहीत स्थिर करना ही जहाँ साधन हो, वह कितना कठिन साधन है।

'न मन कहूँ टेका' मनको स्थिर करनेके लिये ज्ञानमार्गमें कोई आधार नहीं। सौन्दर्य, माधुर्य, आकर्षककी घनीभूत मूर्तिकी बात तो छोड़ दीजिये, कोई शब्द, ज्योति या विन्दु भी आधार नहीं बन सकता। मनकी निराधार, निश्चल स्थिति ज्ञान है। वृत्ति जहाँ जाय 'नेति-नेति' करते जाइये। जो कुछ चिन्तनमें आवे उसे बलपूर्वक छोड़ते जाइये। मन आधार न पानेसे अधिकाधिक भटकेगा। वह अत्यधिक दुर्निग्रह बनेगा।

'पावइ कोई' यह सब होनेपर भी ज्ञान एक मार्ग तो है ही। शास्त्र उस मार्गका प्रतिपादन करता है। इसलिये अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता। उसे पानेमें बहुत कष्ट है। वह सब कष्ट कोई सह ले, बराबर प्रयत्नमें लगा रहे तो अवश्य ज्ञान प्राप्त करेगा। 'कोई' में यह ध्वनि भी है कि ज्ञानमार्गमें प्रयत्न करनेवालोंमें बहुत लोगोंमें कोई ही बहुत कष्ट उठाकर ज्ञान प्राप्त कर पाता है। इस मार्गके अधिकांश साधक असफल होते हैं। यहाँ 'न मे भक्तः प्रणश्यति' वाली घोषणा करनेवाला कोई नहीं है।

'भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ' ऐसा अति कष्टसाध्य ज्ञान असंख्य प्रयत्न करनेवालोंमें कोई प्राप्त भी कर ले और उसमें भक्ति न हो

तो वह प्रभुको प्रिय नहीं होता। यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि प्रभुको प्रिय हो या न हो, भवसागरसे तो वह पार हो ही जायगा, फिर 'मोहि प्रिय नहिं सोऊ' कहने की आवश्यकता क्या ?

इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता तो यह है कि इस समय श्रीरामजीके सम्मुख उनके प्रिय 'पुरजन' हैं। इन पुरजनोंकी दृष्टिमें सबसे महान सफलता है रघुनाथजीका स्नेह-भाजन होना। ज्ञान या मोक्ष मिलता हो और श्रीराघवेन्द्रका प्रेम न मिले तो ऐसे मोक्षको वे कदाचित अपने चरणोंसे छूना भी स्वीकार नहीं करेंगे। उन्हें तो परम अभीष्ट श्रीराम-प्रेम है।

लेकिन यह उपदेश निखिल ब्रह्माण्ड नायक परात्पर प्रभुने अपनी समस्त प्रजा के लिये किया है। उनका यह उपदेश सबके लिये है। अतः व्यापक दृष्टिसे उनकी इस बातपर विचार करना आवश्यक है।

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

उत्तर० १३। छं०-३

'मानस' में वेदोंने स्तुति करते हुए यह बात कही है। श्रीमद्भागवत-में ब्रह्माजी कहते हैं—

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(भागवत १०।१४.४)

हे विभो ! आपकी कल्याण प्रसविनी भक्तिको छोड़कर जो केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं, उन्हें तो केवल क्लेश मिलता है, जैसे धानकी भूसी कूटनेवालेको परिश्रम ही हाथ लगता है और कुछ नहीं।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः॥

—भागवत, १०।२।३२

'पाइ सुर दुर्लभ पदादपि' को भागवतने स्पष्ट कर दिया है कि जिन्होंने भगवान्‌के चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लिया, वे अत्यन्त कष्टसे परमपद पाकर भी वहाँ से पतित हो जाते हैं।

परमपद पाकर पतनकी बात समझमें आना कठिन है। लेकिन यह स्पष्ट बात है कि अपरोक्ष ज्ञानके साथ ही परमपद अर्थात् ब्रह्म-स्वरूपका अनुभव प्राप्त हो जाता है। लेकिन वह स्थिति स्थायी तो है नहीं। अब यदि मरण-कालमें कहीं मन किसी पदार्थमें रह गया तो क्या होगा ? राजा भरत परम ज्ञानी थे और परम भक्त थे; किन्तु मृत्युके समय उनका मन मृगमें लगा रहा। इसका फल हुआ कि उन्हें मृग-शरीर लेकर जन्म लेना पड़ा। वे राजाके देहमें भक्त भी थे, अतः भगवत्कृपा सहायक हुई, पूर्व जन्मकी स्मृति बनी रही। इससे जड़भरत होकर जन्म लेनेपर वे आसक्तिके पदार्थोंसे दूर रहे। लेकिन जो ज्ञान उन्होंने राजा रहूगणको सुनाया, वह तबका था, जब वे राजा भरत थे। अब सोचिये कि उस समय वे केवल ज्ञानी होते तो मृग देह या विप्र देहमें पूर्व-जन्मकी स्मृति कहांसे आती। यदि पूर्व-जन्मकी स्मृति न होती तो क्या होता ?

इसलिये जीव मात्रके लिये ज्ञानोंके लिये भी भगवानुका स्नेह-भाजन होना परमावश्यक है और वह स्नेह केवल ज्ञानीको नहीं मिलता, यही प्रभुने यहां बतलाया है।

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहि प्रानी ॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहि न संता। सतसंगति संसृति कर अंता ॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा ॥

उत्तर० ४४।५-८

अर्थ—समस्त सुखोंकी खानि भक्ति स्वतंत्र है प्राणी सतसंगके बिना (उसे) नहीं पाते। पुण्य समूह हुए बिना संत नहीं मिलते। सत्संग जन्म-मरणका अन्त कर देता है। संसारमें एक ही पुण्य है, दूसरा नहीं (वह है) मन, कर्म तथा वाणीसे ब्राह्मणोंके चरणों का पूजन। उसपर मुनिगण (तथा) देवता (सदा) अनुकूल रहते हैं, जो कपट छोड़कर ब्राह्मणोंकी सेवा करता है।

भक्ति स्वतंत्र है। उसे अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है। वह स्वयं साधन तथा साध्य रूपा है। ज्ञान, योगादि साधनोंमें तो भक्तिकी

आवश्यकता चित्त-शुद्धिके लिये है; किन्तु भक्तिमें अन्य किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है।

सो सुतंत्र अवलम्ब न आना।
तेहि आधीन ग्यान-बिग्याना॥

अर० १५।३

यह भक्ति सत्संगके बिना नहीं प्राप्त होती। लेकिन सत्संग कोई अलग साधन नहीं है। वह तो भक्तिका ही अंग है। 'प्रथम भगति संतन कर संगा।' 'भज सेवायाम्' धातुसे भक्ति शब्द बना है। भक्तिका अर्थ है भगवानके प्रति प्रेमात्मिका वृत्ति। हृदयमें प्रभुकी प्रीतिका उदय संतोंके संगसे, उनकी कृपासे ही होता है।

महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

भक्तिसूत्र, ३९

देवर्षि नारदजीने बतलाया कि महान पुरुष सच्चे सन्तका संग होना दुर्लभ है। किसीप्रकार संग हो जाय तो यह जानना कि ये सन्त हैं, बड़ा कठिन है। सन्तको सन्त रूपमें पहिचानकर उनका एक क्षणका भी संग अमोघ है। वह अपना ऐसा प्रभाव डालते हैं कि वह कभी व्यर्थ नहीं जाता।

सतसंगति संसृति कर अन्ता।

सन्तका संग हुआ, सन्त मिल गये तो समझना चाहिये कि जन्म-मरणका चक्र समाप्त हो गया। अपना बेड़ा भवसागरसे पार हो चुका। क्योंकि सन्त परमोदार होते हैं। उनकी कृपा जीवको संसारसे पार करनेमें सहज समर्थ है।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्। भक्तिसूत्र, ४१

भगवान तथा उनके भक्तोंमें कोई भेद नहीं हुआ करता 'भगति भगत भगवंत गुरु, चतुरनाम बपु एक।'

लेकिन सन्त मिलें कैसे ? घर-द्वार छोड़कर तीर्थोंमें, वनोंमें भटकनेसे तो सन्त मिला नहीं करते। किसी अच्छे व्यक्तिसे पूछनेसे वे मिलें, ऐसा भी नहीं हुआ करता। ढूंढ़कर सन्त मिलते होते तो उनकी प्राप्तिको देवर्षि नारद 'दुर्लभ' नहीं बतलाते। देवर्षिने तो कहा—'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।' प्रभु कृपा करें तभी सन्त मिलते हैं।

बात यह है कि कौन सन्त है' कौन सन्त नहीं है, यह निर्णय कौन करेगा ? एक व्यक्ति किसीको संत बतलाता है; किन्तु दूसरेको वह संत नहीं प्रतीत होता। इसप्रकार सन्तके पास होनेपर भी सन्तकी उपलब्धि नहीं होती। जब तक हृदय शुद्ध न हो, वह सन्तको सन्त स्वीकार करनेकी स्थितिमें न हो, तब तक सन्तको पाकर भी नहीं पाया जा सकता। इसी-लिये सन्त ढूंढ़ने निकलना व्यर्थ है। आवश्यकता है कि हम सन्तकी प्राप्तिके अधिकारी बनें।

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।

मर्यादा पुरुषोत्तमने स्पष्ट कर दिया है कि ढूंढ़ने, भटकने, पूछ-परछ करनेसे सन्त मिल नहीं सकते। सन्तकी प्राप्ति तब होती है, जब जीवके अनन्त पुण्योंका समुदय होता है। किसी एक व्रत, अनुष्ठान या तीर्थयात्रासे सन्त नहीं मिलेंगे, यह भी स्पष्ट कर दिया गया। सन्त प्राप्तिके लिये तो 'पुन्य पुंज' चाहिये।

संसारमें एक ही पुण्य है, दूसरा कोई पुण्य है ही नहीं, वह पुण्य है 'मन क्रम वचन विप्र पद पूजा।' मर्यादा पुरुषोत्तमकी यह बात आजके आस्थाहीन युगमें बहुत कठिनाईसे गलेके नीचे उतरेगी। 'दूसरा कोई पुण्य है ही नहीं' यह बात अद्भुत है। क्योंकि शास्त्रोंमें बहुतसे पुण्य-कार्य माने गये हैं। लेकिन 'नहिं दूजा' का तात्पर्य दूसरे पुण्य कर्मोंका निषेध नहीं है। तात्पर्य प्रधानता सूचित करनेमें है। सबसे महान पुण्य 'विप्र पद पूजा' है। दूसरे समस्त पुण्योंमें प्रवृत्ति ब्राह्मणोंकी कृपासे ही होती है, अतः वे भी 'विप्र पद पूजा' के ही अन्तर्गत हैं।

कोई कर्म पुण्य है या पाप यह बात न प्रत्यक्ष दीखती और न तर्कसे जानी जाती। क्योंकि पुण्य या पाप अपना फल तत्काल तो देते नहीं। वे अपना फल प्रायः परलोकमें देते हैं। यदि उनका फल यहां मिलता भी है तो वह इस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं होता कि यह अमुक कर्मका ही फल है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञात हो सके। शास्त्रके द्वारा ही ज्ञात होता है कि यह कर्म पुण्य है और यह पाप। धर्म-अधर्म पुण्य-पाप आदिका निर्णायक एकमात्र शास्त्र है। शास्त्रीय निर्देशका ठीक ज्ञान ब्राह्मणोंके द्वारा होता है। इस प्रकार समस्त पुण्योंका मूल कारण ब्राह्मण हैं। इसीलिये मर्यादा पुरुषोत्तमने 'विप्र पद पूजा' को ही समस्त पुण्य रूप बतलाया।

पूजा किसीकी हो वह दिखावटी नही होनी चाहिये। ऊपरसे चाहे जितना आडम्बर हो, कितना भी साज-सामान हो, किन्तु मनमें श्रद्धा न हो तो पूजा व्यर्थ है। इसीलिये पूजामें पहिले मनका लगना आवश्यक है। पूज्यके प्रति मनमें श्रद्धा आदरभाव हो, यह सर्वप्रथम आवश्यक है।

मनमें श्रद्धा हो; किन्तु श्रद्धाके अनुसार क्रिया न हो तो पूजा नहीं हो सकेगी। मनमें श्रद्धा हो और श्रद्धाके अनुसार क्रिया हो। साथ ही वाणी से भी सत्कार-स्तवन हो, तब पूजा होती है। इसीलिये 'मन क्रम वचन' से विप्र-पूजा करनेको कहा गया।

'सानुकूल तेहिपर मुनि देवा' शास्त्रके प्रवर्तक एवं संरक्षक मुनिगण हैं। हम आप उन मुनियोंका दर्शन करें या न करें; किन्तु वे आज भी अदृश्य रूपसे अपनी दिव्य शक्तिसे शास्त्र परम्पराकी रक्षा कर रहे हैं। भगवान नर-नारायण बद्रिकाश्रममें, भगवान कपिल गंगा-सागर संगममें अदृश्य रूपसे तप कर रहे हैं ज्ञान परम्पराकी रक्षाके लिये। भगवान व्यास तथा अन्य अनेक मुनि-गण तप-लोक एवं जन-लोकमें रहते हुए शास्त्रीय ज्ञानका संरक्षण कर रहे हैं। अधिकारी पुरुषोंको अनेकों बार व्यासजी, भगवान दत्तात्रेय आदिके दर्शन होते हैं। ये मुनिगण अपनी दिव्य शक्तिसे सात्विक पुरुषोंकी बुद्धिमें शास्त्रीयज्ञानका उदय करते हैं। ये साधना विमुख मनको भगवन्मार्गमें अग्रसर होनेमें सहायता देते हैं। इनकी अनुकूलता प्राप्त करके ही साधनामें शीघ्र सफलता प्राप्त होती है।

देवता केवल देव-लोकमें ही नहीं रहते। प्रत्येक पदार्थ एवं प्रत्येक इन्द्रियके अधिष्ठाता देवता हैं। देवता अनुकूल रहते हैं तो इन्द्रियां शांत एवं स्वस्थ रहती हैं, उनके अधिदेवता प्रसन्न रहते हैं तो वह पदार्थ हमारे लिये शुभ बनता है।

'इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥'

यदि इन्द्रियोंके अधिदेवता प्रतिकूल हों तो इन्द्रियाँ चंचल, दुर्बल, अस्वस्थ रहने लगती हैं। जिस पदार्थके अधिदेवता प्रतिकूल होंगे, वह शुभ एवं स्वास्थ्य देनेवाला पदार्थ भी उपभोक्ताके लिये अशुभ, अशांति एवं अस्वास्थ्यका कारण बन जायगा।

इसलिये मुनियों एवं देवताओंकी कृपा, सानुकूलता सबको ही आवश्यक है। परमार्थके साधकके लिये तो यह परमावश्यक है। मर्यादा पुरुषोत्तमने इनकी अनुकूलता प्राप्तिका उपाय बतलाया है। जो कपट छोड़कर सच्चे मनसे ब्राह्मणोंकी सेवा करता है, उसपर ये मुनि-गण तथा देवता प्रसन्न रहते हैं। उसके ये अनुकूल बने रहते हैं।

ब्राह्मण तो ऊपरी सम्मान दिखाने तथा दान-मानसे भी प्रसन्न हो जाएँगे। आदर करने, भोजन कराने, दक्षिणा देनेसे ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जायेंगे। उन्हें पता नहीं कि आपके मनमें श्रद्धा एवं उनके प्रति आदर है या नहीं; किन्तु मुनि-गण एवं देवता तो आपके चित्तकी स्थितिके द्रष्टा हैं। वे देखते हैं कि आप सच्चे मनसे 'द्विज-सेवा' करते हैं या आपका यह दिखावा ही है। उनकी अनुकूलता तो तभी प्राप्त होगी जब 'कपट तजि' सच्चे निष्कपट मनसे 'द्विज-सेवा' की जायेगी।

ब्राह्मण कौन ? आज जब अधिकांश वैश्य, शूद्र एवं अन्त्यज जातियाँ यज्ञोपवीत पहनकर अपनेको ब्राह्मण घोषित करने लगी हैं, यह प्रश्न स्वाभाविक है। इन नवीन ब्राह्मण बननेवाली जातियोंमें तीन वर्ग हैं— १—अकारण कुतर्कके बलपर अपनेको ब्राह्मण कहनेवाले २—संकर वर्ण ३—व्रात्य। जो अकारण ब्राह्मण बन बैठे हैं, उनको क्या कहा जाय। इस कलियुगको धन्य है। कुछ जातियाँ पुराण-इतिहासके प्रमाण अपने पक्षमें उपस्थित करती हैं। पहिले युगोंमें ब्राह्मणको शेष तीन वर्णकी कन्या स्वीकार करनेका अधिकार था। इस प्रकार ब्राह्मणसे इतर वर्णकी पत्नीमें उत्पन्न सन्तान अनुलोम कही जाती है। यह संतान ब्राह्मण नहीं मानी जाती; किन्तु माताके वर्णकी या उससे उच्च मानी जाती है। अनेक बार निम्न वर्णके पुरुष उच्च वर्णकी स्त्रीको रख लेते हैं। इस प्रकार उत्पन्न सन्तान प्रतिलोमज मानी जाती थी। उसको अतिशूद्र या अन्त्यज माना जाता था। इस प्रकार ब्राह्मण पिता या ब्राह्मण मातासे उत्पन्न अनेक जातियाँ हैं। पुराणोंमें उनके पक्षके प्रमाण हैं। लेकिन वे ब्राह्मण नहीं हैं। तीसरा वर्ग व्रात्य वर्ग हैं। किसी कारणसे किसी कुलने ब्राह्मण होनेपर भी यज्ञोपवीत तथा सन्ध्यादि कर्म छोड़ दिये तो वह व्रात्य माना गया। उसकी सन्तान व्रात्य हुई। यदि सात पीढ़ी व्रात्य दशामें बीत गई तो वह

कुल शूद्र हो गया। ब्राह्मण कुल होकर भी वह शूद्र हो गया और अब ब्राह्मण नहीं हो सकता।

इस प्रकार नवीन जातियाँ जो ब्राह्मण बन रही हैं—उस ब्राह्मण वर्गमें तो नहीं ही आतीं, जिन्हें शास्त्र पूज्य मानता है और जिनकी 'पद-पूजा' करनेका निर्देश यहाँ श्रीरघुनाथजीने दिया है।

कैसे ब्राह्मणकी पूजा की जाय ? यह प्रश्न भी कम महत्वका नहीं है। शास्त्र यद्यपि कहता है—'जन्मना ब्राह्मणो गुरुः' और मानसमें भी कहा गया है कि—

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥

अर० ३३।१-२

लेकिन इतनेसे समाधान नहीं हो जाता। 'सकल गुन हीना' तक ही बात होती तो समाधान सीधा था; किन्तु 'सकल अवगुन प्रवीना' की पूजा की जाय या नहीं ? आज प्रश्न तो यह है। क्योंकि आज तो समाज खाद्या-खाद्य विचारहीन, सदाचार रहित, कपटाचरण प्रवीण, अशुचि, अनाचारी, लम्पट, दम्भी लोगोंसे भरा है और कलियुगकी इस प्रगतिशीलतामें ब्राह्मण-समाज किसीसे पीछे नहीं है। वह सदाका अग्रणी वर्ग—आज वह अग्रणी न सही, पिछड़ क्यों जाय प्रगति में।

लेकिन शास्त्रने इस प्रश्नके लिये स्थान नहीं रखा है। स्मृतियोंमें, महाभारतमें, पुराणोंमें बहुत बार, बहुत स्पष्ट निर्देश है कि श्राद्धमें कैसे ब्राह्मणको आमन्त्रित करे, यज्ञ या पूजनमें कैसे ब्राह्मणको बुलावे। उन सब बातोंका विस्तार करनेके लिये तो यहाँ स्थान नहीं है। यहाँ तो संक्षिप्त निर्देश ही किया जा सकता है।

शास्त्र कहता है कि जो तीन दिन लगातर सन्ध्या न करे वह व्रात्य हो जाता है और तब तक व्रात्य रहता है, जब तक प्रायश्चित करके शुद्ध न हो जाय। इसलिये जो नियमित सन्ध्या नहीं करते, वे ब्राह्मण होकर भी ऐसे ब्राह्मणकी कोटिमें नहीं आते जिनका निर्देश यहाँ श्रीरघुनाथजी कर रहे हैं।

सदाचारी, सात्विक आहार करनेवाले, आस्तिक ब्राह्मण ही पूज्य हैं। यदि वे शास्त्रज्ञ हों, तब तो सोनेमें सुगन्धि है। शास्त्रज्ञ विद्वान न हों; तो भी ब्राह्मण बालकको सन्ध्या करना आना चाहिये। नियमित सन्ध्या करनेवाले, सदाचारी, सात्विक आहार करनेवाले, आस्तिक ब्राह्मण विद्वान न हों, उनमें शास्त्रज्ञान आदि गुण न हों, तो भी वे पूज्य हैं। उनकी पूजा करना परम पुण्य है। उनकी पूजासे देवता तथा मुनि-गण प्रसन्न होते हैं।

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥ उत्तर० ४५

अर्थ—और भी एक गुप्त बात सबको हाथ जोड़कर बतला रहा हूँ कि शंकरजीका भजन किये बिना मनुष्य मेरी भक्ति नहीं पा सकता।

सिव पद कमल जिन्हहि रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सोहाहीं॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥
(बालकाण्ड, १०३।५-६)

जेहिपर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥
(बालकाण्ड, १३७-७)

इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥
(बाल० ६६।८)

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
(लंका० १।७-८)

श्रीरामचरितमानसमें स्थान-स्थानपर ये वचन आये हैं। ये व्याख्याकी अपेक्षा नहीं करते। मर्यादापुरुषोत्तमने कई अवसरोंपर स्पष्ट कर दिया कि भगवान शंकरका विरोधी उनको कभी प्रिय नहीं होता। इतना ही नहीं, शंकरजीकी उपेक्षा करनेवाला भी उन्हें प्रिय नहीं। शंकरजी का भजन करना आवश्यक है, जो राम-भक्तिकी इच्छा करे।

'औरउ एक गुपुत मत' यह एक गुप्त मत है, लोक विख्यात नहीं है। अतएव इसके सम्बन्धमें अज्ञान तथा भ्रम रहना सहज सम्भव है। शास्त्रोंमें इसका प्रतिपादन तो है, क्योंकि जो मत शास्त्र सम्मत न हो, वह

आदरणीय एवं आचरणीय ही नहीं हुआ करता, किन्तु शास्त्रोंमें इसका प्रतिपादन होनेपर भी यह लोक प्रख्यात नहीं।

'सवहि कहउँ कर जोरि' यह क्या आवश्यकता पड़ी हाथ जोड़नेकी ? मर्यादापुरुषोत्तमने 'मानस' में कहा है—

कोऊ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। (बाल० १३७-६)

भगवान शंकरकी वे पूजा करते हैं।

पूजि पारथिव नायउ माथा। (अयो० १०२।१)

इस प्रकार शंकरजीमें आराध्य भाव रखनेके कारण उनकी चर्चा करते समय हाथ जोड़ रहे हैं। दूसरे हाथ जोड़नेका मुख्य तात्पर्य है कि 'मैं यह बात सबको हाथ जोड़कर कहता हूँ। इसे महत्त्वपूर्ण मानें और इस पर पूरा-पूरा ध्यान दें।

'शंकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।'

भगवान शंकरका विरोध करनेवाली, उन आशुतोषकी निन्दा करनेवालोंकी चर्चा नहीं करना चाहिये। 'संकर विमुख'को तो प्रभुने ही 'नारको मूढ़ मति थोरी' कहा है। शंकरजीसे कोई तटस्थ रहकर भगवान रामका भजन करे तो भी उसका भजन निष्फल है। श्री राघवेन्द्र कह रहे हैं कि 'मेरी भक्ति शंकरजीका भजन किये बिना मिल नहीं सकती।'

अभी पहिले प्रभुने ही कहा है—

'भक्ति सुतन्त्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

उत्तर० ४४।५

सत्संगके बिना भक्ति नहीं मिलेगी। इसका अर्थ हुआ कि श्रीराम भक्ति पानेके लिये भगवान शंकरका भजन तथा सत्संग दोनों करना चाहिये।

सन्तकी प्राप्ति तो सुगम है नहीं। इसलिये श्रीराम भक्ति पानेके लिये सुगम उपाय यह है कि शंकरजीका भजन किया जाय। शंकरजीका भजन करते रहनेके साधक सन्त-प्राप्तिका अधिकारी होता है। सन्त उसे श्रीराम-भक्तिका बीज प्रदान करते हैं।

यहीं यह बात भी समझ लेना चाहिये कि वह संग चाहे जिसका— जैसे भी वेशधारी, विद्वान, अविद्वान, साधक-साधुका संग हो, वह सत्संग

कदापि नहीं है, जहाँ शिव और श्रीराममें भेद-भाव उत्पन्न करनेवाली चर्चा होती हो। जहाँ शिव या विष्णुको अथवा श्रीरामको तिरस्कृत किया जाता हो, उनमें छोटे-बड़ेका भेदभाव किया जाता हो, वह संग और वह साहित्य सर्वथा त्याज्य है। सन्त वही है जो हरि और हरमें अभेद मानता है और इस अभेदका ही प्रतिपादन तथा प्रचार करता है।

क्यों शंकर-भजनके बिना श्रीरामकी भक्ति नहीं मिलती? इसका उत्तर श्रीरामचरितमानसकी प्रारम्भिक वन्दनामें है—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। बाल० २

भगवान शंकर विश्वासके अधिदेवता हैं और भगवती पार्वती श्रद्धाकी अधिष्ठात्री हैं। इनकी कृपाके बिना विश्वास और श्रद्धा प्राप्त नहीं होती।

बिनु बिस्वास भगति नहिं.................. उत्तर० ९०

विश्वास दृढ़ नहीं होगा तो भक्ति प्राप्त कहाँसे हो सकती है।

भगवान शंकर प्रलयके अधिदेवता हैं विनाशके पश्चात् ही नवनिर्माण हुआ करता है। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, रागद्वेष आदि शत्रु निवास करते हैं। जन्म-जन्मान्तरकी वासनाओंने चित्तमें घर कर लिया है। 'जहाँ काम नहि राम' जहाँ कामनाएँ हैं, वहाँ श्रीराम-भक्ति कहाँ। अतः साधककी पहिली आवश्यकता है इन वासनाओं-कामनाओं, काम, क्रोधादि शत्रुका विनाश। इस विनाशका ही नाम है चित्त-शुद्धि या वैराग्य।

चित्त शुद्धिके लिए, वैराग्यकी प्राप्तिके लिए, कामनाओंके विनाशके लिए साधकको उन शशाङ्क शेखर, नर्मुण्डमाली, गरलकण्ठ, चर्माम्बरधारी, अहि-भूषण, विभूति-मंडित, प्रलयंकर, मदनारिका भजन करना चाहिए। वे श्रीपार्वतीनाथ आशुतोष वैराग्यके मूर्तिमान स्वरूप हैं। उनकी कृपाकोर कामनाओंका नाश करनेवाली है। जो भक्तिकी कामनासे उनके श्रीचरणों की आराधना करता है, उसे वे परमोदार भक्ति प्रदान करते हैं।

जो असुरोंपर, हिंसक-क्रूर दानवोंपर, आचारहीन राक्षसोंपर भी प्रसन्न हो जाते हैं, जो प्रेत-पिशाच जैसे उत्पीडक एवं मलिन प्राणियोंको

जो अपना गण बना लेते हैं, उनकी आराधना कोई श्रीराम-भक्तिके लिए करेगा तो उन्हें प्रसन्न होते क्या देर लगेगी। वे विश्वनाथ तो श्रीरामको परम प्रिय हैं। 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' वे वैष्णवोंके परमाचार्य हैं। इसीसे गोस्वामीजीने कहा है— 'को जाँचिये शम्भु तजि आन। (विनय पत्रिका)

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

उत्तर० ४५।१-२

अर्थ—बतलाओ तो सही कि भक्तिके मार्गमें क्या परिश्रम है ? न योग करना है, न यज्ञ, न जप, न तप और न उपवास हो। स्वभाव सरल हो, मनमें कुटिलता न हो तथा सदा जो कुछ मिले, उसीमें सन्तुष्ट रहे।

भक्ति-मार्गमें कोई परिश्रम नहीं है क्योंकि दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य ये चार भाव ही प्रेमा भक्तिके माने गये हैं। भगवानको स्वामी, सखा, पुत्र, पति आदि किसी आत्मीयके रूपमें स्वीकार कर लेना, उनकी स्मृति बनाये रखना भक्ति है। स्मरण बना रहे—बस, और स्मरण करनेके लिए तो कोई परिश्रम करना नहीं पड़ता।

यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा-ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग हैं। सबसे अधिक परिश्रम साध्य साधन योग है। इसीसे योगका नाम पहिले लिया गया। कलियुगमें तो योगके मार्गपर चलनेमें असाध्य रोगोंके ही होनेकी सम्भावना अधिक रहती है क्योंकि जिसका कभी स्वप्नमें भी वीर्यपात न हुआ हो, योगका ठीक अधिकारी वही है। ब्रह्मचर्य—स्खलनसे स्नायु दुर्बल हो जाती हैं। प्राणायाम, मुद्रा आदिमें स्नायु-मंडल पर अत्यधिक खिंचाव पड़ता है। यदि स्नायु दुर्बल हैं तो अधिक खिंचावसे उनमें विकृति आती है। प्राणायामादिके कारण आज कल उन्माद, दमा, हार्नियाँ आदिके रोग युवकोंको होते देखनेमें आये हैं। योगका पारंगत गुरु मिलना भी इस समय दुष्कर है।

मख-यज्ञ योगकी अपेक्षा कम श्रम-साध्य है; किन्तु उसमें भी पर्याप्त श्रम होता है। परिश्रमके साथ यज्ञके लिये द्रव्य भी अपेक्षित है।

निर्धन व्यक्ति यज्ञ नहीं कर सकता। इस युगका साधन यज्ञ भी नहीं है। यज्ञके लिये सब पवित्र सामग्री चाहिये। आज तो प्रत्येक वस्तुमें मिलावट चलने लगी है। घृत, रंग, औषधि, वस्त्र, चांदी आदि यज्ञकी कोई सामग्री शुद्ध मिलना बहुत कठिन है। यज्ञ करानेवाले वेदज्ञ ब्राह्मण भी कठिनाईसे मिलते हैं।

जपको यहाँ भक्तिसे पृथक साधन करके लिया गया है, इसलिये यहाँ जपका अर्थ मन्त्र-जप है, नाम-जप नहीं है। मन्त्र जपमें भी कम परिश्रम नहीं होता। कलियुगमें मन्त्र-जप द्वारा सिद्धि प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। स्नानादिसे शुद्ध होकर, अंगन्यास करन्यासादि सम्पूर्ण न्यास करके तब जप किया जाता है। कम से कम ६ घन्टे प्रति दिन जप किया जाय तो दो-ढाई वर्षमें मन्त्रका एक पुरश्चरण पूरा होता है। यदि प्रारब्धका प्रति-बन्धक बलवान हुआ तो एक पुरश्चरणसे कोई लाभ प्रत्यक्ष नहीं होता। मन्त्रकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये कितने कितने पुरश्चरण करने होंगे कोई कह नहीं सकता। अधिक से अधिक इक्कीस पुरश्चरण करने पड़ सकते हैं। इतना श्रम है मन्त्र-जप में। साथ ही मन्त्र ऋणी-धनी आदि होता है। उसके अनेकों संस्कार करने पड़ते हैं। किसे किस मन्त्रका जप करना चाहिये, यह ठीक निर्णय करके उस मन्त्रकी पूरी विधि बता देनेवाले मन्त्र सिद्ध गुरु मिलने अत्यन्त कठिन हैं। इसलिये मन्त्र-जप भी इस युगका साधन नहीं।

'तप-उपवासा' तपस्या और उपवास भला इस युगके मानवसे कहाँ हो सकते हैं। पंचाग्नि तापना, जाड़ोंमें कंठ पर्यन्त जलमें खड़े रहना, महीनों एक पैरसे खड़े रह कर जपादि करना आदि तप इस युगमें केवल पुस्तकोंमें लिखी बातें हैं। पंचाग्नि तापने जैसे कुछ तपोंको कुछ साधु करते भी हैं तो वह एक तपका नाम करना मात्र होता है। पूरी विधिका निर्वाह प्रायः नहीं हो पाता। कलिमें जब कि प्राण अन्नगत हैं, वर्षोंके निर्जल उपवासकी बात व्यर्थ है। एक दिन किसी एकादशी-शिवरात्रिका निर्जल व्रत कोई करले—वही बहुत माना जाता है।

ये योग-यज्ञ, जप-तप तथा उपवास इस युगके साधन नहीं हैं। इस

युगमें इनके द्वारा मुक्ति प्राप्त करना अशक्यप्राय है। जब ये सम्भव थे, तब भी इनमें पर्याप्त -परिश्रम पड़ता था। लेकिन भक्ति मार्गमें इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस कलियुगमें तो भक्ति ही एकमात्र आश्रय है।

'सरल सुभाउ न मन कुटिलाई।'

भक्तिके लिये आवश्यक है कि मनमें कुटिलता न हो। स्वभाव सरल-सीधा हो। मर्यादा पुरुषोत्तमने ही कहा है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ सुन्दर० ४३।५

सरल स्वभावका अर्थ यह नहीं है कि चित्तमें दोष हों ही नहीं। लेकिन चित्तमें जो दोष हों, उन्हें बाह्याचरणसे, शब्दजालसे छिपानेकी चेष्टा न हो। जैसा भीतर है, अपनेको वैसा ही बाहर प्रगट करे। मनमें तो नाना प्रकार की वासनाएँ हैं और प्रगट करता है अपनेको संयमी सदाचारी, लोभहीन, साधु, विरक्त आदि, यह मनकी कुटिलता है—पाखंड है। जिसमें दम्भ है, 'कपट छल छिद्र' है वह प्रभुको पा नहीं सकता। लोग उसे भले महापुरुष, महान सन्त मान कर पूजें, भले वह बहुत प्रवीण लेखक या उद्भट विद्वान वक्ता हो; किन्तु है वह नारकी प्राणी। भगवान् उससे दूर हैं। वह रोने, मूर्च्छित होने आदिका नाटक चाहे जितना करे, भक्तिसे वह कोसों दूर है।

'जथा लाभ संतोष सदाई।'

जो कुछ स्थिति प्राप्त हो उसीमें सदा सन्तुष्ट रहे। भक्तका मुख्य लक्षण है सरल स्वभाव एवं नित्य सन्तुष्ट। वर्तमान स्थिति कितनी भी कष्टकर; अभावपूर्ण, अपमान जनक हो, वह उसमें केवल शान्त-स्थिर ही नहीं रहता पूर्ण सन्तुष्ट रहता है। प्रत्येक स्थितिमें शांत स्थिर तो सभी विवेकशील धीर पुरुष रहते हैं; किन्तु भक्त तो उस स्थितिमें प्रसन्न रहता है। वह स्थिति बदल जावे, ऐसी कामना उसके मनमें नहीं होती।

भगवान सर्वज्ञ हैं, अतः हम किस दशामें हैं, यह उन्हें प्रतिक्षण पता है। वे सर्वसमर्थ हैं, अतः जब चाहें तब उस स्थितिको बदल सकते हैं। वे हमारे सुहृद हैं, हितैषी हैं, अतः हमको कष्टमें पड़े रहने देना उन्हें प्रिय हो नहीं

सकता। इतनेपर भी जब रोग, शोक, वेदना, अभाव, अयश आदि हमें मिलते हैं तो इसका यही अर्थ है कि हमारे परम हितैषी प्रभु उनमें हमारा कोई बड़ा हित देखते हैं। उन दयामयने हमारे मंगलके लिये यह विधान किया है। इस प्रकार प्रभुकी असीम दया, उनका मंगल विधान प्रत्येक स्थितिमें भक्त देखता है। सदा सभी स्थितिमें—जो स्थिति प्राप्त हो उसीमें—वर्तमानमें वह पूर्ण सन्तुष्ट हो सकता है।

मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ।। उत्तर० ४५।३

अर्थ—मेरा सेवक होकर (जो दूसरे) मनुष्योंसे (कुछ भी) आशा करे तो (तुम्हीं) बताओ (उसमें मेरा) विश्वास क्या है।

हम सब अधिकांश दूसरे मनुष्योंकी ही आशा करते हैं। मनुष्योंकी तो दूर पापकी आशा करते हैं, पापपर भरोसा विश्वास करते हैं। मुखसे भगवान्की बात भले की जाय, भगवान्पर विश्वास हमें कितना है, यह हम स्वयं समझ सकते हैं।

व्यापारमें झूठ बोले बिना काम नहीं चलता। न्यायालयमें तो कुछ झूठ बोलना ही पड़ता है। इस प्रकार आज जो सब कहीं झूठ, छल, ठगी, धूर्तता आदि चल पड़ी है, वह क्या है? वह है पापपर विश्वास करना। झूठ न बोलनेसे ग्राहक चला जायगा, मुकदमा बिगड़ जायगा या इसी प्रकार की हानियाँ आपको दीखती हैं, आपको छल, कपट, मिलावट, चोरबाजारी, घूंसखोरी आदिके सम्बन्धमें ऐसे तर्क सूझते हैं—आज अधिकांश लोगोंकी यही अवस्था है, इसका अर्थ यही है कि न प्रारब्धपर विश्वास रहा और न परमात्मा पर। विश्वास तथा भरोसा रह गया पाप पर।

प्रारब्धमें जो लाभ, जो यश है उसे कोई रोक नहीं सकता, कोई छीन नहीं सकता। प्रारब्धमें जो हानि, जो कष्ट, जो अयश है, उसे भी कोई रोक नहीं सकता, कोई दूर नहीं कर सकता। यह परम सत्य है; किन्तु कहां विश्वास है मनुष्यको इस सत्य पर। वह तो मोहवश पाप करता है, फल तो वही होना है, जो प्रारब्धानुसार होना है; किन्तु पापका भार वह बढ़ाता जा रहा है।

प्रभुके विश्वासकी बात तो प्रारब्धके विश्वाससे कहीं प्रबल है। हमारे प्रभु सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, हमारे परम हितैषी, अपार दया सागर हैं

और हम सदा उनके सम्मुख हैं। ऐसे प्रभुका जो दास है, उसे असत्य, छल या अन्य किसी पापका आश्रय क्यों लेना पड़ेगा। वह क्यों किसी हानिसे डरेगा। यह तो स्पष्ट है कि प्रभु उसके मंगलके लिए जो हानि या कष्ट उसे देना ठीक मानते हैं, केवल वही हानि और कष्ट उसे मिलेंगे। वे प्रभु के मंगल विधान हैं. वे उसके लिए भगवत्प्रसाद हैं। उनको छोड़कर दूसरी हानि, दूसरे कष्ट त्रिभुवनमें कोई उसे दे नहीं सकता।

घूस, चोरबाजारी, असत्य, वस्तुओंकी मिलावट, झूठी गवाही, अन्यायपूर्ण मुकदमें, चाटुकारी आदि पाप केवल इसलिये बढ़ गये हैं कि लोगोंका प्रारब्ध तथा परमात्मापर विश्वास नहीं रहा है।

जो भगवद्भक्त हैं, त्रिलोकीके स्वामीका दास है, वह किसी अन्यसे कभी भयभीत नहीं हो सकता। संसारके मनुष्य या अन्य प्राणी हैं किस गणनामें, मृत्यु भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। वह विनम्र होता है, सबका सम्मान करता है, सबकी सेवा करता है; किन्तु चाटुकारी नहीं करता। किसीकी सेवा या प्रशंसा इस आशासे नहीं करता कि वे उसका अमुक काम कर देंगे या उसे अमुक सहायता दे देंगे। उसका नित्य सहायक न कृपण है, न अनुदार है। उस परमोदार, असीम करुणा वरुणालयके रहते मनुष्यकी क्या आशा करना।

केवल लोकमें ही नहीं, परलोकमें भी वे प्रभु ही सहायक हैं। जैसे-तैसे सांसारिक लाभके लिए दूसरोंकी आशा करते हैं। वैसे ही पारलौकिक लाभके लिए दूसरोंकी आशा करते हैं। लौकिक लाभके लिए भी केवल मनुष्योंकी ही नहीं, देवताओंकी आशाकी जाती है। लोग मन्त्र, अनुष्ठान आदि करते रहते हैं।

भगवान्ने यहाँ 'नर आसा' की ही बात कही है; किन्तु किसी भी कामना या उद्देश्यकी पूर्तिके लिये आराध्यको छोड़कर दूसरे देवताओंका पूजन, भजन, अनुष्ठान यह तो बतलाता ही है कि आराधकमें अपने आराध्य-की उदारता, कृपा, सर्वशक्तिमत्ता आदि पर विश्वासकी और निर्भरताकी कमी है।

भगवान् अपार दयामय हैं। वे जो देनेमें हमारा लाभ नहीं समझते, वह नहीं देते। जो वे करुणावरुणालय नहीं दे रहे हैं, वह कोई मनुष्य देगा?

कितनी दुराशा, कितना अज्ञान है मनुष्य का । मायाका यही प्रभाव है कि माया मोहित मानव इतने स्पष्ट सत्यको समझकर भी नहीं समझ पाता ।

लोग भटकते हैं—कोई संत मिल जायँ, कोई सिद्ध महापुरुष मिल जायँ और वे हमारा उद्धार कर दें ।' ऐसे लोग प्रायः दम्भियों द्वारा ठगे जाते हैं । मैं संतोंके अकल्पनीय प्रभावको अस्वीकार नहीं करता; किन्तु सन्त मिलते हैं परमात्माकी प्रेरणासे, उनकी इच्छा से भटकनेसे वे नहीं मिला करते । सन्त उद्धार करते हैं उसका जो प्रभुपर आश्रित है । क्योंकि वे प्रभुके क्रीड़ा-यन्त्र हैं । 'कोई कुछ कर दे' की आशा लिये भटकनेवाले संतसे लाभ नहीं उठा पाते ।

गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी निष्ठाका स्वरूप स्पष्ट किया है और प्रत्येक भगवद्भक्तकी निष्ठाका स्वरूप यही होना चाहिये—

बनै तौ रघुवर ते बनै, बिगरै तौ भरपूर ।
तुलसी औरनि तें बनै, वा बनिवेमें धूर ।।

इस लोकमें और परलोकमें यदि कुछ बनता है, कोई श्रेय होता है तो वह हमारे परमप्रिय परमोदार आराध्यके द्वारा बने । वे जो कुछ बनाना चाहें, वह बने । यदि उनका आश्रित रहनेसे कुछ बिगड़ता हो, कोई हानि होती हो तो भरपूर बिगड़े । सर्वनाशका भी स्वागत । लेकिन दूसरोंका आश्रय लेकर ही जो बन सकता हो, उस बननेमें धूलि पड़े । नहीं चाहिये ऐसा बनना ।

जहाँ ऐसा दृढ़ विश्वास है, वहीं सच्ची भक्ति है । जो श्रीरघुनाथजी-का सेवक होकर और किसी-की-किसीकी भी, चाहे वह धनी हो, अधिकारी हो, विद्वान हो, सिद्ध हो, तपस्वी हो—किसीकी आशा करता है तो उसमें अपने प्रभुकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अपार दया और प्राणिमात्रकी हितैषितापर विश्वास नहीं है, विश्वासकी कमी है उसमें, यह तो मानना ही पड़ेगा ।

बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई । एहि आचरन बस्य मैं भाई ।।
बैर न बिग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ।।
अनारंभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ।।

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा।।
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।।

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानन्द संदोह।।

— उत्तर० ४५-४-४६

अर्थः—भाइयो ! कथाको बहुत-बढ़ाकर क्या कहूँ, मैं इस आचरणके वश रहता हूँ। (किसीसे) शत्रुता न करे, विरोध न करे, (किसीकी) आशा न करें, (और किसीका) भय न करें। उसके लिये सब दिशाएँ सदा सुख-मय हैं। कोई प्रारम्भ न करें, घर न बाँधें, मानरहित, निष्पाप, क्रोध रहित, निपुण ज्ञानसम्पन्न हो, सज्जनोंकी समीपतामें सदा प्रीति रखें, (संसारके) विषय, स्वर्ग तथा मोक्षको (भी) तृणके समान (हेय) माने, भक्तिके पक्षमें आग्रह रखें, किन्तु शठता न रखे, सब दुष्टताओंको दूर कर दें, मेरे गुण समूह तथा नाममें लगा रहे, ममता घमंड तथा मोहसे रहित हो (तब) ऐसी परमानन्द राशि स्थितिके सुखका तो वही अनुभव करता है।

श्रीरघुनाथजी अब भक्तके लक्षण बतला रहे हैं वे कहते हैं—'बहुत बढ़ा कर कथा क्या कहूँ, मैं इस आचरणके बसमें हूँ, जो ऐसा आचरण करता है वह परम स्वतन्त्र, सर्वेश्वरेश्वर मुझे भी वशमें कर लेता है।

'अहं भक्तपराधीनो'—श्रीमद्भागवत, ९।४।६३

'बैर न बिग्रह' किसीसे शत्रुता-लड़ाई नहीं। बैर और बिग्रहमें कुछ अन्तर है, इसीसे दोनों शब्द आये हैं ! बैर यह भाव है और बिग्रह उस भावकी क्रिया है। मनमें द्वेष है तब तक बैर है और मनका द्वेष जब बाहर गाली-गलौज, मारपीट, मुकदमा-पंचायत आदिके रूपमें आ गया तो बिग्रह प्रारम्भ हो गया। किसीसे झगड़ा, लड़ाई आदि न की जाय और मनमें भी किसीके प्रति द्वेष भाव न हो, यह बात 'बैर न बिग्रह' से कही गई।

'आस न त्रास' किसीसे कुछ पानेकी आशा नहीं और किसी के द्वारा कुछ हानि हो जायगी इसका भय नहीं। क्योंकि दूसरोंकी आशा करना और दूसरोंसे भय करना ये दोनों बातें अज्ञानसे होती हैं। प्रत्येक जीव अपने ही प्रारब्धके अनुसार सुख-दुख, हानि-लाभ, यश-अपयश पाता है।

कोई किसीको प्रारब्धके विपरीत न कुछ हानि पहुँचा सकता और न लाभ। जो हानि या लाभ, सुख या दुख, निन्दा या प्रशंसा मिलती है, वह अपने ही प्रारब्धका परिणाम है। दूसरे लोग उसमें केवल निमित्त बनते हैं। वे निमित्त न बने तो और कोई निमित्त बनेगा। परिणाम तो वह होना ही है। फिर दयामय सर्वज्ञ सर्वसमर्थ परमोदार प्रभु सर्वत्र हैं। वे जो सुख, लाभ, यश आदि हानिकर समझ कर नहीं देना चाहते, उसकी इच्छा करना ही अनुचित है और उनकी उपस्थितिमें उनकी इच्छाके विपरीत कोई हमारी हानि करनेमें समर्थ है नहीं। ऐसी अवस्थामें अन्यकी आशा या किसीसे भी भय क्यों होना चाहिये। भक्त तो नित्य सन्तुष्ट तथा नित्य निर्भय होता है।

'सुखमय ताहि सदा सब आसा।'

यह फल है। किसीसे द्वेष नहीं, झगड़ा नहीं, किसीसे कुछ पानेकी आशा नहीं, अतः कोई अमुक लाभ नहीं पहुँचावेगा, आशंका भी नहीं इतनेपर भी कुछ लोग अकारण सज्जनोंके शत्रु होते हैं। उन्हें दूसरोंकी हानि करके, दूसरोंको कष्ट पहुँचा कर सुख मिलता है। लेकिन विश्वके समस्त क्रूर प्राणी मिलकर भी प्रारब्ध या भगवदिच्छाके विपरीत किसी को कष्ट पहुँचाने या उसकी कोई हानि करनेमें असमर्थ हैं। भगवदिच्छा प्राप्त कष्ट स्वागत करने योग्य है। अतः कहीं किसीसे भय नहीं। 'ज ऐसा है, उसको सदा सब दिशाएँ सुखमय हैं। क्योंकि दुःख तो असन्तो या भयसे होता है और ये दोनों उसमें हैं नहीं।

'अनारंभ' अनारम्भ और अनिकेतपर टीकाकारोंने बड़ा जोर लगाय है। कोई 'अनारंभ अनिकेत' का अर्थ कर्मत्यागी संन्यासी करता है और को इनका अर्थ अनासक्त करता है। लेकिन इतनी खींचतान अनावश्यक जान पड़ है। अनारम्भका अर्थ है अपनी ओरसे योजना बनाकर कोई भी कार्य प्रारम्भ करने वाला। आरम्भ वह करता है जिसमें कामना होती है। व कामना अपने सुखके लिये, सुयशके लिये या लोकहितके लिये भी सकती है। ध्यान रखना चाहिये कि लोकहितके नामपर भी अधिकांश अपने यश, अपने प्रचार, अपने हितकी कामना ही अन्तरमें रहा कर है। भक्तके हृदयमें ऐसी कोई कामना नहीं होती। अपना हित उसने प्र

के चरणोंमें छोड़ दिया है और लोक कल्याणका ठेकेदार वह बन नहीं सकता, क्योंकि लोक उसकी दृष्टिमें होता नहीं। उसकी दृष्टिमें 'सीयराम-मय सब जग' है और इतनी उच्च दृष्टि न भी हुई तो जगत उस लीला-मयका रंगमंच है। यहाँ वह प्रभु जो सर्वसमर्थ है, नाटक कर रहा है। नाटकके सब प्रिय एव अप्रिय दृश्य उसीकी प्रेरणासे ही उपस्थित हो रहे हैं।

यहीं यह समझ लेनेकी बात है कि अनारम्भका अर्थ निष्क्रिय नहीं है। अनारम्भका अर्थ केवल यह है कि अपनी ओरसे कोई योजना बनाकर कोई कार्य वह प्रारम्भ नहीं करता। लेकिन जो कोई शुभ-शास्त्र सम्मत कार्य उसके सम्मुख आ जाता है, उसे वह प्रभुका कार्य समझकर पूरे उत्साहसे करता है। उदाहरणके लिये वह कोई संस्था प्रारम्भ नहीं करता; किन्तु जो संस्थाएँ चल रही है, दूसरोंके द्वारा प्रारम्भ होती हैं, उनका कार्य यदि शुभ है, लोक-हितकर है, शास्त्र-सम्मत है और ऐसे किसी कार्य-में उसका सहयोग अपेक्षित है तो अपनी शक्ति एवं सुविधाके अनुसार वह सहयोग देता है।

थोड़ेमें भक्त जैसे वर्तमान स्थितिमें सन्तुष्ट रहता है, न भूतके लिये पश्चाताप करता, न भविष्यकी चिन्ता, वैसे ही वह वर्तमान कार्यको ही महत्व देनेवाला होता है। उसे कोई योजना नहीं बनानी कोई प्रारम्भ नहीं करना। उसके सम्मुख जो वर्तमान कार्य है, वह कार्य चाहे जितना तुच्छ या महान हो, उसीको वह भगवानकी सेवा, अपना कर्तव्य एवं प्रधान कार्य मानता है। इसलिये कोई पिछला कार्य पूर्ण नहीं हुआ, अमुक संस्था या उद्योग जिसे उसने योग दिया सफल नहीं हुई, अमुक कार्य आगे कैसे प्रगति करेगा, अमुक संस्था या उद्योग चलना ही चाहिये, कहीं वह असफल न हो, आदि चिन्ताएँ उसको स्पर्श नहीं किया करतीं। कार्य प्रभुका है, वे उसे आगे चलावें या समाप्त कर दें। वह तो अपने वर्तमान कर्तव्य को ठीक निष्पन्न करके सन्तुष्ट रहता है।

'अनिकेत' अनारम्भके समान अनिकेतका अर्थ भी बहुत खींचा गया है। कुछ टीकाकारोंका मत है कि वह गृहत्यागी विरक्त होता है। कुछके मतमें घरमें रहकर भी वह घरसे अनासक्त होता है। अनिकेतका सीधा अर्थ यह है कि वह स्वयं कोई भवन, कुटिया आदि नहीं बनवाता।

घरमें गृहस्त रूपमें रहे या कुटिया या मठमें उसे अपना नहीं मानता। उसमें 'ममत्व' नहीं रखता।

'गृहं शरीरं मानुष्यं' 'शरीरं गृहमित्याहुः' इन वचनोंको भी ध्यानमें रखना ही चाहिये। इनको ध्यानमें रखते हुए अनिकेतका अर्थ है शरीरकी भी ममता-आसक्तिसे रहित।

'अमानी' अहंकार रहित अथवा सम्मानकी इच्छा न करने वाला। 'सबहि मानप्रद आपु अमानी।' दूसरोंका सम्मान करनेवाला; किन्तु स्वयं सम्मान न चाहने वाला। सम्मानकी इच्छा सबसे प्रबल इच्छा है। मनुष्य घर-द्वार, परिवार, छोड़ देता है; किन्तु मान पानेकी इच्छा नहीं जाती कौपीन-धारियोंमें भी यह बद्धमूल देखी जाती है। यशके लिये लोग प्राण तक दे देते हैं। इसीलिये बैर, विग्रह, आशा, त्रासके त्याग एवं अनारम्भ, अनिकेत कहनेके पश्चात् अमानी कहा गया। उन सबका त्याग करते हुए अन्तमें यशेच्छाका भी त्याग कर देना है।

'अनघ' अमानीके पश्चात् यह शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। बहुतसे निर्लज्ज पामर पुरुष होते हैं जिन्हें लोक निन्दाका भय नहीं होता। जिनको मान-अपमानका ध्यान नहीं रहता। जो कुत्सित-कर्म करके गौरव बुद्धि करते हैं। जिसमें सम्मान पानेकी इच्छा नहीं, वह कुपथपर चलता होगा— चल सकता है ? कोई क्या कहेगा, इस आशंकासे सत्पुरुष पापसे बचे रहते हैं। लेकिन जो लोकनिंदाका भय नहीं करता, वह पुण्य-पापसे उदासीन हो जायगा, ऐसी बात भक्तके विषयमें नहीं है। वह अमानी होकर भी अनघ रहता है। वह सावधानीपूर्वक पापोंसे बचा रहता है। सर्वथा निष्पाप होता है वह भगवान्‌के नामपर, भक्तिके नामपर जो दम्भपूर्वक नाना प्रकारसे इन्द्रिय तृप्ति करते हैं 'परधन तथा परदार' पाना चाहते हैं, वे तो नारकी प्राणी हैं। उनका वेश गृहस्थ हो या साधु, वे भक्तिसे बहुत दूर रहते हैं।

'अरोष' बैर-विग्रहके त्यागकी बात पहिले कही जा चुकी है। यहाँ कहा जा रहा है कि भक्तमें क्रोध होता ही नहीं। उसमें रोषका भाव ही नहीं रह जाता। वह पापी पर भी क्रोध नहीं करता। जब सब जगत 'सीय राम मय' है, तो वह क्रोध किसपर करेगा। ऋषियों तथा महापुरुषोंके

क्रोधका वर्णन शास्त्रोंमें है। उनमें वह क्रोध भगवान्‌की मंगलमयी इच्छासे किसीके मंगलके लिये प्रगट हुआ था, यह बात वहीं स्पष्ट प्रतीत हो जायगी यदि उस घटनापर ध्यान दिया जाय। ऐसे उदाहरणोंसे कोई अपने क्रोध-का समर्थन करे तो यह अपराध ही होगा। बात-बातपर गाली देनेवाला, लाठी-या चमटा उठानेवाला भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता।

'दच्छ बिग्यानी' भगवद् भक्तमें कार्यनिपुणता तथा प्रतिभा दोनों होती हैं। वह न अपटु होता और न मूर्ख। जो इस ज्ञान धनका किंचित् कृपा प्रसाद भी प्राप्त कर चुका, उसमें अज्ञान रह कहां सकता है। प्रत्येक क्रिया करनेको सहज पटुता तथा कार्यमें लग जानेकी शक्ति उसमें होती है। साथ ही उसकी बुद्धि सत्वगुणमयी होनेसे निर्मल होती है। वह सम्यक् निर्णय करनेमें समर्थ होता है।

दूसरा भाव दक्षका है कि भक्तमें न आलस्य होता और न प्रमाद वह प्रत्येक कार्य सावधानी तथा श्रमपूर्वक करता है। इसी प्रकार विज्ञानी-का भाव है कि भगवत् कृपासे बिना श्रवण-मनन निदिध्यासनके ही उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त रहता है। वह ज्ञानसे रहित रह नहीं सकता। अनेक अपठित सन्त इसके उदाहरण हैं।

'प्रीतिसदा सज्जन संसर्गा' अनारम्भ, अनिकेत होकर भी भक्तका स्वभाव होता है कि वह सदा सत्पुरुषोंका संसर्ग चाहता है। सत्संगमें उनका प्रेम रहता है। कहीं कोई अपेक्षा न होनेपर भी वह चाहता है कि उसे सत्पुरुषोंका संग प्राप्त होता रहे।

'तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा।' सब सांसारिक विषय सुख, स्वर्गके सुख और मोक्ष भी उसके लिये तृणके समान उपेक्षणीय हैं। इनमेंसे किसी-को कामना ही उसके हृदयमें नहीं हुआ करती।

'भगति पच्छ हठ' उसमें दृढ़ आग्रह होता है। भक्तिके पक्ष में। पुस्तकोंमें कुछ लिखा हो, लोग कुछ कहते हों; किन्तु भक्ति करनी चाहिये, इस सम्बन्धमें उसे कभी सन्देह नहीं होता। भक्तिके लिये वह हठी होता है। भक्तिका विरोध करनेवाली किसी बातको वह स्वीकार नहीं कर सकता।

'नहिं सठताई' लेकिन उसमें शठता नहीं होती वह योग, ज्ञान आदि मार्गोंका विरोध करता नहीं फिरता। वह दूसरे मार्गसे चलनेवालोंका अनादर नहीं करता। उन्हें तिरस्कृत नहीं करता। वह स्वीकार करता है कि वे भी मार्ग हैं—उचित मार्ग हैं। उनसे भी परम-पद मिलता है। उनपर चलने वाले आदरणीय हैं। अपना मार्ग भक्ति ही है।' इस हठको रखते हुए दूसरे भी इसीपर चलें और ऐसा न करें तो उन्हें अज्ञानी, भ्रान्त या तिरस्कार योग्य माना जाय ऐसी शठता भक्तमें नहीं होती।

'दुष्ट तर्क सब दूर बहाई।' जितने श्रुति-स्मृतिपुराणसे असम्मत तर्क हैं, वे दुष्ट तर्क हैं। अपने साधन मार्गके विपरीत जो तर्क है, वह भी दुष्ट तर्क है। ऐसे दुष्ट तर्कों–कुतर्कोंको वह दूर बहा देता है। उन्हें सर्वथा छोड़ देता है। उनका समाधान पानेका या दूसरोंके दुष्ट तर्कोंका समाधान करनेका वह प्रयत्न नहीं करता। देवर्षि नारदने भक्तिसूत्रमें कहा है—

वादो नावलम्ब्यः ॥ (७४)
बाहुल्यावकाशात्……… (७५)

बाद-विवादमें नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि वह बढ़ जायगा, ऐसी सम्भावना है। अतः भक्त कुतर्क करनेवाले लोगोंसे दूर रहता है। वह केवल श्रद्धालु एवं उचित-सुतर्क करनेवालोंके साथ ही चर्चा करना स्वीकार कर सकता है।

'गत ममता मद मोह।' उसमें न ममता होती, न अहंकार होता, न मोह होना। यहाँ तक प्रभुने सब निषेधात्मक बातें बतलायी। केवल एक बात कही कि सत्संगमें सज्जन संसर्गमें भक्तकी प्रीति होती है। वह स्वयं क्या करता है, यह अंतमें बताया।

'मन गुन ग्राम नाम रत' उसके पास और कुछ काम नहीं। वह तो अपने आराध्यके गुण ग्राम-अनन्त अपार गुणोंके स्मरण, चिन्तन, गायन तथा उनके परम मधुर नामके जप-कीर्तनमें लगा रहता है।

यह सब करनेसे होता क्या है? 'परानंन्दसन्दोह' तब जो अवस्था प्राप्त होती है, वह परमानन्दमयी है। उस स्थितका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। 'ताकर सुख सोई जानै।' क्योंकि वह आनन्द अनुभवकी ही वस्तु है।

यह जीवनमें ही परमानन्दमयी स्थिति प्राप्त करनेका ऐसा साधन पुरुषोत्तमने बताया है कि जो इस अवस्थाको प्राप्त कर लेता है वह उन साकेताधीश, निखिल ब्रह्माण्ड-नायकको भी अपने वशमें कर लेता है।

[उपसंहार]

सुनत सुधासम बचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के॥
जननि जनक गुर बन्धु हमारे। कृपा निधान प्रान ते प्यारे॥
तनु धनु धाम राम हितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी॥
असि सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ। मातु पिता स्वारथ रत ओऊ॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
सबके बचन प्रेम रस साने। सुनि रघुनाथ हृदयँ हरषाने॥
निज-निज गृह गए आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥

उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानन्द घन रघुनायक जहँ भूप॥

उत्तर० ४६।१-४७

अर्थ—श्रीरामजीकी अमृतके समान वाणी सुनकर सबने उन कृपा-धामके श्रीचरण पकड़ लिये (और बोले) हे कृपा निधान, (आप) हमारे माता-पिता, गुरु, बन्धु तथा प्राणोंसे भी प्रिय हैं। श्रीराम! आप शरीर, धन, सम्पत्ति (के समान) हितैषी हैं और सब प्रकारसे शरणागतके दुख को दूर करनेवाले हैं। तुमको छोड़कर दूसरा कोई ऐसी शिक्षा नहीं दे सकता। माता-पिता भी (अपने) स्वार्थमें लगे रहनेवाले होते हैं। हे असुरों-के नाशक इस संसारमें अकारण उपकार करनेवाले दो ही हैं, एक आप और दूसरे आपके सेवक (अन्यथा) संसारमें सभी अपने स्वार्थके मित्र हैं। प्रभो! स्वप्नमें भी (कोई) परमार्थ (का विचार) नहीं (करता) है। (इस प्रकार) सबकी प्रेम रससे पूर्ण बातें सुनकर श्रीरघुनाथजी हृदयमें प्रसन्न हुए। प्रभुकी आज्ञा पाकर उनके सुन्दर उपदेश का (परस्पर) वर्णन करते हुए (सब लोग) अपने-अपने घर गये। (शंकर जी कहते हैं) पार्वती!

अयोध्यामें रहनेवाले स्त्री-पुरुष नित्य कृतार्थ हैं, जहाँ सच्चिदानन्दघन (साक्षात्) ब्रह्म श्रीरघुनाथजी नरेश हैं।

अर्थ विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल मुख्य-मुख्य शब्दोंपर कुछ विचार कर लेना है। श्रीरामकी वाणी, उनका उपदेश श्रोताओंको 'सुधासम' प्रतीत हुआ। उसे सुनकर सबने उन कृपाधामके चरण पकड़ लिये। 'सबनि' कौन ? क्योंकि श्रीरघुनाथजीके बुलानेपर 'गुरु द्विज पुरवासी सब आए' थे ! इनमें 'गुर द्विज' ने भी चरण पकड़े, ऐसा अर्थ करना अनर्थ कहा जायगा। उपक्रममें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रभुने गुरुदेव तथा ब्राह्मणोंको उपदेशका साक्षी रहनेके लिये बुलाया है। 'सुनहु सकल पुरजन मम बानी' कहकर उन्होंने केवल पुरवासी प्रजा को ही सम्बोधित किया है। अतः 'सबनि गहे पद कृपाधामके' इसमें 'सबनि' का अर्थ सब पुरवासी जन ही हैं।

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव-देव॥"

यह प्रार्थना प्रायः की जाती है। अयोध्याके पुरजन भी यही कह रहे हैं—'जननि जनक गुर बन्धु हमारे।' तथा 'तनु धन धाम राम हित-कारी।' जिसकी कृपासे शरीर, सम्पत्ति और निवास मिला' वही तो–इन रूपोंमें भी है। फिर शरीर, सम्पत्ति और भवन जो सुविधा, जो सुख देते हैं, वैसा ही नहीं—उससे भी अधिक हित श्रीराम करते हैं। अतः 'तनु धन धाम' से भी अधिक 'राम हितकारी' हैं। वे 'सब विधि प्रनतारति हारी' तो प्रसिद्ध ही हैं। प्रणत क्लेश नाशन तो उनका नाम ही ठहरा।

'अस सिख तुम, बिन देइ न कोऊ।' ऐसी शिक्षा भगवान्, भगवान्-के भक्त तथा गुरु ही दे सकते हैं और वे एक स्वरूप हैं। अन्यथा 'त्रिकाण्ड विषयाः वेदाः।' 'परोक्ष वादो वेदोऽयं' 'परोक्ष प्रिया हि देवाः' 'परोक्ष वादिनः ऋषयः' आदि वाक्य बतलाते हैं कि वेद, देवता तथा ऋषि-मुनि पारमार्थिक शिक्षा देते भी हैं तो परोक्ष रूपसे—उस शिक्षाको गुप्त रख कर बोलते हैं। इस प्रकार सरल, स्पष्ट शिक्षा तो परम करुणामय भक्तवत्सल प्रभु ही देते हैं।

'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ।' मात-पिता बालकके हितैषी हैं;

किन्तु उनमें भी स्वार्थ रहता है। वे भी चाहते हैं कि बालक बड़ा होकर उनकी सेवा करें। उनको सुख पहुँचावे। इसलिये स्वार्थरहित शिक्षा वे भी नहीं दे पाते।

'हेतु रहित जग जुग उपकारी।' 'संसारमें बिना कारण' बिना किसी स्वार्थ के दूसरेका भला करनेवाले केवल दो हैं, भगवान् तथा भगवान्के भक्त। ये आत्माराम, पूर्ण काम, नित्य तृप्त, सर्वसे निरपेक्ष हैं। लेकिन इनका स्वभाव है दूसरेका मङ्गल करना। जैसे अग्निका स्वभाव उष्णता देना है, वसे ही इनका स्वभाव सदा दूसरेका हित करना है।

'स्वारथ मीत सकल जग माहीं।' भगवान् तथा उनके भक्तोंको छोड़कर संसारमें सभी स्वार्थ के मित्र हैं। जब तक जिसका जिससे स्वार्थ है, तब तक वह उसका मित्र है, स्वजन है, हितैषी है। स्वार्थ सिद्ध होनेकी आशा न होनेपर स्वजन भी उपेक्षा कर देते हैं। श्रुति कहती है—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' अरे सबके लिये सब (स्त्री-पुत्र, परिवारादि) प्रिय नहीं होते। अपने स्वार्थ के लिये सब प्रिय होते हैं। जगतमें तो स्वार्थ का ही व्यवहार तथा सम्बन्ध है। यह परमार्थ स्वप्नमें भी नहीं है। मायाके क्षेत्रमें परमार्थ कैसा।

इस प्रकार सभी पुरजन प्रेम पूर्ण बातें कह रहे थे। श्रीराघवेन्द्रमें उनका सच्चा प्रेम था। उनकी बातें सुनकर श्रीरघुनाथजी हृदयसे प्रसन्न हुए। आज कल प्रसन्नता प्रगट करना, किसीसे मिलनेपर हँसकर मिलना शिष्टता मानी जाती है। मनमें उससे मिलकर क्षोभ है, यह भाव भी है कि यह कब हटे; किन्तु ऊपरसे हँसते हैं, व्यक्त करते हैं कि 'आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई।' यह कपट प्रदर्शन वहां नहीं था। श्रीरघुनाथ 'हृदय हरषाने' हृदयसे प्रसन्नता हुई।

क्योंकि सब लोग 'रघुनाथ बोलाए' एकत्र हुए थे, अतः 'आयसु पाई' आज्ञा पाकर 'निज-निज गृह गवने' लेकिन चुपचाप नहीं चले गये। गये वे 'बरनत प्रभु बतकही' प्रभुने जो कुछ उन्हें सुनाया था, उसका परस्पर वर्णन करते हुए गये। जो कुछ उन्होंने सुना था, उसका परस्पर कथन करते हुये मनन करते वे जा रहे थे।

यह तो प्रायः होता है कि लोग जब किसी प्रवचन, नाटक, कथा आदिसे घरोंको लौटते हैं तो मार्गमें परस्पर वक्ताके प्रवचन, नाटकके दृश्य, कथावाचककी शैलीकी चर्चा करते हैं। उसकी प्रशंसा या निन्दा करते हैं। यहाँ 'प्रभु बतकही' के साथ एक विशेषण है 'सुहाई' इस स्थान पर 'सुहाई' का ठीक अर्थ है 'प्रिय लगी।' प्रभुकी बातें उन्हें सुहाई थीं- प्रिय लगी थीं। उन प्रिय लगी बातोंका वे परस्पर वर्णन करते हुए घर गये।

उपक्रममें कह आये हैं कि यह उपदेश मर्यादा पुरुषोत्तमने अयोध्याके पुरजनोंको निमित्त बनाकर विश्वके समस्त मानवको दिया है। सदाके लिये उन नित्य शासकका यह अनुशसन है। नहीं तो अयोध्याके लोगोंको उपदेश देनेकी आवश्यकता ही नहीं थी। वे तो पहिलेसे परम भक्त थे। यही बात भगवान् शंकरने उपदेशके अन्तमें भगवती उमासे कही है।

भगवान् शंकरने भगवती पारवतीको सम्बोधित करके कहा है कि ये अयोध्यावासी नर-नारि तो कृतार्थ रूप हैं। ये स्वयं कृतार्थ हों, इतनी ही बात नहीं है। कृतार्थता स्वयं इनके रूपमें मूर्तिमान है। इनका दर्शन, स्मरण, चिन्तन करके दूसरे प्राणी कृतार्थ हो जाते हैं।

इनके मध्यमें ब्रह्म—नित्य निर्गुण, निराकार, अवांङ्मनस गोचर श्रुति प्रतिपाद्य परमतत्त्व जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, इनके प्रेमके कारण वह घनीभूत होकर मूर्तिमान है। वही इनका भूप है। उसीके द्वारा ये शासित-संचालित हैं। इन्हें भला उपदेशकी क्या आवश्यकता है।

लेकिन इनसे अधिक उत्तम अधिकारी भी मिल नहीं सकते। नियम यह है कि जब बहुत अधिक लोगोंको उपदेश करना होता है तो उनमें जो प्रमुख होता है, विद्या, विनय. श्रद्धादिमें सर्वश्रेष्ठ होता है, उसीको आगे करके, उसीको निमित्त बनाकर सबको उपदेश किया जाता है। यहाँ श्रीरघुनाथजीने भी अपनी अयोध्याकी 'कृतारथ रूप' प्रजाको निमित्त बनाकर विश्वके समस्त मानवोंके लिये उपदेश किया है।